संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण

(संस्कृत नाटकों में वनस्पतियां)

—डॉ० कृष्णकुमार

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या....122336........

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं । इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण

(संस्कृत नाटकों में वनस्पतियां)

डा० कृष्णकुमार आयुर्वेदालङ्कार
(एम० ए० साहित्याचार्य,
पी० एच० डी०, डी० लिट्)

मयंक प्रकाशन
कनखल (हरिद्वार)

संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण
(संस्कृत नाटकों में वनस्पतियां)

डा0 कृष्णकुमार

प्रकाशक :
मयंक प्रकाशन
मिश्रा गार्ड्न, हनुमानगढ़ी
कनखल (हरिद्वार)

संस्करण : 1999

मूल्य : रु0 321.00

मुद्रक :
मनोज कुमार
278, गोविन्दपुरी,
हरिद्वार 249401

FLORAL ENVIRONMENT OF SANSKRITA DRAMA

(FLORA IN SANSKRITA DRAMA)

Dr. : KRISHNA KUMAR

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् ।
रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
अथर्ववेद १२.३.१५

दिव्य गुणों के साथ वनस्पति, राक्षसों और पिशाचों का नाश
करती हुई हमारे पास आ गई है ।

लेखक की अन्य रचनायें :

(1) भारतीय संस्कृति के आधार तत्व
(2) अलंकारशास्त्र का इतिहास
(3) वैदिक साहित्य का इतिहास
(4) संस्कृत साहित्य का इतिहास
(5) पं० अम्बिकादत्त व्यास—एक अध्ययन
(6) ऋक्सूक्त-सुधाकर
(7) ऋक्सूक्त-संग्रह
(8) चतुर्वेद-सूक्त-संग्रह
(9) वैदिकसूक्त-संग्रह
(10) विषविज्ञान
(11) भोजन के लिए खनिज और विटामिन
(12) संस्कृत-नाटक-सूक्ति-तरङ्गिणी
(13) छन्दोऽलङ्कारप्रकाश
(14) प्राचीन कथायें
(15) गढ़वाल के प्रमुख तीर्थ
(16) गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख
(17) उदयनचरितम् (संस्कृत उपन्यास)
(18) ध्वन्यालोक-व्याख्या
(19) अभिज्ञानशाकुन्तलम्-व्याख्या
(20) प्रतिमानाटकम् व्याख्या
(21) प्रियदर्शिका व्याख्या
(22) हर्षचरितम् पञ्चम उच्छ्वास
(23) किरातार्जुनीयम् प्रथम सर्ग
(24) रघुवंश द्वितीय सर्ग
(25) रघुवंश त्रयोदश सर्ग
(26) कुसुमलक्ष्मी–व्याख्या
(27) शिवराजविजय–व्याख्या
(28) अस्ति-कश्चिद्-वागर्थीयम् (संस्कृत नाटक)
(29) संस्कृत नाटकों का भौगोलिक परिवेश
(30) **Descriptive** Catalogue of Sasnkrit Manuscripts. Part i
(31) " " " part ii
(32) " " " part iii
(33) अस्ति-कश्चिद्-वाग्विशेषः
(34) संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्
(35) चौरपञ्चाशिका
(36) मेघदूतानुशीलनम्
(37) अन्तःस्रावी ग्रन्थियां
(38) गढ़वाल के प्राचीन अभिलेख

प्राक्कथन

मानव के साथ वनस्पतियों का अविभाज्य और नित्य सम्बन्ध है : इनके विना मनुष्य का अस्तित्व भी नहीं रह सकता । जीवन में इनकी उपयोगिता एवं अनिवार्यता निश्चित रूप से है । वनस्पतियां भी वृक्ष, लता क्षुप आदि रूपों में मिलती है। इन सबसे मनुष्य कुछ न कुछ प्राप्त करता है।

प्रकृति में असंख्य वनस्पतियां है । वनों में, स्थल और जल में स्वतः ही उत्पन्न होने वाली तथा खेतों ओर वाटिकाओं में मानव द्वारा उत्पन्न की गई वनस्पतियों से भोजन, वस्त्र, निवास, चिकित्सा, प्रसाधन, अलङ्करण आदि के लिए उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते है।

प्राकृतिक परिवेश के प्रति भावुक कवियों ने प्रकृति में उपलब्ध वनस्पतियों में वाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन किये थे । प्राचीन भारतीयों ने वनस्पतियों को अपने परिश्रम से खेतों और उद्यानों में लगाया । वैज्ञानिक अन्वेषण करके उनमें गुणवत्ता को प्रोन्नत किया । उनमें देवत्व का अनुभव होने से पूजन की परम्परा ने जन्म लिया । कवियों ने वनस्पतियों के अङ्गों और गुणों का सादृश्य मानव में अनुभव कर काव्यों में इनकीं अभिव्यञ्जना की । इनके सम्बन्ध में अनेक कवि–प्रसिद्धियों का आविर्भाव भी हुआ ।

सस्कृत के महाकाव्यों, लघुकाव्यों, गद्यकाव्यों, चम्पूकाव्यों, नाटकों आदि में वनस्पतियों के उल्लेख हैं । उनके रूप और गुणों का विशद वर्णन है । नाटकों के अभिनय प्रधान होने से उनका अधिक विस्तृत वर्णन तो नहीं है, परन्तु जो भी वर्णन है, वह रोचक है और यथार्थ को प्रस्तुत करता है । नाटककारों ने इनके विषय में संकेत द्वारा ही रोचक और विस्मयजनक तथ्य प्रस्तुत किये हैं । वैज्ञानिक साहित्य में वनस्पतियों के सम्बन्ध में जो विवरण हैं, उनके वे अनुरूप हैं ।

प्राचीन समय में वनस्पति विज्ञान बहुत विकसित हो चुका था । इस विषय पर अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना भी हुई । प्राचीन समय के भारतीय वनस्पतियों के विषय में प्रचुर ज्ञान रखते थे । न केवल खेतों-उद्यानों में उगने वाली वनस्पतियों को ही वे जानते थे अपितु वनों, जलाशयों और समुद्रों मे पाई जाने वाली वनस्पतियों से भी वे परिचित थे, एवं उनकी उपयोगिता को जानते थे । प्राचीन गृहनिर्माण पद्धति में इनका ध्यान रखा जाता था । घरों के बाहर तथा अन्दर छोटी-बड़ी वाटिकायें भी निश्चित होती थीं । वृक्षों का काटना पाप समझा गया था तथा उनको पुत्र तुल्य माना गया था ।

संस्कृत नाटकों में मानब जीवन के विविध पक्षों के क्रियात्मक ज्ञान के साथ ही प्रकृति में उपलब्ध वनस्पतियों का भी परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटक इस जानकारी के अच्छे स्रोत हैं। वनस्पतियों के सम्बन्ध में इनमें प्रचुर सामग्री है तथा इनका तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी है।

प्रस्तुत अध्ययन में भास (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०) से लेकर दिङ्नाग (दसवीं शताब्दी ई०) तक के नाटक लिये गये हैं। 1400 वर्षों की इस अवधि में भारतीय इतिहास में असेक उत्थान और पतन हुए। राजनीतिक परिवर्तनों के साथ सभ्यता–संस्कृति ने अनेक मोड़ लिए। परन्तु इन नाटकों के अध्ययन से विदित होता है कि भारतीय सभ्यता की मूल भावना इस सारी अवधि में वही बनी रही।

प्रस्तुत अध्ययन में प्राचीन साहित्य के वर्णनों के अनुसार वनस्पतियों के विवरण तो दिये ही गये हैं, आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य का भी इसमें प्रचुर उपयोग है। इनके विषय की परिचयात्मक, विज्ञानात्मक, तथ्यात्मक, काव्यात्मक, भावनात्मक तथा उपयोगितात्मक सामग्री यहां प्रस्तुत की गई है। इस प्रबन्ध में 182 वनस्पतियों का वर्णन हुआ है।

संस्कृत नाटकों से हमको प्राचीन वनस्पति विज्ञान के विकास का तथा वनस्पतियों के प्रति मानवीय भावनाओं के संवेदन का संकेतात्मक परिचय मिलता है। इससे इनके प्रति स्नेह और सुरक्षा की भावना भी उत्पन्न हुई है। वर्तमान युग के भौतिक तथा उपभोग प्रधान बातावरण ने वनस्पतियों के विनाश की भयानक स्थिति उत्पन्न कर दी है। वनस्पतियों की अनेक प्रजातियां लुप्त होकर उनके विनाश की आशंका उत्पन्न हो गई है। यदि इसी गति से विनाश होता रहा तो एक दिन सारी वनस्पतियां नष्ट हो सकती हैं। उस समय मानव का अस्तित्व भी बचा नहीं रहेगा।

प्रसन्नता का विषय है कि इस विभीषिका की ओर मनीषियों का और साथ ही सरकार का भी ध्यान गया है कि वनस्पतियों की सुरक्षा की जानी चाहिए। खेतों और वाटिकाओं की उन्नति और वनों की सुरक्षा की ओर जन–सामान्य की भी अभिरुचि हो, यह प्रस्तुत प्रवन्ध इस उद्देश्य में निश्चय ही सहायक होगा। इससे पर्यावरण की शुद्धि को भी प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

— **कृष्णकुमार**

भूमिका

वनस्पतियां मानव-जीवन के अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। मनुष्य ही नहीं, अपितु सभी प्राणियों का जीवन वनस्पतियों के बिना सम्भव नहीं है। प्रकृति की गोदी में उगने और बढ़ने वाली ये वनस्पतियाँ न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा ही बखेरती हैं, मानव को विविध उपयोगी सामग्रियां भी प्रदान करती हैं। वनस्पतियों से भोजन उपलब्ध होता है वस्त्रों के उपादान मिलते हैं और आवासों का निर्माण किया जाता है। इनसे रक्षात्मक उपकरण प्राप्त होते हैं। वनस्पतियां विविध प्रकार की विलास की सामग्रियों को प्रदान करतीं हैं। इनसे मनुष्य विविध ओषधियों को प्राप्त करके शारीरिक और मानसिक व्याधियों से छुटकारा भी प्राप्त करते हैं।

काव्यों का सृजन करने वाले कवि जहाँ विविध मानवीय भावनाओं और सामाजिक परिवेश से प्रभावित हुये थे, उन्होंने प्राकृतिक परिवेश का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था,। प्रकृति में बढ़ने वाली वनस्पतियों को देख कर उन्होंने उनके प्राकृतिक सौन्दर्य का समावेश तो अपनी रचनाओं में किया ही था, इनकी उपयोगिता की ओर भी संकेत किया था। विविध प्रकार के वृक्षों, क्षुपों, लताओं, वल्लरियों, तृणों और जलज वनस्पतियों में उन्होने काव्यात्मक सौन्दर्य की अनुभूति को प्राप्त किया तथा उनकी भौतिक उपयोगिता का भी दर्शन किया। उन्होंने इन वस्तुओं को जिस रूप में देखा और समझा, उसी रूप में इनका अपने काव्यों में वर्णन किया।

मानवीय भावनाओं का और उसके परिवेश की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम काव्य है। साहित्य का सृजन करने वाले कवि अपनी रचनाओं में काव्यप्रतिभा को अभिव्यक्त करने के साथ ही अपने युग की सांस्कृतिक विशेषताओं को भी प्रकट करते हैं तथा उनमे अपने युग के ज्ञान विज्ञान के विकास को भी स्पष्ट करते हैं। कवि इन तत्वों को जिस रूप में देखते हैं और अनुभव करते हैं, उसी रूप में उनका सन्निवेश अपने काव्यों में करते हैं। अत. युग विशेष की सांस्कृतिक परम्पराओं को समझने के लिए उस युग के साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

काव्य के मुख्य रूप से दो वर्ग किये जा सकते हैं— दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य को रूप या नाट्य भी कहा जाता है। वर्तमान समय में यह नाटक नाम से अधिक प्रसिद्ध है। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य मानवीय भावनाओं और सांस्कृतिक परम्पराओं की अभिव्यक्ति का अधिक शक्तिशाली तथा चित्ताकर्षक माध्यम है। इसको न केवल सुना और पढ़ा ही जा सकता है, अपितु आंखों से देखा और कानों से सुना भी जा सकता है। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा था कि नाट्य तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन करने वाला है। इसमें लोकवृत्तान्तों का अनुसरण

किया जाता है। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग और कर्म नहीं है, जो इस नाट्य में दृष्टिगोचर नहीं होता।

रूपकों की रचना का प्रारम्भ अति प्राचीन काल से हो गया था। वैदिक साहित्य में नाट्य-रचना के संकेत मिलते हैं। परन्तु सबसे प्राचीन नाटककार, जिनके नाटक हमको उपलब्ध होते हैं, महाकवि भास हैं। भास से लेकर वर्तमान समय तक किसी न किसी रूप में संस्कृत नाट्य-परम्परा प्रवर्तित रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से तथा अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से संस्कृत रूपकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1. भास से प्रारम्भ करके दसवीं शताब्दी तक के संस्कृत नाटक।
2. दसवीं शताब्दी के पश्चाद्वर्ती संस्कृत नाटक।

दसवीं शताब्दी तक भारत की गौरवमयी साँस्कृतिक परम्परायें अक्षुण्ण रहीं और विकसित होती रहीं, जो अनेक विदेशी आक्रमणों के अनन्तर भी स्थिर रहीं। परन्तु 12 वीं शताब्दी के लगभग के विदेशी आक्रमणों ने इस देश की गौरवमयी परम्पराओं का हनन करके संस्कृत साहित्य के विकास और रचना पर भी आघात किया। इस युग में रूपकों की परम्परा भी निहत हुई। अतः प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से दसवीं शताब्दी तक के नाटकों का अध्ययन अधिक उपयोगी है।

संस्कृत नाटकों का अध्ययन वनस्पतियों के सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी प्रदान करता है। इस युग के जन सामान्य का, मनीषियों का और विद्वज्जनों का वनस्पतियों के प्रति क्या दृष्टिकोण था और उन्होंने अपने जीवन में इनको किस सीमा तक उपयोगी बनाया था, इसका बहुत कुछ ज्ञान संस्कृत रूपकों से होता हैं। यद्यपि प्राचीन शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक ग्रन्थों से वनस्पतियो के सम्बन्ध में वहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है और जो वर्तमान लोक-जीवन में उपयोगी भी है, परन्तु लोक-जीवन की धारा को अभिव्यक्त करने के कारण नाटक उन वस्तुओं की क्रियात्मक उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं। इसके साथ ही वे वनस्पतियों के प्रति मानव-संवेदनाओं का भी बोध कराते हैं।

संस्कृत रूपकों से विदित होता है कि प्राचीन समय में वन-क्षेत्र के अन्तर्गत भूमि बहुत थी। हजारों मीलों तक विशाल वन विविध वनस्पतियों से भरे हुए थे। वनों में जलाशय भी थे, जिनमें जलज वनस्पतियां प्रभूत मात्रा में विद्यमान थीं। ये वनस्पतियां तथा जलाशय केवल वनों में ही नहीं थे, वाटिकाओं में भी होते थे। प्राचीन समय की भवन-निर्माण-कला में वाटिकाओं का बहुत महत्व था। परिस्थिति के अनुसार भवनों के निर्माण के साथ ही उनमें छोटी-बड़ी वाटिकायें बनाई जाती थीं

और उनमें जलाशय या बावड़ी भी अवश्य होती थी। इन वाटिकाओं को विविध वक्षों, क्षुपों, गुल्मों, लताओं, जलज वनस्पतियों आदि से सुशोभित किया जाता था। वनस्पतियों के प्रति भारतीय जनों का इतना अधिक स्नेह और आदर था कि उन्होंने इनमें देवत्व की कल्पना की। इनके प्रति सन्तान के समान व्यवहार करने का भी निर्देश दिया गया। कालिदास की शकुन्तला अपनी वाटिका के वृक्षों और लताओं को अपना भाई और बहन मानती है। पार्वती भी वृक्षों को घड़ों में जल भर कर उसी प्रकार सींचती है जैसे कि कोई माता अपने बच्चों को स्तन से दूध पिलाती है।

वनस्पतियों का प्रयोग आर्यजन विविध प्रकार से करते थे। इनमे यज्ञ करने के लिये समिधायें प्राप्त होती हैं तथा यज्ञ से सम्बन्धित विविध उपकरण बनते हैं। वनस्पतियों से भोजन पकाने के लिए: ईंधन, भवनों के निर्माण के लिए काष्ठ और रक्षात्मक सामग्रियों को बनाने के लिये लकडी उपलब्ध होती है। अरणी ओर शमी के काष्ठों को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती है। वनस्पतियों से प्राप्त रेशों से वस्त्र, डोरी, रस्सी आदि बनाई जाती हैं। कुसुम्भ आदि वनस्पतियों से रंगाई के साधन प्राप्त होते हैं। पत्र, पुष्प, फल, कन्द आदि का भोजन के लिए उपयोग होता है। विविध प्रसाधनों और अलंकारों के उपादान मिलते हैं। विविध वनस्पतियों का रोगहर भेषजों के रूप में भी व्यवहार होता है। वनस्पतियों से पर्यावरण की शुद्धता की रक्षा होती है।

संस्कृत रूपकों में वनस्पतियों की उत्पत्ति, वृद्धि पालन, स्वभाव आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी दी गई है। अनेक लोक-प्रसिद्धियां उनके सम्बन्ध में कही गई हैं। इनका यथार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है। उदाहरण के रूप में कुछ लोक-प्रसिद्धियां निम्न हैं :—

१- अशोक वृक्ष युवतियों के पादाघात से पुष्पित होता है।

२- बकुल वृक्ष युवतियों के मुख की मदिरा से विकसित होता है।

३- कुरवक वृक्ष के विकसित होने के लिए युवतियों द्वारा इसका आलिङ्गन किया जाना चाहिए।

४- तिलक वृक्ष पर तभी पुष्प आते हैं, जब युवतियों द्वारा इस पर कटाक्ष का प्रहार किया जाता है।

५- कल्पवृक्ष स्वर्गीय वनस्पति है तथा यह सभी कामनाओं को पूरा करता है।

आधुनिक युग में भौतिकवादी मानव ने अपने विलासमय लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वनों को ही नही, वाटिकाओं को भी अन्धाधुन्ध काटा है और वनस्पतियो का विनाश किया है। वनस्पतियों के विनाश की इस विभीषिका से आज का भौतिक-वादी वैज्ञानिक भी भयभीत हो गया है। इससे वस्तुतः मानव जाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है। अतः वर्तमान समय में एक ओर जहां कृषि और उद्यानों की

उन्नति के लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं, वहीं दूसरी ओर वनों के संरक्षण और वृद्धि के लिये भी प्रयास किये जा रहे हैं।

संस्कृत रूपकों में, जिनका कि अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है, १८२ वनस्पतियों के वर्णन उपलब्ध हुए हैं। रूपकों में इन वनस्पतियों के भौतिक उपयोगों की बात तो कही ही गई हैं, उनका प्रसाधनों औद आभूषणों के रूप में प्रयोग भी वर्णित है। इनके माध्यम से शरीर और स्वभावगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी की गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होने वाली वनस्पति विषयक सभी जानकारियों को देने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में— प्राचीन युग में वनों और वाटिकाओं की क्या स्थिति थी, वनस्पतियों का उपयोग किन कार्यों के लिए किया जाता था शृंगार–प्रसाधन के लिये वनस्पतियों की कितनी उपयोगिता थी, वनस्पतियों में मानवीय भावों की कौन-सी कल्पनाऐं थी तथा वनस्पति का मानव सौन्दर्य से सादृश्य किस प्रकार परिलक्षित होता था, वनस्पतियों के प्रति जन-सामान्य का धार्मिक दृष्टिकोण किस प्रकार का था तथा वनस्पतियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से किस प्रकार विचार किया गया था? इन प्रश्नों का उत्तर नाटकों के सन्दर्भ में देने का प्रयत्न किया गया हैं। इस सामान्य विवेचना के अनन्तर दूसरे खण्ड में १८२ वनस्पतियों का तुलनात्मक विवरण नाटकों के सन्दर्भ से तथा अन्य साहित्य से दिया गया है।

वनस्पतियों के इस विवरण का क्रम इस प्रकार है - नाटकों में प्रयुक्त वनस्पतियों के संस्कृत नाम, 'भावप्रकाशनिघण्टु' के अनुसार उसके संस्कृत पर्याय हिन्दी, अंग्रेजी और लैटिन नाम, आधुनिक वनस्पति विज्ञान के अनुसार वनस्पति का कुल (Family), 'भावप्रकाशनिघण्टु' के अनुसार वनस्पति का वर्ग, उन नाटकों के नाम जिनमें उस वनस्पति का वर्णन आया है, वनस्पति के उत्पत्ति–स्थान, काव्यात्मक विवरण और उपयोग।

प्रबन्ध में अन्तिम भाग में छः परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में उन नाटककारों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय है, जिनका अध्ययन इस ग्रन्थ में हुआ है। द्वितीय परिशिष्ट में सहायक और सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची है। तीसरे से छठे परिशिष्ट तक वनस्पतियों के क्रमशः संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और लैटिन नामों की वर्णक्रम के अनुसार अनुक्रमणिकायें दी गई हैं।

वनस्पतियों की विविध विशेषताओं को प्रकट करते हुए कुछ स्थलों पर पुनरावृत्ति परिलक्षित हो सकती है, किन्तु विविध स्थलों पर समान विषय आ जाने के कारण यह स्थिति स्वाभाविक है। विषय के स्पष्टीकरण के लिये यह आवश्यक भी है। अतः इसको दोष न मान कर गुण ही समझना चाहिए।

विषय-सूची

पष्ठ संख्या

द्वितीय खण्ड **९७ से ३७३**

वनस्पतियों के विवरण

परिशिष्ट :—

प्रथम-खण्ड

१. संस्कृत नाटकों के वन

संस्कृत नाटकों की वनस्पतियों का विशद परिचय देने के लिये यह आवश्यक है कि सबसे पहले उन वनों और उद्यानों का परिचय दिया जावे, जहाँ ये वनस्पतियाँ उगती हैं, बढ़ती हैं, पल्लवित होती हैं, कुसुमित होती हैं और फलित होती हैं। वन ईश्वरप्रदत्त प्राकृतिक समृद्धि है, अतः पहले उनका वर्णन करना समुचित होगा।

(क) वनों का महत्व—

प्राचीन काल में भारतवर्ष में जबकि जनसंख्या कम थी, वनस्पतियों की संख्या बहुत अधिक थी। भारतवर्ष में हजारों मीलों तक फैले विशाल वन थे, जिनमें असंख्य वनस्पतियाँ उगती थीं। इस देश के ऊँचे-नीचे पर्वत, मैदान, नदियों और समुद्रों के तटवर्ती प्रदेश धनी वनस्पतियों से भरे हुये थे। इनके सौन्दर्य और समृद्धि से यह देश स्वर्ग से भी अधिक सुखकर था। वनों से भारतीय जनों को स्वाभाविक रूप से स्नेह था। वनों का समूह और विशाल वन अरण्यानी कहलाते थे। आर्य ऋषियों ने इन अरण्यानियों में देवत्व की कल्पना की थी। 'ऋग्वेद' के अरण्यानी सूक्त (ऋग्वेद दशम मण्डल १४६ सूक्त) में देवमुनि ऐरम्मद ने वनों की सुन्दर प्राकृतिक सुषमा और उपयोगिता का वर्णन किया है। अरण्यानी वानप्रस्थियों के रहने के योग्य है। यहाँ चीं-चीं शब्द होते हैं, कहीं वीणाओं की ध्वनि होती है, कहीं शकटियाँ निकलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। कोई यहाँ लकड़ी काटता है, कोई गौ को पुकारता है और कोई सायं समय में प्रभु का आह्वान करता है। अरण्य में रहने वाले वानप्रस्थी किसी की हिंसा नहीं करते और स्वादिष्ट फलों का उपभोग करते हैं। यहाँ कृषि नहीं होती तो भी अञ्जन की गन्ध तथा प्राकृतिक खाद्य पदार्थ बहुत हैं। यह अरण्यानी मृगों की तो माता ही है। महिमाशालिनी इस अरण्यानी की स्तुति करनी चाहिये।

(ख) नाटकों के प्रसिद्ध वन और उनका सौन्दर्य तथा सम्पत्ति—

संस्कृत नाटककारों ने प्राचीन समय के अनेक वनों का उल्लेख किया है। महाभारतकाल में इन्द्रप्रस्थ के समीपवर्ती खाण्डव वन की बहुत प्रसिद्धि थी। यहाँ अर्जुन ने वन्य वस्तुओं को आहुत करके अग्नि को सन्तुष्ट किया।[1] कुरुक्षेत्र के प्रदेश

---

१. पृच्छाग्निं भुजगाहुतिप्रणयिन यस्तर्पितः खाण्डवे। दूत० १-२२॥

में घने जंगलों के होने के कारण इसको कुरुजांगल भी कहा जाता था और इस प्रदेश का शासक युधिष्ठिर था।[१] नर्मदा नदी को पार करके वेणुवन था। सम्भवतः यहाँ बांसों के घने वन रहे होंगे और इसी कारण इसको वेणुवन कहा गया होगा। वेणुवन से आगे नागवन था। यह वन श्रेष्ठ जाति के हाथियों के लिये बहुत प्रसिद्ध था। इसमें साल के वृक्ष भी बहुत थे। नागवन में नीलगज की उपस्थिति की बात सुन कर ही उदयन ने नर्मदा को पार करके वेणुवन में अपने परिजनों को ठहरा कर नागवन की ओर प्रस्थान किया था।[२] उसने घने सालवन के मध्य में इस हाथी को देखा था।

भारतीय धार्मिक साहित्य में नैमिषारण्य का बहुत महत्व है। प्राचीन समय में यहाँ घने वन थे और अनेक ऋषि अपने आश्रम बना कर यहाँ रहते थे।[३] 'कुन्दमाला' नाटक के अनुसार राम ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन इसी स्थान पर किया था। इस वन के मध्य में गोमती नदी बहती थी, जिसके तट पर कुश-कास तथा अन्य वनस्पतियाँ थीं। नदी के जल में कमल सुशोभित रहते थे।[४]

कालिदास ने गन्धमादन वन और कुमारवन का उल्लेख किया है। ये वन हिमालय पर्वत के क्षेत्र में थे। गन्धमादन वन अति रमणीय था और विविध विलासों की भूमि रहा था। उर्वशी के साथ पुरुरवा इसी वन में विलास-क्रीडा करने गये थे।[५] इसी के समीप कुमारवन था। यह कुमार कार्तिकेय की तपोभूमि थी और उनके प्रभाव से इस वन में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था।[६] गन्धमादन और कुमारवन विविध पशु-पक्षियों और वनस्पतियों से सुशोभित थे। वे वनस्पतियाँ विविध पुष्पों और नव किसलयों से अलंकृत रहती थीं। इनके मध्य विरह से पीडित हाथियों को घूमते देखा जा सकता था। हाथियों के खाने योग्य सल्लकी के पत्ते यहाँ बहुत थे। इन वनों में कल्पवृक्षों के पुष्पों पर भ्रमर गुंजार करते थे, पवन से कम्पित बांस गीत गाते थे और निचुल वृक्षों की मंजरियों के सहारे मोर नाचते थे।

---

१. युधिष्ठिरेणाधिष्ठितपूर्वे कुरुजांगले। मध्यम० पृ० २७-२८॥
२. नर्मदां तीर्त्वा वेणुवने कलत्रमावास्य नागवनं प्रयातो भर्ता।
प्रतिज्ञा० पृ० १५॥
३. नैमिषादयो महर्षयः॥ प्रतिमा० पृ० १३७॥
४. नलिनवनविकासैर्वासयन्ती दिगन्तान्
नरवर पुरतस्ते दृश्यते गोमतीयम्॥ कुन्द० ३-५॥
५. उर्वशी किल तं रतिसहायं राजानं··· ··· ··· ···गृहीत्वा गन्धमादनं विहर्तुं गता॥ विक्रम० पृ० २१३॥
६. विक्रम० पृ० २१६।

गन्धमादन और कुमारवन के चारों ओर हरे-भरे घास के मैदान थे। इनमें कन्दली के पुष्प खिले रहते थे और वीरबहूटियाँ घूमती थीं। जामुन और आम के वृक्षों पर मधुर स्वर में कूकती हुई कोकिलें इनके फलों का रस पीती थीं। यहाँ सरोवरों में क्रीडा करते हुये और मानसरोवर की ओर उड़ते हुये राजहंस दृष्टिगोचर होते थे। यहाँ पिंगल वर्ण के चक्रवाक दम्पती क्रीड़ा करते थे और पर्वतीय भूमि को खोद देने वाले कोल (सूअर) विचरण करते थे। ये वन हरिणों से सुशोभित थे, जहाँ इनके परिवार गार्हस्थ्य सुख का अनुभव करते थे। स्थान-स्थान पर पुष्पित कदम्ब, मन्दार और अशोक वृक्षों तथा विविध लताओं की शोभा विस्तृत थी।[१]

नाटकों में हिमालय पर्वत को घने वनों से आच्छादित दिखाया गया है। यहाँ पर्वतीय ऊँचे-नीचे क्षेत्रों में असंख्य प्रकार की वनस्पतियाँ और जन्तु होते हैं। वनों में देवदारु, सरल, शाल्मलि, कदम्ब, नागकेसर, अमलतास, लोध, अरणी, शमी आदि वृक्ष भरे हुये हैं; हिमालय को कवियों ने दिव्य औषधियों से भरा हुआ कहा है।[२]

दक्षिण वन वनस्पतियों का भण्डार था। 'हनुमन्नाटक' में यहाँ की वनस्पतियों का विशद चित्रण किया गया है। यहाँ पहुँचने पर सरल, माकन्द, बकुल, रसाल, प्रियाल, हिन्ताल, तमाल, कृतमाल, शाल्कलि, मालूर, शल्लकी, शिरीष, असन, शमी, शाक, शिंशपा, अशोक, चम्पक, सुरदारु, कोविदार, कर्णिकार, सिन्दुवार, निम्ब, जम्बू, उदुम्बर, करञ्ज, कदम्ब, शोभाञ्जन, बकुल, निचुल, करु, खर्जूर, बीजपूर, जम्बीर, वानीर, काश्मरी, नारंग, कर्मरंग कदली, चन्दन, लवली, धात्री, वट, कुजट, पाट, कक्कोल, चोल, भल्लातक, विभीतक, हरीतकी, आम्रातक्म, केतकी, कंकत, वैकंकत, मधूक, बन्धूक, जयन्ती, जपा, अश्वत्थ, कपित्थ तिन्तिडी, नागकेसर, मालती, मरुबक, लवंग, दमनक, जाती, तगर, शतपत्र, अगर आदि वनस्पतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।[३]

भवभूति ने भी दक्षिण वनों में होने वाली अनेक वनस्पतियों का उल्लेख किया है। यहाँ चन्दन, अश्वकर्ण, सरल, पाटला, बिल्व, कदम्ब, जम्बू आदि वृक्ष होते हैं।[४]

नाटककारों ने मलय पर्वत पर अवस्थित वनों का भी वर्णन किया है। यहाँ

---

१. विक्रम०—चतुर्थ अंक। २. मुद्रा० १-३।

३. हनू० पृ० ६८-७०॥

४. एताश्चन्दनाश्वकर्णसरलपाटलाप्रायतरुगहनाः परिणतमालूरसुरभयोऽरण्य-गिरिभूमयः स्मारयन्ति तरुणकदम्बजम्बूवनावनद्ध··· ··· ··· ···दक्षिण-रण्यभूधरान्। मालती० पृ० ३८०॥

सुपारी, काली मिर्च, चन्दन, इलायची और कक्कोल वृक्षों की बहुतायत है ।[१] समुद्र-तटवर्ती वनों में हिन्ताल, नारियल और सुपारी के वृक्ष बहुत होते हैं ।[२]

प्राचीन संस्कृत नाटकों के कथानक का आधार प्रायः 'रामायण' 'महाभारत' आदि अधिक रहे हैं, अतः इन नाटकों में इनसे सम्बन्धित वनों का ही वर्णन अधिक है। विन्ध्यारण्य के विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं । भारतवर्ष के उत्तरापथ और दक्षिणापथ का विभाजन विन्ध्य पर्वत करता है । इस पर्वत की भूमियों पर फैले हुये वन को विन्ध्य वन कहा जाता था । चित्रकूट को पार करके दक्षिण की ओर जाने पर विन्ध्य वन प्रारम्भ हो जाता है ।[३] यह वन अति प्राचीनकाल से ही बहुत भयानक और दुःसंचार रहा था । वन्य हिंस्र पशुओं और जंगली हिंसक जातियों के कारण इसमें प्रवेश करना भयप्रद था । यहाँ पर्वतों की उपत्यकाओं में हाथी घूमते थे, कन्दराओं में भालू रहते थे, कुंजों में सिंहों का भय था, तलहटियों में चीतों का आतंक था और वृक्षों पर बन्दर रहते थे । पगडण्डियों पर भीलों के चक्कर लगा करते थे ।[४]

विन्ध्य वन से दक्षिण की ओर जाने पर दक्षिण भारत के वनों का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता था । इसको दक्षिणारण्य या दक्षिणवन कहते थे ।[५] यह वन अनेक प्रकार के मृगों, हिंस्र पशुओं, भयानक पर्वतों, गह्वरों और वनस्पतियों से भरा हुआ था ।[६] दण्डकारण्य और जनस्थान इसी दक्षिणारण्य के ही भाग थे ।

रामायण युग से ही दक्षिणारण्य का बहुत महत्व रहा था । इस वन का विस्तार विन्ध्य वन से दक्षिण में कृष्णा नदी तक था । पश्चिम में यह विदर्भ तक[७] और पूर्व में छोटा नागपुर और कलिंग तक विस्तृत था । भवभूति के अनुसार चित्र-कूट से चल कर जनस्थान को पार करके दण्डकारण्य पहुँचते हैं । यहीं कुँजवान् पर्वत है । यहाँ दनुकबन्ध नामक राक्षस रहते हैं ।[८]

प्राचीन समय में दण्डकारण्य बहुत पवित्र माना जाता था । यहाँ अनेक तीर्थ थे और भक्त जन भगवान् की उपासना करते थे ।[९] अगस्त्य मुनि का आश्रम इसी

---

१. बालरा० १०-५४ ॥ २. पाद० श्लोक १६ ॥
३. उत्तर० पृ० ६६ ॥
४. बालरा० ६-१५ । ५. उत्तर० पृ० ६६ ।
६. महा० पृ० १७८ तथा पृ० १५६ ।
७. जे० आर० ए० एस० १८९४ पृ० १४२ ।
८. महा० पृ० १७९ ।
९. महा० पृ० ४६ ।

दण्डकारण्य में था । यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिये दूर दूर से शिष्यगण आया करते थे ।[१] मुरारि के समय में यह क्षेत्र राजा रामदेव के अधिकार में था ।[२]

जनस्थान दण्डकारण का ही एक भाग था ।[३] मुरारि ने दण्डकारण्य में सीता से जनस्थान की वनदेवता को प्रणाम कराया है ।[४] प्राचीन साहित्य के अनुसार इस वन में रावण ने अपने प्रतिनिधि खर को नियुक्त किया हुआ था ।[५] इस वन में ऋषियों के आश्रम थे और यह पंचवटी से लगा हुआ था ।[६] भास के अनुसार रावण ने सीता का अपहरण इसी वन से किया था ।[७]

पंचवटी का सम्बन्ध रामायणकालीन घटनाओं से बहुत रहा है । जनस्थान में पहुँच कर यहीं गोदावरी के तट पर राम की कुटी बनाई गई थी ।[८] वन की रमणीयता से मुग्ध होकर राम ने लक्ष्मण से कहा कि वे यहाँ कुटी बनावें ।[९] रावण ने सीता का अपहरण इस पंचवटी से ही किया था ।[१०] सम्भवतः यहाँ पाँच वट-वृक्ष रहे होंगे, जिनके कारण यह वन पंचवटी के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

कवियो ने दण्डारण्य, जनस्थान और पंचवटी की नैसर्गिक सुषमा का, यहाँ के जन्तुओं का और वनस्पतियों का मनोरम वर्णन किया है । दण्डकारण्य में गोदावरी के तट पर अनेक ऊँचे वृक्ष हैं । उनमें पुष्प खिलते हैं । जब हाथी इन वृक्षों के तनों से शरीर को रगड़ कर अपनी खुजली मिटाते हैं तो ये पुष्प गोदावरी में गिर कर मानो सरिता का पूजन करते हैं । वृक्षों की छालों में स्थित कीड़ों को वन्य पक्षी निकाल निकाल कर खाते हैं । वृक्षों पर बने हुये घोंसलों में कबूतर कूजन करते रहते हैं ।[११] ये वन कहीं तो हरी भरी वनस्पतियों से स्निग्ध और श्यामल हैं तथा कहीं रूखे

---

१. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथावदो वसन्ति ।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ।
उत्तर० २ ३ ।

२. धर्मासनाधिकारिणि रामदेवे । अनर्घ पृ० ३५६ ।

३. उत्तर० पृ० ६७, रघुवंश १२-४२, १३-२२ ।

४. भगवत्यो जनस्थानदेवता एषा वः परिचारिका सीता प्रणमति ।
अनर्घ० पृ० ३६६ ।

५. पश्यामि च जनस्थानं भूतपूर्वखरालयम् । उत्तर० २-१७ ।

६. आश्चर्य० २-१ । ७. प्रतिमा० पृ० १४६ ।

८. महा० पृ० १६९ । ९. आश्चर्य० २-१ ।

१०. अनर्घ० पृ० ३६५ ।

११. कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः
घर्मस्रंसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः । उत्तर० २-९ ।

और भयानक हैं। स्थान स्थान पर यहाँ झरनों की मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। अनेक तीर्थों और तपोवनों से ये पवित्र हो रहे हैं।[१] वनों में कही तो निस्तब्धता है और कही भयानक प्राणियों की गर्जनायें सुनाई देती हैं। कहीं सांप लेटे हुके फूत्कारों से अग्नि निकाल रहे हैं। कहीं अजगर पड़ा है तथा उसके बहते पसीने को गिरगिटें पी रहीं हैं।[२]

जनस्थान में घनी छाया वाले अनेक वृक्ष हैं, जहाँ मृगों के झुण्ड विश्राम करते हैं।[३] नदी के किनारे वानीर की पुष्पित लताओं के पुष्प मद से भरे पक्षियों के बैठने से स्वच्छ जल में बिखर जाते हैं। तट पर उगे जामुन के वृक्षों से पके जामुन के फल नदी में टप टप कर गिरते हैं। चारों ओर भालुओं के गम्भीर शब्द हो रहे हैं तथा हाथियों द्वारा मसली गई सल्लकी लताओं की मधुर गन्ध फैल रही है।[४] पर्वतों पर मयूरों की केका ध्वनि गूंज रही है तथा वनों में मत हरिण घूम रहे हैं। नदियों के तटों पर सुन्दर वञ्जुल लतायें, घने कदम्ब तथा निचुल के वृक्ष हैं।[५]

जनस्थान में ही प्रस्रवण पर्वत के शिखर पर गृध्रराज जटायु का निवास-स्थान था। यहाँ के सुन्दर श्यामल वनों की छाया गोदावतरी के जल में प्रतिबिम्बित होती थी और पक्षी कूजन करते थे।[६] जनस्थान के समीप ही क्रौंच पर्वत था। यहाँ बांस के घने जंगल थे। पवन के बहने पर सछिद्र बांसों के मध्य में से शब्द उत्पन्न होता था, जो उल्लुओं के घूं घूं शब्द के समान प्रतीत होता था। इस शब्द को सुन

---

१. उत्तर० २-१४।

२. निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकरजगरस्वेदद्रवः पीयते। उत्तर० २·१६।

३. उत्तर० पृ० १६२।   ४. उत्तर० २.२०-२१।

५. एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरास्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि नीरन्ध्रनीपनिचुलानि सरित्तटानि।
उत्तर० २-२३।

६. अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वासस्तस्याधस्ताद् वयमपि-
रतास्तेषु पर्णोटजेषु।
गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्रीः रन्तः कूजन्मुखरशकुनो
यत्र रम्यो वनान्तः।
उत्तर० २-२५।

कर भयभीत कोवे चुप हो जाते थे। यहाँ चन्दन के वृक्षों पर सर्प भी लिपटे रहते थे। जब मयूर शब्द करते थे तो वे भयभीत होकर बिलबिलाने लगते थे।[1]

(ग) वनों में निवास एवं जन्तुओं तथा वनस्पतियों का पालन—

संस्कृत नाटककारों ने वनों में तपस्वियों, ऋषियों और वानप्रस्थियों के निवास करने का रोचक वर्णन किया है। यहाँ गृहस्थ तपस्वी भी रहते थे। इनकी जीविका के लिये वनों से भोजन, वस्त्र और निवास की वस्तुयें प्राप्त हो जाती थी। वनों से प्राप्त वस्तुओं से सन्तोष करके वे भगवान् का भजन करते हुये अपना समय व्यतीत कर देते थे। कवियों ने दण्डकारण्य, जनस्थान और नैमिषारण्य का इस रूप में विशद वर्णन किया है। किन्हीं कारणों से गृहों से निर्वासित व्यक्ति भी वनों का आश्रय लेते थे। जैसे कि राम-सीता-लक्ष्मण १४ वर्षों तक वनों में रहे थे।

वनों में रहते हुये सहृदय जन वन्य पशुओं को पालते थे तथा वहाँ की वनस्पतियों को उगाते भी थे। उनके लिये वन्य पशु और वृक्ष अपने बान्धवों के समान ही थे।[2] कालिदास और भवभूति की कृतियों में यह तथ्य भलीभाँति अभिव्यक्त हुआ है। कालिदास की शकुन्तला का पालतू मृग उसके लिये पुत्र के समान था। कुश के खाने के कारण जब मृग का मुख उसकी नोक से छिल जाता था तो वह उस क्षत पर इंगुदी का तेल लगाती थी। वह मृग को गोदी मे बिठा कर श्यामाक धान्य खिलाती थी। मृग भी शकुन्तला को छोड़ता नहीं था।[3] हरिणियाँ जब मृग-शावकों को जन्म देती थीं, तो वह अति प्रसन्न होती थी। शकुन्तला वनस्पतियों को सगे भाई-बहनों के समान स्नेह करती हुई उनका उनका सिंचन करती थी।[4] वनस्पतियों पर प्रथम बार पुष्प आने पर उत्सव मनाती थी।[5] शकुन्तला को तपोवन से विदा होते देख कर हरिणियों ने घास खाना छोड़ दिया था, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया था और लतायें पाण्डु पत्रों के रूप में आँसू गिराने लगी थीं।[6]

---

१. गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक—
स्तम्बाडम्बरभूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।
एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितैः—
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः। उत्तर० २-२९।

२. यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवा मे। उत्तर० ३'८।

३. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषि च्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।
अभिज्ञान० ४-१४

४. ममापि सोदरस्नेह एतेषु। अभिज्ञान० पृ० १५०।

५. आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः। अभिज्ञान० ४-९।

६. उद्गलितदर्भकवलाः मृग्यः परित्यक्तनर्तनाः मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः। अभिज्ञान० ४-१२।

भवभूति ने सीता द्वारा पंचवटी में वन्य पशु-पक्षियों के तथा तरुओं के पालन करने का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। सीता ने एक हस्तिशावक को पुत्र के समान पाला था। उसको वह अपने हाथों से सल्लकी के पल्लव खिलाया करती थी।[१] अपने इस पुत्र को युवा तथा सशक्त देखकर सीता और राम दोनों को ही अति प्रसन्नता होती है।[२] सीता ने एक मयूर भी पाल रखा था।[३] उसको वह तालियाँ बजा कर नचाया करती थी।[४] सीता ने कदम्ब वृक्ष का भी रोपण किया था। इसको पाल पोस कर उसने बड़ा किया था।[५]

(घ) वनदेवता और वृक्षदेवता—

प्राचीन मनीषियों और कवियों को वनों के प्रति इतना अधिक स्नेह, श्रद्धा और तदात्म्य भाव था कि उन्होंने वनों के लिये तथा वृक्षों के लिये अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना कर ली थी।

वन की अधिष्ठातृ देवता का उल्लेख महिला देवता के रूप में प्राप्त होता है। वह वन की वनस्पतियों और जन्तुओं को अपने अनुशासन में रखती है। वनों में जाने वाले व्यक्ति उसको प्रणाम करते थे और उससे आशीर्वाद की कामना करते थे।[६] वन के वृक्षों में वृक्षदेवता की कल्पना हुई थी। विशेष रूप से आम्र, वट और अश्वत्थ (पीपल) वृक्षों को देवताओं का ही प्रतिरूप मान लिया गया था। इनमें आम्र को ब्रह्मा वट को शिव और अश्वत्थ को विष्णु रूप माना गया था। ये वनदेवता और वृक्ष देवता प्रसन्न होकर भक्त जनों और स्नेह करने वालों को मनचाहा वर तथा उपहार प्रदान कर सकते थे।

कालिदास और भवभूति ने गंगा-यमुना के संगम पर श्याम-वट का उल्लेख किया है।[७] इससे सीता ने कुशलता की याचना की थी।[८] सौभाग्य की वृद्धि और अक्षुण्णता को बनाये रखने के लिये वटसावित्री व्रत का आयोजन भारतीय महिलायें

---

१. सीतादेव्याः स्वकरकलितः सल्लकीपल्लवाग्रैः
अग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत। उत्तर० ३-६।

२. अहो ईदृशो मे पुत्रकः संवृत्तः (सीता)। उत्तर० पृ० २१४।
सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता (राम)। उत्तर० ३-१५।

३. उत्तर० ३-१८। ४. उत्तर० ३.१९।

५. कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः प्रियतमया वर्धितोऽयमासीत्।
उत्तर० ३-२०।

६. एषोऽञ्जलिर्विरचितो वनदेवतानाम्। कुन्द० १-२४।

७. वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम। उत्तर० ६४।

८. त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रसिद्धः।
रघुवंश १३-३३।

अति प्राचीन काल से करती रही हैं।[१] वनदेवताओं में अलौकिक शक्ति की कल्पना भी की गई थी, परन्तु यह अन्य देवताओं से कम थी।[२]

कवियों ने वनदेवताओं द्वारा उपहार देने और सत्कार करने का भी उल्लेख किया है। शकुन्तला की विदाई के समय वृक्षों तथा वनदेवताओं ने विभिन्न उपहार दिये थे।[३] वनदेवता का कर्त्तव्य था कि वह वन में आने वाले अतिथियों का वन्य सामग्रियों से उचित सत्कार करे, जैसा कि वासन्ती ने आत्रेयी का किया था।[४] वनदेवता में मानवीय संवेदना होने की भी कल्पना की गई है। दण्डकारण्य की वनदेवता वासन्ती का सीता के प्रति सखीभाव था। राम द्वारा सीता के निर्वासन के समाचार को पाकर वह अत्यधिक व्यथित हुई थी।[५]

२. उद्यान

प्राचीन काल में वनस्पतियों के प्रति अत्यधिक अनुराग और आकर्षण के कारण भारतीय जन प्राकृतिक वन्य वनस्पतियों से ही सन्तुष्ट नहीं रहे थे, अपितु उन्होंने अपनी भवन-निर्माण-पद्धति और नगर-विन्यास की योजनाओं में उद्यानों को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। उद्यानों के विना नगरों की शोभा और गृहों का निर्माण अधूरा ही था। भारतीय तपोवनों में भी उद्यान अनिवार्य रूप से लगाये जाते थे। समृद्ध घरों और राजकीय प्रासादों में उद्यानों की देखभाल के लिये उद्यानपालक या उद्यानपालिकायें नियुक्त की जाती थीं।[६] इनमें सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध होता था।[७] उद्यानों के सम्बन्ध में संस्कृत नाटकों के परिप्रेक्ष्य में निम्न तथ्यों का अवलोकन करना समुचित होगा।

---

१. कर्पूर० पृ० २१८। २. उत्तर पृ० २०८।

३. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभः लाक्षा रसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः। **अभिज्ञान० ४ ५।**

४. यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः
सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।
तरुच्छायातोयं यदपि तपसां योग्यमशनं
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः। **उत्तर० २-१।**

५. उत्तर० पृ० १३७। ६. नागा० पृ० १०४।

७. अदेवमातृकगृहारामाभिरामश्रियः। अनर्घ० पृ० २८४।

(क) नगरोद्यान—

नगरों के विन्यास की योजनाओं में उद्यानों का विशेष महत्व था। नगरों के बाहर की भूमि (उपकण्ठ) में नागरिक विहार के लिये जाया करते थे।[१] यहाँ स्वच्छ भूमि पर फलदार वृक्ष और मध्य में जलाशय होते थे। विश्राम के लिये सुन्दर स्थान भी बनते थे। ये उद्यान सार्वजनिक भी हो सकते थे और व्यक्तिगत भी। सार्वजनिक उद्यानों में सर्वसाधारण जन मनोविनोद के लिये जा सकते थे। परन्तु राज्यपरिवार के सदस्यों और महिलाओं के वनविहार के निमित्त निकल जाने पर वहाँ सर्वसाधारण जनों का प्रवेश निषिद्ध हो जाता था। उस समय सुरक्षा की भी समुचित व्यवस्था की जाती थी।[२] नगरों के बाहर यदि पर्वतीय प्रदेश है, तो उसको उद्यान लगाने का अच्छा स्थान माना गया था। कुलशेखर वर्मन् ने द्वारिका[३] और इन्द्रप्रस्थ के[४] बाहर इसी प्रकार के उद्यानों के वर्णन किये हैं।

शूद्रक ने उज्जयिनी के बाहर पुष्पकरण्डक नाम के जीर्ण उद्यान का वर्णन किया है। सम्भवत: यह सार्वजनिक उद्यान ही था, यद्यपि शकार इसको विलास क्रीड़ा के निमित्त राजा द्वारा दिया गया कहता है।[५] परन्तु 'मृच्छकटिक' के अंक में इस उद्यान में चारुदत्त को आठवें अंक में शकार को विहार करते हुये, दिखाया गया है। उद्यान में भ्रमण करते हुये चारुदत्त ने इनके व्यावहारिक वर्णन का चित्र खींचा है। यहाँ वृक्ष व्यापारियों के समान, पुष्प विक्रेय वस्तुओं के समान और मधुकर कर उगाहने वाले राजपुरुषों को समान है।[६] इस उद्यान में एक पुराना कुआँ है। यहाँ एक पुष्करिणी भी है, जहाँ बैठ कर वस्त्र धोये जा सकते हैं।[७] वाटिका के चारों ओर प्राकार है तथा इसमें प्रवेश करने के लिये मार्ग बना हुआ है।[८] यह वाटिका विविध फलों और पुष्पों वाले वृक्षों से सुशोभित है। ये वृक्ष लताओं से आलिंगित हैं।[९] पुष्पों के भार से वृक्षों की शाखायें झुक गई हैं। वृक्षों के नीचे पुष्प बिखरे पड़े

---

१. मुद्रा० पृ० १७८। २. अवि० पृ० ४-६।

३. सुभद्रा० पृ० ४०। ४. सुभद्रा० पृ० १६३।

५. भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम्। मृच्छ० पृ० ३४४।

६. वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषा विचरन्ति॥ मृच्छ ७-१॥

७. मृच्छ० पृ० २७६।

८. मृच्छ० पृ० २९०।

९. अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः कठोरनिष्यन्दलतोपवेष्टिताः।
मृच्छ० ८, ७।

है। वृक्षों की शाखाओं पर लटके हुये बन्दर कटहल के फल के समान प्रतीत होते हैं।[1]

नगरों के बाहर मन्दिरों के साथ ही उद्यान लगाये जाते थे। इनमें जन-सामान्य बिना किसी रुकावट के जा सकते थे। 'मालतीमाधव' में शिवमन्दिर के साथ कुसुमाकरोद्यान[2], कामदेव के साथ कामदेवोद्यान[3] तथा मदनोद्यान और नगर-देवता के मन्दिर के साथ उद्यानवाटिका[4] का उल्लेख किया गया है। मदनोद्यानों में आयोजित मदनोत्सवों में प्रेमी प्रेमिका मिल सकते थे। इन उद्यानों में विविध पुष्प खिले होते थे। भवभूति ने वर्णन किया हैं कि मालती की प्रतीक्षा में माधव अपने मित्र मकरन्द के साथ कामदेवोद्यान में जाकर बैठ गया। यह उद्यान चम्पक पुष्पों के मकरन्द की सुगन्धि से आमोदित हो रहा था। यहाँ बकुल (मौलसिरी) के वृक्ष भी पुष्पित हो गये थे। माधव ने इन पुष्पों को चुन कर माला बनाना प्रारम्भ कर दिया।[5] नगरदेवता की उद्यान वाटिका में सुपारी के वृक्ष पान की लताओं से आलिंगित थे, कक्कोल के फलों को वह चहचहाते पक्षी खाते थे तथा चारों ओर मातुलुंग वृक्षों की बाढ थी।[6] नगर के उद्यानों में घने वृक्ष, जल के लिये कुएँ और बावड़ियाँ होती थीं। विश्राम के लिये मण्डप और बैठने के लिये शिलातलों का प्रबन्ध किया जाता था।

नगरों के उद्यानों की उचित देखभाल की जाती थी। श्रीहर्ष ने 'नैषधीय-चरिम्' में नगर के बाहर के उद्यान का मनोरम चित्रण किया है। यहाँ राजा नल मनोविनोद के लिये गये थे और यह उद्यान वनपाल द्वारा रक्षित था। इसमें पुष्पों और फलों के पादप थे। एक विशाल जलाशय भी था। उद्यानों की देखभाल न करने तथा उपेक्षित छोड़ देने पर वे नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकते थे। चन्द्रगुप्त के आक्रमण से कुसुमपुर के बाह्योद्यानों की अवस्था जीर्ण हो गई थी। यहाँ के विशाल प्रासाद टूटने लगे, जलाशय सूख गये, फल समाप्त हो गये और भूमि घास से ढक गई। वृक्षों पर कुल्हाडियों के प्रहार, सांपों को केंचुलियाँ और जंगली कबूतर दिखाई

---

१. बहुकुसुमविचित्रा च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः।
द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः पनसफलानीव वानरा ललन्ति ॥
—मृच्छ ८,८॥

२. मालती० पृ० १२४। ३. मालती० पृ० ४२।

४. मालती० पृ० २६६। ५. मालती० पृ० १२४–१२५।

६. गाढोत्कण्ठोक्ठोरकरलवङ्गगण्डाच्छपाण्डुच्छदे—
स्ताम्बूलीपटलैः पिनद्धफलितव्यानम्रपूगद्रुमाः।
कक्कोलीफलजग्धमुग्धविकिरव्याहाररिणस्तद्भुवो
भागाः प्रेंखितमातुलुंगवृत्तयः प्रेयो विधास्यन्ति वाम्। मालती० ६–१९।

देने लगे। लकड़ी को कीड़े खाने लगे। वृक्षों के फल तथा छाया समाप्त हो गये।[1]

(ख) गृहोद्यान—

संस्कृत कवियों ने गृहों की वाटिकाओं का मनोरम और आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। परन्तु ये उद्यान प्राय: राजकीय प्रासादों के अन्त:पुरों में प्रमद-वनों के रूप में है। इन प्रमदवनों में अन्त:पुर की महिलायें बैठ कर मन बहलाती थीं, भ्रमण करती थीं, खेला करती थीं और मालायें गूँथती थी।[2] भास ने रावण के प्रमद-वन का सुन्दर चित्रण किया है। यहाँ स्वर्ण से रचित रचनायें थीं। इनमें विद्रुम और इन्द्रनील मणियाँ जड़ी हुई थीं। सुन्दर और विशाल वृक्षों की पंक्तियाँ थीं। सुन्दर कृत्रिम पर्वत बनाये गये थे।[3] इन कृत्रिम पर्वतों को काष्ठ से बनाया जाता रहा होगा। इसी कारण इनको दारुपर्वत कहा गया था। अथवा यहाँ काष्ठ-निर्मित गृह बनते होंगे। ये स्वर्ण आदि अलंकारों से युक्त होते थे. यहाँ दीर्घिकायें भी थीं, जिनमें विविध जल पक्षी शोभायमान रहते थे। इस वाटिका के वृक्ष फल-पुष्पों से लदे रहते थे[4] तथा यहाँ लताओं के निकुञ्ज थे। रावण के राजप्रासाद के समीप ही एक अशोक वृक्षों की वाटिका थी। हनुमान ने प्रमद-वन का[5] तथा अशोकवाटिका का[6] विनाश किया था।

कालिदास ने विदिशा में राजा अग्निमित्र के तथा हस्तिनापुर में दुष्यन्त के प्रमद-वनों का आकर्षक चित्र खींचा है। ये विविध वनस्पतियों से सुशोभित थे।

---

१. विपर्यस्तं सौध कुलमिव महारम्यरचनं सर: शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नयास्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुष:। मुद्रा० ६-११-१२।

२. स्वप्न० पृ० ६२-६३, पृ० ८३।

३. कनकरचितविद्रुमेन्द्रनीलैर्विकृतमहाद्रुमपंक्तिचित्रदेशा।
रुचिरतरनगा विभाति शुभ्रा नभसि सुरेन्द्रविहारभूमिकल्पा॥
अभिषेक० २-५॥

४. चित्रप्रस्तुहेमधातुरुचिरा: शैलाश्च दृष्टा मया
नाना वारिचराण्डजैर्विरचिता दृष्टा मया दीर्घिका:।
नित्यं पुष्पफलाढ्यपादपयुता देशाश्च दृष्टा मया
सर्वं दृष्टमिदं हि रावणगृहे सीता न दृष्टा मया॥—अभिषेक० २-६॥

५. तेन खलु मृणालवदुत्पाटिता: सालवृक्षा:, मुष्टिना भग्नो दारुपर्वतक:, पाणिभ्यामभिमृदितानि लतागृहाणि, नादेनैव विसंज्ञीकृता: प्रमदवनरक्षिण:
—अभिषेक० पृ० ४८

६. सेयं शक्ररिपोरशोकवनिका भग्नेति विज्ञायताम्।—अभिषेक० ३-१

अग्निमित्र के प्रमद-वन में मालविका ने सुन्दर शृंगार करके अशोक के पल्लव को कानों का आभूषण बना कर उस वृक्ष पर वाम पाद का प्रहार किया था।[१] दुष्यन्त के प्रमद-वन में वसन्त ऋतु में आम वृक्षों पर मंजरियाँ तथा कुरवक वृक्षों पर कलियाँ खिलने लगी थी।[२] यहाँ माधवी लताओं का एक मण्डप भी था, जहाँ वह अपने मनोविनोद के लिये बैठता था।[३]

उत्तरवर्ती कवियों ने गृहोद्यानों की शोभा का विस्तृत वर्णन किया है। उद्यानों में लम्बे-चौड़े मैदानों में घास मरकत मणि के समान सुशोभित होती थी। सभी पवर्ती बन्धूक आदि पौधों से बिखरे हुये रक्तवर्ण के पुष्प घास में घूमती हुई वीरबहूटियों के समान सुन्दर लगते थे।[४] इन उद्यानों में अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों के वृक्षों क्षुपों और लताओं को लगाया जाता था। एक ही प्रकार की वनस्पति के गुल्म, षण्ड या वीथी बनाये जा सकते थे। श्यामिलक ने चार प्रकार के षण्डों को वर्णित किया हैं—वृक्षषण्ड, हरितकषण्ड, फलषण्ड और माल्यषण्ड।[५] छोटे आकार के वृक्षों के समूह को वृक्षषण्ड, हरियाली देने वाली वनस्पतियों को हरितषण्ड, फलदार वृक्षों के समूह को फलषण्ड तथा मालाओं के योग्य पुष्पों वाली वनस्पतियों के समूह को माल्यषण्ड कहा गया होगा।

विविध वृक्षों की पंक्तियों का भी विवरण प्राप्त होता है। पान की लताओं से लिपटे सुपारी और कोल के वृक्षों की पंक्तियों को उद्यानों में देखा जा सकता था। इन वाटिकाओं के चारों ओर मातुलंग की बाड़ लगाई जा सकती थी।[६] वाटिकाओं में तमाल वृक्षों की पंक्तियों को लगाया जाता था।[७] उत्सवों में वाटिकाओं को सजाये जाने के भी वर्णन मिलते हैं।[८] क्यारियों में विभिन्न पुष्पों के पौधे[९] और इनके घने निकुंज लगाये जाते थे।[१०] 'प्रियदर्शिका' में सप्तपर्ण[११], माधवीलता, बन्धूक[१२] और शेफालिका[१३] की क्यारियों और गुल्मों के वर्णन प्राप्त होते हैं।

---

१. मालवि०। पृ० ७३। २. अभिज्ञान०। ६–४।

३. अभिज्ञान—पृ० ४०५–४०७।

४. बिभ्राणा मृदुतां शिरीष कुसुमश्रीहारिभिः शाद्वलैः—
सद्यः कल्पितकुट्टिमा मरकतक्षो देखिक्षालितेः।
एषा सम्प्रति बन्धनाद् विगलितैर्बन्धूकपुष्पोत्करै—
रद्यापि क्षितिरिन्द्रगोपशतकैश्छन्नेव संलक्ष्यते॥ प्रिय० २–३॥

५. पाद० पृ० १७४–१७५। ६. मालती०। पृ ६–१६॥

७ सखि, एत[illegible] गच्छावः। रत्ना० पृ० ८०।

८. नागा० पृ० १०४॥ ९. मालती० पृ० २१०॥

१०. मालती० १–१२॥

११. प्रिय० २–२॥ १२. प्रिय० पृ० २२॥

१३. एषा शेफालिका गुल्मान्तरिता। प्रिय० पृ० २७॥

हर्ष ने उदयन के अन्तःपुर के उद्यान में सुगन्धित पुष्पों वाली वीथियों का मनोरम चित्र अंकित किया है। कामदेव के पूजन के लिये वासवदत्ता माधवी और नवमालिका की वीथियों के मध्य में से जाती है।[१] इसको पार करके अशोक वृक्ष हैं। सागरिका से मिलने के लिये उदयन को चम्पक, सिन्धुवार, बकुल और पाटला की पंक्तियों के मध्य में होकर जाना पड़ता है।[२] 'ताप सवत्सराज' में केसरलता की वीथियों का वर्णन है।[३] रात्रि के अन्धकार में पुष्पों की गन्ध से ही विशिष्ट पुष्प-वीथियों का अनुमान हो जाता है।[४]

सस्कृत कवियों ने समृद्ध जनों के घरों की वाटिकाओं का भी स्वल्प संकेत किया है। चारुदत्त के घर के पीछे एक सुन्दर वाटिका थी, जहाँ वह विश्राम के क्षणों में बैठता था। वसन्तसेना की वाटिका का सौन्दर्य आश्चर्यजनक था। यहाँ पुष्पित होने वाले वृक्ष लगाये गये थे और वृक्षों की पंक्तियों में रेशमी झूले पड़े हुये थे। यूथिका, शेफालिका, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका, कुरबक, अतिमुक्तक आदि पुष्प इधर उधर बिखरे रहते थे। दीर्घिका में लाल कमल खिले हुये थे।[५] नये कुसुमों और पल्लवों से अशोक वृक्ष सुशोभित था।[६]

(ग) माध्यक उदेश

गृहोद्यानों के प्रसंग में माध्यक उद्देश पर भी ध्यान देना उचित होगा। घर के भीतर के खुले भाग (आंगन) में छोटी सी हरियाली हो सकती थी। इसको गृहमध्योद्यान या माध्यक उद्देश कहा गया था। ये माध्यक उद्देश एक, दो, तीन या इससे अधिक वृक्षों से अलंकृत हो सकते थे।[७]

---

१. रत्नावली पृ० २८-३० ॥

२. पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटला पंक्तिरेषा ॥ रत्ना ३-८ ॥

३. केसरलतावीथिकासु ।—तापसवत्सराज १-११ ॥

४. आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन् ।
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमो विह्वलोऽप्येष चिह्नैः ॥
—रत्ना० ३-८ ॥

५. अहो ! वृक्ष वाटिकायाः सश्रीकता । अच्छरीतिकुसुमप्रस्तरारोपिता अनेकपादपाः । निरन्तरपादपतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोलाः । सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरबकातिमुक्तकप्रभृति-कुसुमैः सत्यं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायत इव दीर्घिका ।
—मृच्छ० पृ० १८४ ॥

६. मृच्छ० ४-१ ॥ . पाद० पृ० १७४ ॥

(घ) तपोवनों की वाटिकायें—

संस्कृत कवियों ने तपोवनों की वाटिकाओं का विशद चित्रण किया है। इन वाटिकाओं की देखभाल मुनि कन्यायें करती थी। इनको उपवन की वनस्पतियों से अतिशय स्नेह होता था। दुष्यन्त ने शकुन्तला और उसकी सखियों को कण्व के तपोवन की वाटिका की वनस्पतियों को सींचते देखा था। शरीर तथा शक्ति के अनुसार वे घटों को उठा कर इस कार्य को करती थीं। कभी वे वृक्षों के आलवालों को जल से भरती थीं।[१] कभी नवमालिका को सींचती थीं और कभी बकुल वृक्ष को। कहीं तो बकुल वृक्ष वायु से हिलते किसलयों से इन कन्याओं को पुकारता था[२] और कहीं वनज्योत्स्ना नाम की नवमालिका की लता आम्र के पेड़ का आश्रय लेकर ऊपर को बढ़ रही थी।[३] समीप में एक सप्तपर्ण का वृक्ष था। इसके चारों ओर वेदी बनाई गई थी।[४] तपोवनों की वाटिकाओं में सिंचाई करने के लिये छोटी-छोटी नहरें बनाई जाती थीं।[५] इनके किनारे चलने के लिये मार्ग बना दिये जाते थे। इनको तोयाधारपथ कहते थे।[६]

तपोवनों की वाटिकाओं का अन्य कवियों ने भी आकर्षक चित्र अंकित किया है। तपोवनों के चारों ओर वाटिकाओं की रचना की जाती थी। तापस कुमारियाँ इनको सींचती थी।[७] यहाँ के वृक्षों का उपयोग फलों, पुष्पों और छाया के लिये होता था। वृक्षों पर तपस्वी वल्कल सुखाते थे तथा पक्षी बसेरा लेते थे। यज्ञ धुयें से इन वृक्षों के पत्ते श्यामल हो जाते थे। वृक्षों पर शुक आगन्तुकों का स्वागत करते थे।[८] तपोवनों में श्यामाक, कदम्ब, आम्र, सप्तपर्ण, पलाश आदि वृक्षों का बहुधा उल्लेख किया गया है। इन विविध वृक्षों से आश्रमवासियों को फल-पुष्प आदि प्राप्त होते थे। इनको वे तोडते नहीं थे, परन्तु तप के प्रभाव से वृक्ष स्वयं ही उनकी अंजलियों को भर देते थे।[९] हर्ष ने वर्णन किया है कि आम्र वृक्ष तपोवनों में प्रायः देखे जाते हैं। देवपूजन के निमित्त यहाँ पौधे और लतायें लगाय जाते हैं।

---

१. अभिज्ञान० पृ० १५०॥

२. वातेरितपल्लवांगुलिभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः॥

—अभिज्ञान० पृ० १५४॥

३. वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता। अभिज्ञान० पृ० १५७।

४, अभिज्ञान० पृ० १६३।

५. कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः।—अभिज्ञान० १-१५।

६. तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिता.।—अभिज्ञान० १- १४।

७. नागा० —पृ० २६।   ८. चण्ड० २.१४।

९ बालरा० १०- ६०।

इन पर पुष्प और फल सदा उपलब्ध रहते है।[१] आश्रमों में इङ्गुदी के वृक्ष भी लगाये जाते थे। ये तपस्वियों की तेल की आवश्यकता को पूरा करते थे।

(ङ) वनस्पतियों के गृह तथा मण्डप

वाटिकाओं में लताओं, क्षुपों और वृक्षों को गृह या मण्डप के रूप में भी लगाया जाता था।[२] ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करने, विनोद-विलास करने और विश्राम के लिये इनका उपयोग किया जा सकता था।

विश्राम करने के लिये कदलीगृह मनोरम स्थान थे।[३] कदली के पौधों से परिवेष्टित निकुंजों में विश्राम पाने के लिये विलासी जन उत्सुक रहते थे और यहाँ मनोविनोद करते थे।[४] विरह से पीडित व्यक्ति भी इनमें अपने मन को बहला सकते थे।[५]

विरह से पीडित व्यक्तियों के मनोविनोद के लिये अन्य भी लतामण्डपों का उल्लेख कवियों ने किया है। इसके लिये नवमालिका[६] और माधवी के लतामण्डप अधिक प्रिय थे।[७] राजशेखर ने माधवी-लताओं से परिवेष्टित कदली-गृह का नाम तुषारपुञ्ज रखा है।[८] विरह-पीडिता शकुन्तला बेतस-लताओं से परिवेष्टित लता-मण्डप मे अपनी विरहपीडा की शान्ति के लिये गई थी।

लताओं के मण्डप प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलने के सुखद स्थान थे। दुष्यन्त और शकुन्तला मालिनी नदी के किनारे लतामण्डप मे ही मिला करते थे।[९] माधवी की लताओं के मण्डप या गृह, इस कार्य के लिये[१०] बहुत पसन्द किये जाते थे।[११]

ग्रीष्म के सन्ताप से बचने के लिये सुगन्धित लतागृहों और मण्डपों को उप-

---

१. नागा० १-१२। २. पाद० पृ० १७५।

३. कदलीगृहं प्रविश्य मुहूर्तं तिष्ठावः।—प्रिय० पृ० ३७।

४. कर्पूर० पृ० २२७।

५. दृष्टा मया सागरिका कदलीगृहं प्रविशन्ती।—रत्ना० पृ० ४२।

६. नवमालिकालतामण्डपे। —अभिज्ञान० पृ० ३६३।

७. माधवीलतामण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये।—अभिज्ञान० पृ० ४०५।

८. विद्ध० पृ० ३७।

९. वेतसलतापरिक्षिप्ते लतामण्डपे सन्निहितया तया भवितव्यम्।
अभिज्ञान० पृ० २२९॥

१०. लतावलय, सन्तापहारक, आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।
अभिज्ञान० पृ० २६२॥

११. विद्ध० पृ० ८६॥

१२. ततो माधवीमण्डपे तया सह भर्तुः समागमो भविष्यति। रत्ना० पृ ९०॥

योगी माना गया था ।[1] कदली-वृक्षों से परिवेष्टित चन्दन की लताओं के मण्डप[2] घने पत्तों के कारण शीतल थे ।[3] चन्दन-मण्डपों में मिश्राम किया जा सकता था और मन्त्रणायें भी की जा सकती थी ।[4]

(च) वाटिकाओं में विश्राम करने के लिये आसन-रचनायें—

वाटिकाओं में विश्राम करने के लिये उचित प्रबन्ध किया जाता था । छायादार वृक्षों के चारों ओर वेदी बनवा दी जाती थी । शकुन्तला की सखियों ने दुष्यन्त को सप्तपर्ण की वेदी पर विश्राम करने के लिये आमन्त्रित किया था ।[5] विविध प्रकार के आसनों और शिलाओं के विवरण संस्कृत रूपकों में प्राप्त होते हैं । पुष्पित वृक्षों के पुष्प इन पर निरन्तर बिखरते रहते थे ।[6] लताकुञ्जों में मरकत-शिलायें[7] तथा चन्द्रकान्त मणि से रचित शिलायें रखी जाती थीं ।[8] विरहपीडिता शकुन्तला के विश्राम के लिये लतामण्डप में शिलातल पर पुष्पों की शय्या बनाई गई थी ।[9]

वाटिकाओं में चतुष्किकायें भी बनाई जाती थी ।[10] चार खम्भों को खड़ा करके छत डाल कर उसके नीचे रत्नजटित आसन, ऊंचे स्फटिक मणि के चबूतरे[11] और मरकत मणि की वेदिकायें हो सकती थीं ।[12]

(छ) उद्यानों में पालतू पशु-पक्षी—

उद्यानों में पशु-पक्षी भी पाले जाते थे, जो कौतुक प्रेमियों के कुतूहल और मनोरञ्जन के हेतु थे । पशुओं में मृग (हरिण) मुख्य थे । पक्षियों में शुक, सारिका, मयूर और हंस अधिक लोकप्रिय थे । तपोवनों के उद्यानों में तो मृग होते ही थे, राजकीय उद्यानों में भी इनकी उपस्थिति देखी जा सकती थी । उद्यानों के वृक्षों पर शुक प्रायः दृष्टिगोचर होते थे । सारिका को कवियों ने प्रणय का साधन भी बनाया है । उदयन के प्रति सागरिका के प्रणय की बात को प्रसारित करने वाली सारिका ही थी । मयूरों के बैठने के लिये वासयष्टियां बनाई जाती थीं ।[13] तरुणियां आम्र

---

१. कौमुदी० पृ० ४४ ॥ २. नागा० पृ० ५७ ॥
३. नागा० पृ० ६० ॥ ४. वीणा० पृ० ३६ ।
५. प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः । अभिज्ञान० पृ० १६३ ।:
६. अविरतनिपतद्विविधकुसुमसुकुमारशिलातलोत्संगस्य । प्रिय० पृ० २२ ॥
७. कर्पूर० पृ० ११५ ॥ ८. नागा० पृ० ३६७ ॥
९ तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियम् । अभिज्ञानपृ० ३२-३ ॥
१०. बालरा० पृ० २६७ ॥ ११. कर्पूर० पृ० ११६ ॥
१२. रत्ना० पृ० १०४ ॥ १३. पाद० पृ० १०२ ॥

मञ्जरियां हिला-हिला कर उनको नचाया करती थी।[१] राजशेखर ने अन्तःपुर की वाटिकाओं में मयूरों को पालने का विशद वर्णन किया है।[२]

जल-पक्षियों में हंस का प्रमुख स्थान और महत्व था। स्वतन्त्र विचरण करने वाले हंसों को भी पालतू बना लिया गया था। हंसों की कलध्वनि युवतियों के चरणों के नूपुरों के समान थी।[३] घरों के जलाशयों में पाले जाने वाले हंसों को भवन-तटाक-हंस कहा गया है।[४]

(ज) उद्यानों में मनोरञ्जन के साधन—

संस्कृत रूपकों में किये गये उद्यानों के चित्रणों से विदित होता है कि उनमें मनोरञ्जन के साधनों का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। उद्यानों में झूला (दोला) का विशेष प्रबन्ध होता था। रावण के क्रीडोद्यान में विलास के निमित्त केलिदोला विद्यमान था।[५] वसन्तसेना की वृक्षवाटिका में युवतियों के जघनों के प्रमाण से निर्मित रेशमी झूले वृक्षों पर डाले गये थे।[६] झूले का आनन्द प्रायः महिलायें ही लेती दिखाई गई हैं। अन्तःपुरों के प्राकार से परिवेष्टित प्रमदोद्यानों में इनके वर्णन मिलते हैं।[७] उद्यानों में शीतल वायु को प्राप्त करने के लिये राजशेखर ने स्वयंचलित पंखों का भी वर्णन किया है।[८]

उद्यानों के एक मनोरञ्जक आकर्षण फव्वारे (धारागृह) भी थे। राजकीय उद्यानों में इनका बहुधा उल्लेख है। इनमें जल ऊपर चढ़कर सूक्ष्म छिद्रों द्वारा चारों ओर बिखर जाता था। धारागृह से युक्त उद्यान को धारागृहोद्यान कहा गया था।[९] धारागृहों का उपयोग स्नान और मनोविनोद के लिये होता था। अनंगहर्ष ने धारागृह को धारावेश्म कहा है। राजभवन को सूना देखकर पालतू मृगशिशु वासवदत्ता को खोजता हुआ धारावेश्म में पहुँच गया था।[१०]

(झ) उद्यानों में जलाशय और वापियां—

उद्यानो की शोभा जल के बिना नहीं है, अतः इनमें जल का प्रबन्ध करना आवश्यक था। सिंचाई के लिये कुल्याओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके साथ ही जलाशय और वापियों की रचना भी अवश्य कराई जाती थी। नैषध महाकाव्य में निषध देश के बाह्योद्यान में विशाल जलाशय का वर्णन किया गया है।

---

१. पाद० श्लोक ३७॥ २. बालरा० ६-२७॥
३. श्रोत्रं हंसस्वनोऽयं सुखयति दयितानूपुराह्लादकारी। प्रिय० २-४॥
४. नागा० १-१४॥ ५. बालरा० ६-२९॥
६. निरन्तरपादपतलनिर्किता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला।
मृच्छ० पृ० १८४॥
७. कर्पूर० २-३१॥ ८. बालरा० पृ० २६७॥
९. प्रिय० पृ० २०॥ १०. तापस० २-११॥

इसमें विविध कमल खिले हुये थे तथा पक्षी विहार करते थे। कालिदास ने यक्ष के गृह की वाटिका में वापी का उल्लेख किया है। इसमें उतरने के लिये मरकत शिलाओं से निर्मित सीढियां बनी हुई थी।[1]

उद्यानों के जलाशयों का विशद वर्णन संस्कृत रूपकों में है। इनमें हंस पाले जाते थे[2] और कमल उगाये जाते थे।[3] कालिदास जलाशयों को कमलिनियों से हरा-भरा कहते हैं।[4] राजोद्यानों के सरोवरों में कुल्याओं द्वारा जल के लाये जाने के वर्णन किये गये हैं।[5]

उद्यानों में वापियों के भी प्रचुर वर्णन मिलते हैं।[6] घरों की वापियों में निर्मल जल भरा रहता था और इनमें कमल खिलते थे। सार्वभौमनगर के प्रासाद ऐसी वापियों से अलंकृत थे। वापिकाओं में मछलियां भी पाली जाती थीं। हर्ष ने वर्णन किया है कि वापिकाओं में शफर मछलियों के उछलने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सूर्य के सन्ताप से जल उछल रहा है।[7] वापिकाओं को प्रणय-विलासों का साधन भी बनाया गया था।[8] इन वापिकाओं को क्रीड़ा-वापिका कहा गया है।[9] वापिकाओं में युवतियां जलज पुष्पों को भी तोड़ती दिखाई गई हैं। उदयन और प्रियदर्शिका (आरण्यका) का प्रणय वापिका के माध्यम से ही प्रारम्भ हुआ था, जबकि आरण्यका कमलों को चुनने के लिये वापिका में उतरी थी और भ्रमरों से उत्पीडित हुई थी।[10]

प्रमादोद्यानों में वापियों में स्नानगृह भी बने होते थे। इनमें गहरा जल होता था। ये सुन्दर चित्रों और मूर्तियों से सुसज्जित हो सकते थे।[11]

कालिदास ने वापिकाओं में गुप्त खण्डों के तथा उनमें विलासी जनों की प्रणय-क्रीडाओं के संकेत दिये हैं।[12] जनता की सेवा से श्रान्त राजा इन खण्डों में जाकर रूपवती ललनाओं के साथ विहार करते थे।

घरों के उद्यानों की दीर्घिका (वापी) को गृहदीर्घिका कहा गया है। सार्वजनिक स्थानों पर भी दीर्घिकायें हो सकती थीं। श्यामिलक ने वेशवीथी में एक दीर्घिका का वर्णन किया है।[13] यहां वेशवीथी की सभी वेश्यायें आती होंगी। सार्व-

---

१. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा। मेघदूत—उत्तरमेघ॥

२. नागा० १-१४॥ ३. पाद श्लोक १०२॥

४. कमलिनीहरितैः सरोभिः। —अभिज्ञान० ४-११

५. बालरा० ४,५८॥ ६. सुभद्रा० ३-१०॥

७. आमात्यकाँशुतापक्वथदिवशफरोद्वर्तनदीर्घिकाम्भः। —प्रिय० १-१२॥

८. बालरा० ६-१२॥ ९. बालरा० ५-५६॥

१०. प्रिय० पृ० ३३–३५॥ ११. विद्ध० १-४४॥

१२. गूढमोहनग्राहः। —रघुवंश १९-९॥

१३. पाद० पृ० ३२॥

जनिक वीथिकाओं के स्नानगृहों में स्त्रियों के स्नान के लिये पर्दे का विशेष प्रबन्ध रहता था।

तपोवनों की वाटिकाओं में भी वापियों का उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि के तपोवन में एक वापिका थी। आश्रम की महिलायें यहाँ स्नान करने और कमलों को एकत्रित करने आती थीं।[1] यह दीर्घिका या वापी काफी बड़ी रही होगी, क्योंकि वायु चलने पर उसमें लहरें उठती थीं।[2]

(ज) उद्यानों में सिंचाई का प्रबन्ध—

प्राचीन समय में वाटिकाओं में सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध रहा था। राजकीय तथा धनी घरों में उद्यानों की देखभाल के लिये माली रहते थे तथा वे सिंचाई का प्रबन्ध भी करते होंगे। परन्तु प्राचीन संस्कृत नाटकों में राजकीय उद्यानों की गरिमा और सौन्दर्य का प्रबन्ध करते हुये भी उनमें सिंचाई की व्याख्या का कवियों ने संकेत नहीं दिया है। तपोवनों और आश्रमों में वाटिकाओं की सिंचाई के सम्बन्ध में कवियों ने मनोहारी वर्णन किये हैं। भास ने सीता द्वारा जनस्थान के आश्रम में वृक्षों के सींचने का मनोहारी वर्णन किया है। सीता प्रतिदिन छोटे-छोटे वृक्षों को पानी से सींच कर उनके ऊपर अनुग्रह करती थी।[3] वृक्षों को सींच कर ही वह कहीं जाती थी। यदि वृक्षों को सींचे हुये अधिक समय नहीं हुआ है, तो उससे अनुमान होता था कि सीता अधिक दूर नहीं गई है।[4] ताजे सींचे वृक्षों का कवि ने मनोरम वर्णन किया है :—

"वृक्षों के आलवाल झागदार जल से भरे हैं। अभी-अभी सिंचाई होने से जल के गंदला होने के कारण उसको प्यास से व्याकुल होने पर भी पक्षी नहीं पी रहे हैं। वृक्षों के तनों की दरारों में जल भर जाने से उनमें रहने वाले कीड़े बाहर निकल रहे हैं। पेड़ों की जड़ों के चारों ओर वलयाकार रेखा बन गई है।[5]"

कालिदास ने तपोवनों में वाटिकाओं की सिंचाई का अधिक व्यवस्थित और मनोरञ्जक वर्णन किया है। तपोवन के खेतों और वाटिकाओं को सींचने के लिये

---

१. कुन्द० पृ० ११९॥ २. कुन्द० पृ० २२॥

३. तावदिमान् बालवृक्षानुदकप्रदानेनानुक्रोशयिष्यामि। —प्रतिमा० पृ० १२५।

४. प्रत्यग्राभिषिक्तानि वृक्षमूलानि अदूरगतां मैथिलीं सूचयन्ति।
—प्रतिमा० पृ० १२६

५. भ्रमति सलिलं वृक्षावर्ते सफेनमवस्थितं
तृषितपतिता नैते क्लिष्टं त्यजन्ति जलं खगाः।
स्थलमभिपतन्त्यार्द्रां कीटाः बिले जलपूरिते
नववलयिनो वृक्षा मूले जलक्षयरेखया॥ —प्रतिमा० ५-२।

नदियों, नहरों, कुओं, जलाशयों आदि से छोटी-छोटी नहरों द्वारा, जिनको कि कुल्या कहते थे, जल लाया जाता था। कुल्यायें सीधे वृक्षों के मूल भाग से होती हुई गुजरती थीं। इन कुल्याओं के साथ आने-जाने के लिये मार्ग भी बना दिये जाते थे, जिनको तोयाधारपथ कहा गया था। कालिदास ने वर्णन किया हैं कि कण्व के आश्रम में कुल्याओं के बहते हुये जल में वायु के वेग से लहरें उठती थीं और उससे वृक्षों के मूल धुल जाते थे।[1] तोयाधारपथ पर जब ऋषि-गण भीगे हुये वल्कलवस्त्र लेकर चलते थे, तो उनसे टपकती बूंदों से वहां निशान बन जाते थे।[2]

कुल्याओं से सिंचाई के लिये जब वृक्षों तक जल लाया जाता था, तो वृक्षों के चारों ओर एक चौड़ा आलवाल (थांवला) बना देते थे। आश्रम में सिंचाई करने वाले व्यक्ति एक-एक के क्रम से प्रत्येक वृक्ष के थांवले को जल से भरते जाते थे।[3] जिन वृक्षों तक ये कुल्यायें नहीं थीं घड़ों में जल भर कर उनकी सिंचाई की जाती थी।

कालिदास के वर्णनों से विदित होता है कि आश्रमों में सिंचाई का कार्य अविवाहित कन्याओं द्वारा किया जाता था। ये कन्यायें अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटे-छोटे घड़े लेकर सिंचाई का कार्य करती थीं।[4] आश्रम में इनके कार्य का विभाजन भी कर दिया जाता था कि किसे कितने वृक्षों की सिंचाई करनी है। अनेक बार जब एक कन्या दूसरी के बदले काम कर देती थी तो उस पर यह ऋण हो जाता था। इसी कारण प्रियंवदा ने शकुन्तला से कहा कि तुम पर मेरे दो वृक्षों की सिंचाई उधार है।[5] आश्रमों में युवतियां बहुत परिश्रम से सिंचाई करती थी और कभी-कभी बहुत थक भी जाती थीं। कालिदास ने सिंचाई करने से थकी शकुन्तला का मनोरम चित्रण किया है—

"घड़ों को उठाने से कन्धे ढलक गये हैं और हथेलियां लाल हो गई हैं। स्तन कांप रहे हैं तथा श्वास का वेग अधिक है। मुख पर बहते पसीने पर कानों से लट-

---

१. कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः। —अभिज्ञान० १-१५।
२. तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्ददरेखांकिताः। —अभिज्ञान० १-१४।
३. आलवालपूरणे नियुक्ता। —अभिज्ञान० पृ० १५८।
४. तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। —अभिज्ञान० पृ० १४८।
५. वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे। —अभिज्ञान० पृ० १७४।

कता शिरीष-पुष्प चिपक गया है। बाल बिखर गये हैं, जिनको शकुन्तला ने एक हाथ से सम्भाल रखा है।"[1]

(ट) उद्यानदेवता—

भारतीय ऋषियों और कवियों ने उद्यान-देवता की भी कल्पना की है। उसको उद्यानों का रक्षक देवता समझा जाता था। इस देवता को वनदेवता या वृक्षदेवता की ही कोटि का माना जा सकता है। उद्यानदेवता में अतिशय सौन्दर्य और कोमलता की अभिव्यञ्जना की गई है। हर्ष ने दीर्घिका के जल को उद्यानदेवता की दृष्टि के समान स्वच्छ वर्णित किया है।[2]

३. वनस्पतियों की उपयोगिता

वनस्पतियों की मानव के लिये महती उपयोगिता है। इनके बिना मानव का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। पग-पग पर मानव इनकी आवश्यकता का अनुभव करता है। इसी कारण से भारतीय ऋषियों ने वनस्पतियों को बहुत अधिक महत्व दिया था और इनकी वृद्धि के लिये उपदेश तथा सुझाव दिये थे।

वनस्पतियों द्वारा मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव की आनिवार्य आवश्यकताओं—निवास, वस्त्र और भोजन को तो ये पूरा करती ही हैं, इनका अन्य भी कार्यों के लिये प्रयोग किया जाता है। इनका आयुधों के रूप में प्रयोग होता है, चिकित्सा में उपयोग है और शृङ्गार-प्रसाधन के लिये ये उपयोग में आती हैं।

(क) निवास—

प्राचीन काल में भारतीयों ने निवासों की रचना के लिये वनस्पतियों का प्रचुर उपयोग समझ लिया था। इनसे प्राप्त काष्ठ से घर बनाये जाते थे। छतों के शहतीर, द्वारों के चौखट, किवाड़ आदि इनसे बनाये जाते थे। घरों के उपस्कर (फर्नीचर) का इनसे निर्माण होता था। ग्रामों और वनों में बनाये जाने वाले कुटीरों की छतें काष्ठ तथा तिनकों से छाई जाती थीं। हिन्दी में इनको छप्पर कहते हैं। इस प्रकार के घरों को कुटङ्कागार कहा गया था। सम्पूर्ण भवन की रचना भी काष्ठ और तृणों की हो सकती थी।

---

१. स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततले बाहू घटोत्क्षेपणाद्
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणधिकः।
स्रस्त कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुलाः मूर्धजाः। —अभिज्ञान० ६-४।

१. उद्यानदेवतायाः स्फुटपङ्कजकान्तिहारिणी स्वच्छा।
दृष्टिरिव दीर्घिकेयं रमयति मां दर्शनेनेव॥ —प्रिय० २-५।

घास, पत्तों तथा काष्ठ से कुटीरों के बनाने का वर्णन संस्कृत रूपकों में किया गया है। तपोवनों में रहने वाले तपस्वियों और वनों में रहने वाले वनचरों के घर इसी प्रकार के होते थे। इनको उटज, पर्णोटज, पर्णकुटी या पर्णशाला कहते थे। राजशेखर ने उलप नाम की घास से उटज बनाने का वर्णन किया है।[1] जीमूतवाहन के माता-पिता वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करके उटज में रहने लगे थे।[2] राम पञ्चवटी में पर्णशाला में रहते थे।[3] राम की यह पर्णोटज गोदावरी नदी के तट पर थी।[4] लक्ष्मण ने राम के लिये लकड़ियों से बनाई गई पर्णकुटी को पत्तों से छाया था तथा नीचे की भूमि जल से भीगी मिट्टी से लेपी गई थी।[5] त्यागी और निस्पृह जन उच्च पदों पर अधिष्ठित रह कर भी इन कुटीरों में रहना पसन्द करते थे। चाणक्य के इसी प्रकार के निवास का उल्लेख विशाखदत्त ने किया है।[6]

गृह या उटज बनाने के लिये तो वनस्पतियों का उपयोग होता ही था, इनकी छाया भी स्वल्प काल के लिये निवास तथा आश्रय बन सकती थी। वनों में आने वाले व्यक्तियों के लिये वृक्षों की छाया आश्रय के लिये सुलभ होती है।[7] ग्रीष्म से सन्तप्त व्यक्ति वृक्षों की छाया में बैठकर विश्राम कर सकते हैं।[8] मार्ग पर चलने वाले पथिक वृक्षों की छाया द्वारा सूर्य की किरणों के सन्ताप से छुटकारा पा सकते हैं।[9] ये वृक्ष स्वयं तीव्र धूप का अनुभव करके भी अपनी छाया में बैठने वालों की गर्मी दूर करते हैं।[10] वनों और वाटिकाओं में बने निकुञ्ज या मण्डप विश्राम तथा विनोद के उत्तम स्थान होते थे। इन स्थानों पर कोमल स्वभाव के व्यक्ति कोमल पत्तों और

---

१. बालरा० ६-३६। २. नागा० पृ० १८०। ३. हनू० ५-२।

४. अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद् वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु।
गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः॥ —उत्तर० २-२५।

५. आश्चर्य० १-५।

६. शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिः
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥ —मुद्रा० ३-१५।

७. तरुच्छाया तोयम्॥ —उत्तर० २-१।

८. प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायामुपविशामः। —अभिज्ञान० पृ० १६३।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥ —विक्रम० ३-२१।

९. छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः। —अभिज्ञान० ५-११।

१०. अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति च परितापं छायया संश्रितानाम्। —अभिज्ञान० ५-७।

पुष्पों की शय्या बना कर विश्राम करते थे। कालिदास ने निकुञ्जों में पुष्प-शय्या पर युवतियों के विश्राम के मनोमोहक वर्णन किये हैं।[१]

कालिदास ने वनस्पतियों द्वारा मार्गों को रमणीय और सुखद माना है। यदि मार्गों के किनारे कमलिनियों से हरे भरे सरोवर हों, छायादार वृक्ष हों, पुष्पों का पराग बिखरा हो, शीतल मन्द-पवन बहता हो, तो वह मार्ग कल्याणकारी होता है।[२]

(क) वस्त्र—

वस्त्रों की आवश्यकता की पूर्ति का मुख्य उपादान भी वनस्पतियां ही थीं। यद्यपि प्राणिज द्रव्य-पशुओं के ऊन, चर्म और कौशेय भी वस्त्रों के अच्छे उपादान रहे; तथापि मुख्य रूप से वनस्ततियों के रेशे ही वस्त्रों की आवश्यकता को पूरा करते थे।

वस्त्रों की रचना के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण वनस्पति कपास रही थी। अनङ्गहर्ष[३] और राजशेखर[४] ने कपास के वस्त्रों का उल्लेख किया है। दुकूल, क्षौम और पट्टसूत्र नामक वस्त्र भी वनस्पतिज रेशों से बनाये जाते थे। दुकूल को धनी व्यक्ति ही पहन सकते थे।[५] इसको धारण करना सौभाग्य का सूचक समझा जाता था।[६] यह मूल रूप में श्वेत वर्ण का होता है।[७] आचाराङ्ग के संस्कृत व्याख्याकार का मत है कि गौड देश में विशेष प्रकार की कपास होती है। इसका बना हुआ वस्त्र दुकूल कहलाता है। नीशीथ के चूर्णकार का मत है कि दुकूल नाम के वृक्ष की छाल को कूट कर उसके रेशों से यह वस्त्र बनाया जाता है।[८]

क्षौम वस्त्र भी वनस्पतिज रेशों से बनते थे। ये वस्त्र सुन्दर होते और समृद्ध जनों के धारण करने के योग्य थे।[९] राजपरिवार की महिलायें इसको पहनती थी।[१०] शकुन्तला के पतिगृह को जाते समय वनस्पतियों ने उसको शुभ्र वर्ण का क्षौम वस्त्र

---

२. तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियम्॥

—अभिज्ञान० ३-२३।

कुसुमशयनम्। —विक्रम० ३-१०।

१. रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिः छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥

—अभिज्ञान० ४-११।

३. नग्नक्षपणकः कार्पासवाटिकां रक्षन् पृच्छति। —तापस० पृ० १२१।

४. बालरा० पृ० ४६५। ५. विद्ध० पृ० ३१॥ —बालरा० ६-२०।

६. दुकूलपेलवांशुकहारहरिचन्दनानां वर्धते सौभाग्यम्। —उभया० पृ० १२।

७. आश्चर्य० पृ० १३८।

८. आचाराङ्ग—२ सूत्र ३६८ की संस्कृत-टीका और निशीथ ७-१०-१२ से यशस्तिलकचम्पू—एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १२६ पर उद्धृत।

९. नागा० ५, २, वीणा० पृ० ३। १०. सुभद्रा० १-१३।

उपहार में दिया था।[१] क्षौम वस्त्र के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि भारतवर्ष के पूर्वी प्रान्तों में अतसी घास बहुत होती है, जिसको वहाँ की भाषा में कांखुर कहते हैं। इसका बना वस्त्र क्षौम कहलाता था।[२] 'मेदिनीकोष' के अनुसार वल्कल, सन और अतसी के बने वस्त्र क्षौम कहलाते हैं।[३]

वस्त्रों की रचना में पट्टसूत्र का भी स्थान है।[४] यह वस्त्र कोमल, सुन्दर, चिकना और बहूमूल्य होता था। इसकी रचना भी सम्भवतः वनस्पतिज रेशों से होती थी। सन के भी वस्त्र बनाये जाते थे। राजशेखर ने इनका उल्लेख किय। है।[५] सन की डोरियाँ और रस्सियाँ भी बनती थीं।[६]

वृक्षों की त्वचा (वल्कल) का उपयोग वस्त्रों के लिये किये जाने का वर्णन प्रचुर उपलब्ध होता है।[७] इसका उपयोग मुख्य रूप से तपस्वियों द्वारा किया जाता था।[८] वन में जाते हुये राम, लक्ष्मण और सीता ने वल्कल पहते थे।[९] नन्दग्राम में रहते हुये भरत भी वल्कल धारण किये रहते थे।[१०] वल्कल वस्त्र को धोया और सुखाया भी जा सकता था।[११] कालिदास ने वर्णन किया है कि तपस्वी जन जब स्नान करके लौटते हैं तो उनके वल्कल वस्त्रों के किनारों से टपकते हुये जल से मार्ग अङ्कित हो जाता है।[१२]

(ग) आहार—

वनस्पतियाँ प्राणिमात्र के आहार को पूरा करती हैं। अनेक जन्तु केवल वनस्पतिज आहार ही करते हैं। गौ, अश्व, हस्ती, हरिण, वराह, गैंडा आदि इसी कोटि के जन्तु हैं। मानव के आहार का मुख्य उपादान भी वनस्पतियाँ ही हैं। यद्यपि मानवों के भोजन में प्राणिज भोजनों का भी व्यवहार होता है, तथापि उनका मुख्य

---

१. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्।
—अभिज्ञान० ४-२।

२. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६—७७।

३. क्षौमं वल्कजांशुके शणजेऽतसीजे। **—मेदिनीकोष १०८-९**

४. बालरा० पृ० ४९५। ५. बालरा० पृ० ४९५।

६. कर्पूर० पृ० ४३।

७. नागा० १-११, अनर्घ० २, २५, बालरा० ६, २०,
परिग्रहासंदेशमुत्क्षिप्तवल्कलः। **—कुन्द० पृ० १२६।**

८. आश्चर्य० १-१३। ९. आश्चर्य० ३-२।

१०. प्रतिमा० पृ० ४१—४२। ११. हनू० पृ० ४४।

१२. तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः।
—अभिज्ञान० ११, ४।

भोजन वनस्पतिज ही है। सात्विक वृत्ति के जन मांस-भोजन को तामसिक और पापयुक्त समझ कर भोजन में व्यवहार में नहीं लाते।

संस्कृत रूपकों में विविध वनस्पतिज भोजनों के व्यवहार का उपदेश है। शालि, तण्डुल, कलम, नीवार, और श्यामाक धान्यों का उल्लेख हुआ है। शालि धान्य शरद ऋतु में पकते हैं और पकने पर इनकी जरियाँ झुक जाती हैं।[१] इन पर तोतों के आक्रमणों का सदा भय रहता है। अतः इनकी रक्षा करना आवश्यक है।[२] धान को ऊखल में डाल कर मूसल से कूट कर निस्तुष करते हैं।[३] कलम उच्च कोटि का धान है और शुभ्र-श्वेत होता है।[४] यह शालि के साथ ही बोया जाता है।[५] वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में इसको क्यारियों में लगा कर पुनः अन्यत्र खेतों में बोते हैं। शीत के प्रारम्भ में (अगहन-पौष) यह पक कर तैयार हो जाता है।[६]

तण्डुल धान्य का उल्लेख अनेक नाटकों में हुआ है।[७] यह शुभ्र वर्ण का होता है। नीवार धान्य बिना बोये जोते स्वयं उग आते थे।[८] तपस्वियों का ये मुख्य भोजन थे।[९] इनको पका कर खाया जाता था[१०] तपस्विकन्यायें मृगों को नीवार खिलाती थीं तथा इसको बलि के रूप में भी बखेरती थीं।[११] तोते इसको प्रचुर खाते थे। कालिदास ने तपोवन के वृक्षों के नीचे शुक-शावकों के मुखों से गिरे नीवारों का उल्लेख किया है।[१२]

श्यामाक धान्य भी मुख्य रूप से तपस्वियों का ही भोजन था। यह वनों में स्वयं उग आता था।[१३] मुरारि ने तपस्वियों के आश्रमों में श्यामाक धान्य का उल्लेख किया है।[१४] कालिदास का कथन है कि तपस्वि-कन्यायें मृगों को श्यामाक खिला कर पालती थीं।[१५]

---

१. दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले। —**मुद्रा० ३-८।**

२. बालरा० ६-३७। ३. हनू० १४-८५।

४. विद्ध० पृ० १७, कर्पूर० १-१६, कौमुदी० ५-८।

५. बालरा० ६, ३७। ६. यशस्तिलकचम्पू एक अध्ययन पृ० ९२।

७. अनर्घ० २-२०-२-७६। ८. अष्टाध्यायी ३२-३-४८ पर महाभाष्य।

९. नागा० पृ० १९, अनर्घ० २-२१, बालभा० १-१९।

१०. नीवारमुष्टिपचना गृहिणो भवन्ति। —**उत्तर० १-२५।**

११. नैवारं बलिमाकिरन्ति। —**तपस० ३-९।**

उटजद्वारि विरूढं नीवारबलिं विलोकयतः। —**अभिज्ञान० ४-२१।**

१२. नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः। —**अभिज्ञान० १-१४।**

१३. बालरा० २-१३। १४. अनर्घ० २, २२।

१५. श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकः पदवीं मृगस्ते। **अभिज्ञान० ४-१४।**

प्राचीन समय में गेहूँ का प्रयोग भी प्रचलित था। परन्तु धान्य की अपेक्षा यह कम प्रचलित था। संस्कृत रूपकों में तथा अन्य साहित्य में धान्य के प्रयोग का ही उल्लेख अधिक है। गेहूँ की अपेक्षा भी जौ का प्रयोग अधिक था। यवागू, यावक आदि पक्वान्न यव से बनते थे। यव की बालियों को चन्द्रमा के समान शुभ्र कहा गया है।[१] दालों (शमी धान्यों) के वर्णन भी रूपकों में मिलते हैं। माष (उड़द) का वर्ण मसी (स्याही) के समान श्याम होना है।[२]

रूपकों में तेलीय बीजों का भी उल्लेख है।[३] तिल का उपयोग प्रचुर था। ये श्वेत वर्ण के[४] तथा सूक्ष्म होते हैं।[५] तिल उपजाऊ भूमि में ही उत्पन्न होते हैं।[६] प्राचीन समय में विद्यालयों के चारों ओर की भूमि में तिल बोये जाते थे तथा इनको तिल-क्षेत्र कहते थे।[७] सरसों (सर्षप) का भी उल्लेख हुआ है। सरसों के दाने अग्नि के समीप रखने से फूट जाते हैं।[८] तेल का उपयोग प्रचलित था। भोजन में तो इसका व्यवहार होता ही था, इससे दीपक[९] और मशालें भी जलाई जाती थी।[१०]

वनस्पतियों के फल, मूल, पुष्प, पत्र आदि का प्रयोग भोजन के निमित्त से होता था। ऋषि-मुनि इसी प्रकार के आहार को पसन्द करते थे।[११] इसके लिये वे किसी के आधीन नहीं थे।[१२] संस्कृत रूपकों में अनेक फल-वृक्षों का उल्लेख हुआ है—

आमलकी[१३], इङ्गुदी[१४], उदुम्बर[१५], कपित्थ[१६], कदली[१७], काश्मरी[१८], खर्जूर[१९], जम्बीर[२०], जम्बू (जामुन)[२१], ताली[२२], दाडिम (अनार)[२३], नारङ्गी[२४], नारियल[२५],

---

१. विद्ध० ३-१०। २. मृच्छ० पृ० ३६।
३. हनू० १३-२०। ४. अनर्घ० २-७६।
५. कर्पूर० ३-१५। ६. कुन्द० ६-२२।
७. चण्ड० पृ० १५७। ८. हनू० १३-२०।
९. हनू० १३-२०। १०. हनू० ६-२४।
११. कन्दमूलफलाशिनः। कुन्द० पृ० १८६, नागा० पृ० १९, बालभा० १, १९।
१२. तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं।
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः॥ —उत्तर० २, १।
१३. हनू० पृ० ६८-७०। १४. उत्तर० १, १२।
१५. महा० ५-२२। १६. हनू० पृ० ६८-७०, रत्ना० पृ० ५८।
१७. उत्तर० ३-२१। १८. हनू० पृ० ६८-७०।
१९ मालती० ५-१४। २०. हनू० पृ० ६८-७०।
२१. महा० ५-४१, बालरा० ४-५१। २२. हनू० ५-४४।
२३. हनू० २-२५, बालभा० १-४७। २४. हनू० पृ० ६८-७०।
२५. बालरा० ३-२३।

प्रियाल (प्याल)[१], बदरी (बेर)[२], बिल्व[३], बीजपूरक[४], मधूक (महुआ)[५], लिकुच (बड़हल)[६] आदि।

वाटिकाओं में आम[७], कदली (केला), रम्भा[८], राजरम्भा[९], जम्बीर[१०], दाडिम[११], नारङ्गी, पनस (कटहल)[१२], द्राक्षा (अंगूर)[१३] आदि वृक्षों और लताओं को लगाया जाता था। राजरम्भा अति प्रिय फल था। यह ग्रीष्म में शीतलता पहुंचाता है।[१४] आम रसीला फल है और शौक से खाया जाता है। द्राक्षा अति प्रिय मधुर फल है।[१५]

फलों को अति पवित्र भोजन द्रव्य माना गया था। अतिथियों के आने पर उनके सत्कार के लिये फल प्रस्तुत किये जाते थे।[१६] तपस्वि-जन राज़ाओं से भेंट करने के लिये जाने पर फलों को उपहार में देते थे।[१७]

नाटकों में कुछ शाकों और सब्जियों का भी उल्लेख हुआ है। विशिष्ट अतिथियों के आने पर शाक पकाया जाता था। उस समय इसकी सुगन्धि चारों ओर फैल जाती थी। शाक के साथ कर्कन्धु (बेर) को भी पकाये जाने का उल्लेख है।[१८] करेले का उपयोग उल्लिखित है। इसकी बेल होती है तथा यह कड़वा होता है।[१९] मूली का उपयोग प्रचलित था और इसको कच्चा भी खाया जाता था।[२०]

नाटकों में विविध मसालों के प्रयोग का भी संकेत मिलता है। ये मसाले वनस्पतिज ही होते थे। लौंग, इलायची (एला) सौंफ, इमली (तिन्तिडी), हल्दी (हरिद्रा), कत्था (खदिर), सुपारी (क्रमुक), प्याल (पलाण्डु) और लहसुन (लशून) का उल्लेख हुआ है।

लौंग (लवंग) के ऊँचे वृक्षों का दक्षिण भारत के वनों में होने का वर्णन

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. उत्तर२ ४, १।
३. पद्म० पृ० १९- चण्ड० पृ० १५७।
४. हनू० पृ० ६८-७०। ५. बालरा० १, ६३, रत्ना० पृ० ४२।
६. महा० ५- ३२। ७. विद्ध० १, ५, सुभद्रा० २, ९।
८. बालरा० १- ६३, रत्ना० पृ० ४२, प्रिय० पृ० ३९।
९. विद्ध० ४- ५। १०. मालती० ९, ३१।
११. बालरा० २, ५०। १२. विद्ध० पृ० ५१।
१३. कर्पूर० २- २६। १४. कर्पूर० ४, ५।
१५. कर्पूर० २- २६।
१६. फलमिश्रमर्घमुपहर। —**अभिज्ञान० पृ० १६३।**
१७. इति फलानि उपहरतः। —**अभिज्ञान० पृ० २१४।**
१८. कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते। —**उत्तर० ४- १।**
१९. विद्ध० पृ० १००। २०. आयातिमूलकमदन्। पाद० श्लोक ६७।

कवियों ने किया है।[१] इसके पत्तों में भी सुगन्धि होती है।[२] परन्तु वर्तमान समय में भारतवर्ष में लौंग का प्रायः आयात ही किया जाता है। एला (इलायची) की उत्पत्ति के स्थान दक्षिण भारत के समुद्रतटवर्ती प्रदेश[३] और मलय पर्वत की भूमियाँ[४] कही गई हैं। दक्षिण वनों में सौंफ और इमली (तिण्तिडी) की उपलब्धि का भी वर्णन है।[५]

मसाले के प्रयोजन के लिये हल्दी के कन्द का प्रयोग किया जाता है। इसके अंकुर तथा कन्द का रंग पीला कहा गया है। परन्तु ताजी हल्दी काटने पर पाण्डुवर्ण होती है।[६] यह सूखने पर पीली हो जाती है। हल्दी को सौन्दर्य वर्धक भी समझा जाता था।[७] प्याज यद्यपि तामसिक भोजन माना गया था, तथापि इसके पाण्डु वर्ण की कवियों ने सराहना की है।[८] लहसन का प्रयोग विलासी जन करते थे, यद्यपि इसमें तीव्र गन्ध आती है। यह तामसिक भोजन पदार्थ है। नीम के तेल में लहसन को पकाने से मुर्दे को जलाने की सी गन्ध आती है[९] कत्थे की रचना खदिर नामक वृक्ष के काष्ठ से होती है। सुपारी वृक्षों का फल ही सुपारी है। पान के साथ इसका व्यवहार होता है।

मधुर रस को प्राप्त करने के लिये मुख्य रूप से वनस्पतियाँ ही प्रयुक्त होती थीं। इसका मुख्य साधन इक्षु (गन्ना) था। अच्छे इक्षु को पुण्ड्रक कहते थे। यह हेमन्त में परिपक्व होता है।[१०] खेतों में ईख की छाया में बैठ कर गाना गाती हुई कृषक महिलाओं द्वारा शालि की रक्षा करने का वर्णन कवियों ने किया है।[११] गन्ने के रस से गुड तथा शर्करा बनाई जाती थी। गुड का प्रयोग काफी प्रचलित था।[१२] इसको प्रिय स्वादिष्ट भोजन द्रव्य माना गया था।[१३] खाण्ड या शर्करा अधिक परिष्कृत मधुर द्रव्य था। इससे भोज्य पदार्थ मधुर किये जाते थे।[१४] खाण्ड से मोदक भी बनते थे।[१५] खाण्ड के खिलौनों को बनाने का भी वर्णन मिलता है।[१६]

---

१. मालती० १०, ३। २. नागा० ४, ४।
३. बालरा० २-२३। ४. बालरा० १०-५४।
५. हनू० पृ० ६८-७०। ६. विद्ध० ७, १७।
७. कर्पूर० ३-१।
८. जाताः पक्वपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्तारकाः। —अनर्घ० २-२।
९. पुराणनिम्बतैलाक्तपरिभृज्यमानरसोनरसगन्धिमिश्चिताधूमैः।
—मालती० पृ० ७०३।
१०. बालरा० ५, ३४।
११. इक्षुच्छायानिषादिन्यः शालिगोप्यो जगुर्यशः। —रघुवंश ४-२०।
१२. पाद० श्लोक ७०। १३. तापस० पृ० ६१।
१४. कर्पूर० २-२६। १५. तापस० पृ० ६१- रत्ना० पृ० २२।
१६. विद्ध० पृ० ८०।

मधुरता को प्राप्त करने के निमित्त से मधु (शहद) का भी प्रयोग प्रचलित था। यह पुष्पों का रस है, जो मधु-मक्षिकाओं द्वारा एकत्रित किया जाता है। मधुपर्क का यह प्रमुख अंग था।[१] मधु और घृत मिलाने से व्यञ्जन अधिक स्वादिष्ट होते हैं।[२] मधु किन्हीं अवस्थाओं में हानिप्रद भी हो सकता है। मधु खाने के पश्चात् गरम दूध पीने को मन करता है।[३] मधुपर्क के रूप में अतिथियों के लिये विशेष रूप से मधु दिया जाता है। यह समांस और मांसरहित दोनों प्रकार का हो सकता है।[४]

वनस्पतिज भोजनों के वर्णन में ताम्बूल (पान) को छोड़ना उचित नहीं है। यह मुख को शुद्ध तथा सुगन्धित करता है। इसमें कत्था-चूना लगा कर जायफल, जावित्री, कस्तूरी, सुपारी, लौंग, कपूर, शीतलचीनी, इलायची आदि पदार्थ डाले जाते हैं। स्वास्थ्य के लिये इसको उपयोगी माना गया था।[५]

कत्था, कपूर, सुपारी आदि से लगे पान को वीटिका कहते थे। पति प्रेम से इसको पत्नी को खिलाते थे।[६] प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं को इससे प्रसन्न करते थे।[७]

पान खाने से होठ लाल होते हैं।[८] शौकीन वीराङ्गनाओं और अन्य महिलाओं को यह अति प्रिय था। मालती के साथ नगर देवता का पूजन करने के लिये गई वीराङ्गनाओं के कपोलमण्डलों में पान भरे हुये थे।[९] समृद्ध घरों में पान लगाने और खिलाने के लिये सुन्दर सेविकायें (ताम्बूलकरङ्कवाहिनी) नियुक्त होती थीं।[१०]

(घ) आयुध--

युद्धों में भी वनस्पतियों का महान् योग था। इनका उपयोग वाहनों का निर्माण करने के लिये तो किया ही जाता था, आयुधों के रूप में भी होता था। आयुधों के हत्थे लकड़ी के बनाये जाते थे बाण की डण्डी को बनाने के लिये शर, नरकट आदि का प्रयोग होता था। धनुष की डण्डी रचना लचीले दण्ड से, जो प्रायः बांस का होता था, की जाती थी। दण्ड का प्रयोग काफी प्रचलित था, जो मजबूत बांस का बनाया जाता था। इसके सिरे पर धातु का खोल भी चढ़ा लेते थे।

युद्ध के स्थानों समीप के बांसों और वृक्षों को उखाड़ कर उनका प्रयोग

---

१. उत्तर० पृ० २८५। २. पद्म० पृ० ५।
३. तदिदं मम लीढमघोरनुपानं तप्तदुःखेन। —विद्ध० १-२६।
४. उत्तर० पृ० २८५। ५. सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान २४-१६-२०।
६. हनू० २-१३। ७. नागा० पृ० १०२।
८. चण्ड० १-१५। ९. मालती० पृ० २६०।
१०. बालभा० पृ० ५०।

आयुधों के रूप में करने के वर्णन के किये गये हैं। राम-रावण युद्ध में वानर सैन्य ने इनका प्रचुर प्रयोग किया था।[1] वानर सैन्य द्वारा उखाड़े गये कुछ वृक्ष इस प्रकार थे—तमाल, सर्ज, हिन्ताल, ताल, पाटल, साल, बकुल, सरल, तिनिश, बांस, पलाश और पीपल।[2] द्रौपदी के स्वयंवर के पश्चात् निराश राजाओं द्वारा अर्जुन पर आक्रमण करने पर भीम ने एक वृक्ष को उखाड़ कर उनको रोक दिया था।[3] सुग्रीव ने ताल वृक्षों को उखाड़ कर बालि पर प्रहार किया था।[4]

(ङ) चिकित्सा—

चिकित्सा के लिये वनस्पतियों के प्रयोग के विज्ञान को आर्यों ने वैदिक युग में ही विकसित कर लिया था। विशेष रूप से 'अथर्ववेद' में अनेक वनस्पतियों के चिकित्सीय गुणों का वर्णन किया गया है। उत्तरवर्ती आयुर्वेद साहित्य में वनस्पतियों की चिकित्सीय विशेषताओं का विशद वर्णन किया गया है। चिकित्सा के लिये वनस्पतियों का वर्णन करना तथा इनके गुण-दोषों को उद्घाटित करना चिकित्सा शास्त्र का विषय है। बहुत व्यापक होने से इसकी विवेचना यहाँ सम्भव नहीं है। तथापि वनस्पतियों के अकारादि क्रम से वर्णन में इस विषय का भी स्वल्प संकेत कर दिया गया है।

बुरे प्रभावों से बालकों की रक्षा करने के लिये वनस्पतियों के रक्षा सूत्र बनाये जाते थे। कालिदास ने इस प्रयोजन के लिये अपराजिता नाम की औषधि का उल्लेख किया है।[5]

शृङ्गार-प्रसाधन—

शृङ्गार करने के निमित्त प्रसाधन तथा अलङ्कारों के लिये वनस्पतियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता था। कला तथा सौन्दर्य के प्रेमी कवियों ने इसका विशद वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना अधिक उपयोगी है, अतः इसको एक पृथक् प्रकरण में विवेचित किया जा रहा है।

४. शृंगार-प्रसाधन के लिये वनस्पतियों का उपयोग

प्राचीन काल में भारतीय जन प्रकृति-प्रदत्त शारीरिक सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट न होकर कृत्रिम उपायों से इसकी वृद्धि के लिये विविध साधनों का प्रयोग करते थे। सौन्दर्य के वर्धन के लिये उपयोगी सामग्रियों पर वे प्रचुर धन का व्यय करते

---

१. अनर्घ० ६-४२। २. बालरा पृ० ५२८।
३. बालभा० १-८६। ४. अनर्घ० ५-५२।
५. रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे, अपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। —अभिज्ञान० पृ० ४८४।

थे। शृङ्गार-प्रसाधन के लिये विशेष दासियाँ होती थी। इनको सैरिन्ध्री कहा जाता था।[1] प्रसाधन पर केवल महिलाओं का ही अधिकार नहीं था, पुरुष भी इसके द्वारा अपने को सुन्दर दिखाने का प्रयास करते थे। विलासी जन प्रतिदिन शृङ्गार की ओर ध्यान देते थे।[2] शूद्रक ने एक वृद्ध विट के प्रसाधन का इस प्रकार वर्णन किया है—

"वह विविध प्रकार के लेपन द्रव्य लगाता था। केशों को काला करने के लिये खिजाब लगाता था। चिमटी से मूँछों के श्वेत बाल तोड़ देता था और दाढी-मूँछ को सफाचट रखता था।"[3]

प्राचीन आर्यों द्वारा जिन शृङ्गार-प्रसाधन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था, उनको मुख्य रूप से तीन वर्णों में बाँटा जा सकता है—वनस्पतिज, खनिज और प्राणिज। यहाँ वनस्पतिज द्रव्यों द्वारा प्रसाधन करने पर विचार किया जा रहा है।

प्राचीन समय में शृङ्गार-प्रसाधन के लिये वनस्पतिज द्रव्यों का प्रयोग प्राचुर्य से किया जाता था। वनस्पतियों के कोमल, सुन्दर सुरभित और मनोरम किसलयों, पुष्पों तथा फलों का प्रयोग इस प्रयोजन के लिये होता था। इनमें पुष्पों का प्रयोग अधिक होने पर भी किसलय और फल भी अलङ्कार बना लिये जाते थे। अलङ्कारों के अतिरिक्त विविध प्रकार के अनुलेपन, विलेपन और वर्णकों को भी वनस्पतिज पदार्थों से बनाया जाता था। चन्दन, केसर, उशीर, कालेयक आदि द्रव्य अनुलेपन आदि के लिये व्यवहृत होते थे। वनस्पतियों द्वारा प्राचीन समय में शृङ्गार-प्रसाधन की विवेचना के लिये निम्न तथ्यों पर विचार करना उचित होगा।

(क) ऋतुओं के अनुकूल वनस्पतियों से शृङ्गार-प्रसाधन——

प्राचीन मनीषियों ने जल-वायु आदि के आधार पर वर्ष का विभाजन छः ऋतुओं में किया था। विभिन्न ऋतुओं में शरीर पर वनस्पतियों का प्रभाव भी भिन्न होता है। अतः कवियों ने ऋतुओं के अनुरूप शृङ्गार करने का वर्णन किया है। कालिदास आदि कवियों ने अपने काव्यों मे ऋतु के अनुकूल, विशेष रूप से 'ऋतु-संहार' में शृङ्गार-प्रसाधन का उल्लेख किया है। संस्कृत नाटककारों ने भी इस विषय में रोचक सामग्री प्रदान की है। इसका संक्षिप्त वर्णन रोचक और उपयोगी होगा।

---

१. कर्पूर० पृ० २१५- १- १६।

२. यः प्रतिदिनमण्डनमात्रव्यापारे सक्तचितः। बारा० पृ० १५१।

३. रागोत्पादितयौवनप्रतिनिधिच्छन्नं व्यलीक शिरः।
सन्दंशापचितोत्तरौष्ठपलितं निर्मुण्डगण्डं मुखम्॥ —पद्म श्लोक २१।

(i) ग्रीष्म-ऋतु—

ग्रीष्म-ऋतु में भीगे वस्त्र, कमलनाल के कंकण, शिरीष के कर्णाभूषण, विचकिल के पुष्पों की माला और शरीर पर चन्दन के प्रलेप का वर्णन राजशेखर ने किया है।[1] अन्य स्थानों में कहा गया है कि ग्रीष्म-ऋतु में प्रतिदिन प्रचुर जल से स्नान करना, कानों में शिरीष पुष्प पहनना, सिर पर पाटल के पुष्पों की माला, कण्ठ में मोतियों का हार, कटि में मृणाल की माला, स्तनों पर चन्दन का लेप और शरीर पर मंजिष्ठा के तेल की मालिश करना अच्छा लगता है।[2] सिन्धुवार और कमल-पुष्पों की माला बाँधी जाती है।[3] युवतियों को शिरीष-पुष्पों का कर्णावतंस बनाना अतिप्रिय होता है।[4] कालिदास का कथन है कि ग्रीष्म-ऋतु में दुकूल–वस्त्र, स्तनों पर चन्दन, स्नान, चरणों पर लाक्षारस और पुष्पों के शीतल आभूषण प्रिय होते हैं।[5] महिलायें चन्दन के जल को पंखों पर छिड़क कर हवा करती हैं और स्तनों पर हारयष्टि पहनती हैं।[6]

(ii) वर्षा-ऋतु—

वर्षा-ऋतु में विविध सुगन्धित तेलों के उपयोग का वर्णन किया गया है। इनको विशेष शिल्पियों द्वारा बनवाया जाता था। स्तनों पर उशीर, चन्दन आदि द्रव्यों का लेप किया जाता था। वर्णकों को लगाने तथा विशेष पुष्पों की मालाओं

---

१. जलार्द्रैः संख्यानं बिसकिसलयैः केलिवलयाः,
शिरीषं रुतंसा विचकिलमयी हाररचना।
शुचावेणाक्षीणां मलयजरसाद्रांश्च तलवो,
विना मन्त्रं तन्त्रं रतिरमणमृत्युञ्जयविधिः॥ —कर्पूर० ४-३।

२ बालरा० ५-२६। ३. कर्पूर० ४-७।

४. अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीष कुसुमानि।
—अभिज्ञान० ४-३।

५. नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहासाभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिः जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम्॥
पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम्॥
- ऋतुसंहार १-४-६।

६. सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानितः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः।
—ऋतुसंहार १-८।

धारण करने के भी वर्णन किये गये हैं।[१] इस ऋतु में स्त्रियाँ सुगन्धित पुष्पों के अवतंस पहनती हैं[२] और अर्जुन की मञ्जरियों[३] एवं नव विकसित कदम्बों को [४]कर्णभूषणों के रूप में प्रयुक्त करती हैं। कदम्ब, केसर और केतकी के पुष्पों की [५]तथा बकुल, मालती और यूथिका की कलियों की [६]मालायें सिर पर धारण की जाती हैं। केश-पाशों में सुगन्धित पुष्पों की मालायें गूँथी जाती हैं।[७] काले अगर और चन्दन का लेप किया जाता है।[८]

(iii) **शरद्-ऋतु—**

शरद्-ऋतु विशेष रूप से आह्लादक ऋतु है। वर्षा समाप्त होने पर प्रकृति अपने को नये रूप में सजाती है। आकाश निर्मल होता है। चारों ओर नये पुष्प विकसित होते हैं। अनङ्गहर्ष ने शरद्-ऋतु के योग्य विशेष शृङ्गार का उल्लेख किया है।[९] इस ऋतु में महिलायें कानों में केतकी के पुष्पों की पंखुड़ियों को और हाथों में मृणाल के वलयों को धारण करती हैं। अन्य पुष्पों के साथ नील-कमलों की पंखुड़ियों को मिला कर शिरोभूषण बनाये जाते हैं।[१०] शरद्-ऋतु में युवतियाँ काले लम्बे केशों को आगे से घुंघराला करके उनमें नव मालती पुष्पों को गूँथती हैं। वे स्वर्ण कुण्डलों

---

१. धूर्त० पृ० ७७।

२. कृतावतंसः कुसुमैः सुगन्धिभिः। —ऋतुसंहार २-८।

३. कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिः। —ऋतुसंहार २-२२।

४. विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनाम्। —ऋतुसंहार २-२५।

५. ऋतुसंहार २-२१। ६. ऋतु० २-२५।

७. पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः। —ऋतुसंहार २-२२।

८. कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः। —ऋतुसंहार २-२२।

९. शरत्समयोचितं प्रसाधनम्। —तापस० पृ० २५।
शरत्समयोचितानि प्रसाधनोपकरणानि मे गृहीत्वा लघु आगच्छ।
—तापस० पृ० ५।

१०. किं कर्णे नवकेतकीदलरुचा शोभा न सम्पादिता
प्रत्यग्रं न मृणालनालवलयं पाणौ समारोपितम्।
नीलाब्जच्छदलाञ्छितास्सुमनसो नोत्तंसिताः किं यथा
प्रेयान्मे ललितः प्रसाधनविधिर्देव्या न सम्पादिता॥
—तापस० १-१५।

से सजे कानों में नीलोत्पल को निवेशित करती हैं। स्तनों पर लगाकर हार पहनती हैं। श्रोणि प्रदेश पर रशना बांधती हैं तथा पैरों में नूपुर पहनती हैं।[1]

(iv) हेमन्त-ऋतु—

हेमन्तःऋतु में महिलायें शरीर पर कालेयक का लेप करती हैं और मुख पर विविध पत्र-रचनायें बनाती हैं। वे सिर के केशों को कालागुरु का धूप देकर सुखाती और सुवासित करती हैं।[2]

(v) शिशिर-ऋतु—

शिशिर-ऋतु के योग्य प्रसाधन का उल्लेख राजशेखर ने विशद रूप से किया है।[3] इस ऋतु में अति शीत के कारण स्त्रियाँ फटे होठों पर मदन का लेप करती हैं। सुगन्धित तेल लगाकर वेणी बाँधती हैं। मुख पर प्रभूत मात्रा में केसर लगाती हैं। इस ऋतु में जूड़ा बाँधकर उस पर मोतियों की माला लगाना और शरीर पर केसर का लेप करना उचित है।[4] कालिदास का कथन है कि शिशिर ऋतु में भारी वस्त्र पहनने चाहियें[5], सुन्दर और कौशेय वस्त्र धारण करने चाहियें[6] तथा केशों को

---

१. केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चितान्प्रानापूरयन्ति वनिता नवमालिकाभिः।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुड्मलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति॥
हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सविपुलं रशनाकलापैः।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति॥
—ऋतु० ३-१९-२०।

२. गात्राणि कालीयकर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय॥
—ऋतु० ४-५।

३. बिम्बोष्ठे बहलं न ददति मदनं नो गन्धतैलाविता
वेणीर्विरचयन्ति ददति न तथाऽङ्गेऽपि कूर्पासकम्।
यद् बाला मुखकुङ्कुमेऽपि घने वर्तन्ते शिथिलादराः
तन्मन्ये शिशिरं विनिर्जित्य बलात् प्राप्तो वसन्तोत्सवः॥
—कर्पूर० १-१३।

४. बालरा ५-३८।

५. गुरुणि वासांस्यबलाः सयौवनाः। —ऋतु० ५-२।

६. मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः।
—ऋतु० ५-८।

पुष्पों से गूँथना चाहिये।[१] इस ऋतु में पयोधरों को केसर से पिंगल करना समुचित है।[२]

(vi) **वसन्त-ऋतु—**

वसन्त को ऋतुराज कहा गया है। इस ऋतु में वनस्पतियाँ विशेष रूप से विकसित होती हैं। अतः वनस्पतियों द्वारा शृङ्गार भी विशेष रूप से किया जाता है। कवियों ने वसन्त-ऋतु के योग्य विशेष शृङ्गार का उल्लेख किया है।[३] युवतियाँ मुक्ता, प्रवाल, रत्नजटित रशना, हार और कोमल रेशमी वस्त्र धारण करती है तथा चन्दन का लेप लगाती हैं।[४] इस समय शिशिर के योग्य वेष का परित्याग करके[५] वसन्त के योग्य वेष-भूषा प्रयोग में लाई जाती है।[६] कालिदास का कहना है कि वसन्त-ऋतु में स्तनों पर प्रियङ्गु, कालीयक और कुङ्कुम-कस्तूरी से युक्त चन्दन का अनुलेपन करना चाहिये।[७] लाक्षा के रंग से रञ्जित और कालागुरु से भूषित सुगन्धित हलके वस्त्र पहनने चाहियें।[८] स्तनों पर चन्दन से सिक्त पुष्पों के हार होते हैं।[९] सिर चम्पक पुष्पों से सुवासित होता है।[१०] केशों में अशोक, नवमल्लिका[११] और कुरबक[१२] पुष्पों की माला गूँथी जाती है। कानों में नव कर्णिकार पुष्प लटकाये जाते हैं।[१३]

---

१ निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागम स्त्रियः।
—ऋतु० ५-८।

२. पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः। —ऋतु० ५, ९।

३. पद्म० श्लोक २५।

४. प्रवालमुक्तामणिरशनादुकूलपेलवांशुकहारहरिचन्दनादीनां वर्धते सौभाग्यम्।
—उभया० पृ० १२२।

५. कर्पूर० १-१३। ६. रत्ना० पृ० १२।

७. प्रियङ्गुकालीयकुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम्॥
—ऋतुसंहार ६-१५।

८. गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः॥
—ऋतुसंहार ६-१५।

९. स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्राः। —ऋतु० ६, ७।
उपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः। —ऋतु० ६-३२।
स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः। —ऋतु० ६, ३।

१०. सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः। —ऋतु० ६-३।

११. चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकं पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः।

१२. नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः। —ऋतु० ६-३३।

१३. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारम्। —ऋतु० ६-६।

(ख) वनस्पतिज द्रव्यों द्वारा प्रसाधन--

सौन्दर्यवर्धक साधनों को मूल्य रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—प्रसाधन और आभूषण। इन दोनों प्रयोजनों के लिये वनस्पतियों का प्रयोग प्रचुर रूप में प्रचलित था। इनका क्रमशः अवलोक करना उपयोगी होगा।

प्रसाधनों के अन्तर्गत सौन्दर्यवर्धन के वे उपकरण आते हैं, जो अनुलेपन आदि के द्वारा शरीर के अङ्गों को सुन्दर, सुगन्धित और आकर्षक बनाते हैं। 'कामसूत्र' की ६४ कलाओं में दशनवसनाङ्गराग कला में अङ्गराग से अभिप्राय प्रसाधन से ही है।[१] नागरक प्रसाधन करके नित्य कार्यों में प्रवृत्त होता है। दान्त स्वच्छ करना, नियत मात्रा में अनुलेपन करना, सुगन्धित धूपों से वस्त्रों को सुगन्धित करना, मालाय धारण करना, अञ्जन लगाना, होठों पर लाली लगाना, दर्पण में मुख देखना और पान का जोड़ा लेना उसके नित्य के कर्तव्य थे।[२]

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में 'चरक' और 'सुस्रुतसंहिताओं' में प्रसाधन सामग्रियों की उपयोगिता बताई गई है। चन्दन, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन और पुष्प मालाओं का धारण आयु, सौन्दर्य और बल को बढ़ाता है। इससे मन प्रसन्न होकर दीनता दूर होती है।[३] भरत के नाट्यशास्त्र' में प्रसाधन के विविध प्रकारों, अनेक प्रकार की चित्रकारियों और ललाट, कपोल, वक्ष आदि को सजाने का निर्देश है।[४] आँखों में अञ्जन लगाने और अधर को लाल करने की बात कही गई है।[५]

प्रसाधन करने के लिये अन्तःपुरों में विशेष सेविकायें नियुक्त की जाती थीं। वे प्रसाधन की सामग्रियों को एक विशेष पेटिका में रखती थीं।[६] वाराणसी के कला-भवन संग्रह में एक रेलिंग स्तम्भ पर एक प्रसाधिका उत्कीर्ण की गई है। वह प्रसाधन की पेटिका को हाथ में लिये हुये अतिभावपूर्ण मुद्रा में है।[७] प्रसाधन की सम्पूर्ण सामग्री को प्रसाधनक कहा जाता था। इसको उपहार में दिया जा सकता था।[८]

संस्कृत रूपकों में अभिव्यक्त प्रसाधन-सम्बन्धी तथ्यों के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से विवेचना करनी योग्य है—

---

१. कावसूत्र १-३-१५।
२. कामसूत्र १-४-५-६।
३ चरकसहिता—सूत्रस्थान ५-९३।
४. भरतनाट्यशास्त्र २१, २८।
५. भरतनाट्शास्त्र २१–४०–४१।
६. चण्ड० पृ० १७।   ७. सग्रह संख्या १००।
८. देवी० पृ० ८९०।

(i) **प्रसाधन की प्रक्रियायें—**

प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रसाधन की अनेक प्रक्रियायें प्रचलित थीं। नाटकों से निम्न प्रक्रियाओं का परिज्ञान होता है—

स्नान—शरीर की स्वच्छता तथा प्रसाधन के लिये स्नान करना अनिवार्य था। स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ करके ही प्रसाधन किया जाना चाहिये। स्नान करके रगड़ कर पोंछ देने से शरीर की दुर्गन्धि, अरुचि, भारीपन, तन्द्रा, खुजली और अन्य मलिनतायें दूर होती हैं।[१] नाट्यकारों ने स्नानगृहों की महती महिमा का वर्णन किया है। यहाँ वाराङ्गनायें स्वर्ण-घटों में जल भर स्वामी को स्नान कराती हैं। स्नान के अनन्तर स्नानीय चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।[२]

अनुलेपन, विलेपन और वर्णक—शरीर को सुन्दर और सुगन्धित करने के लिये अनुलेपन आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था।[३] स्नान करके कर्पूर, चन्दन, केसर आदि का अनुलेपन प्रचलित था। विलेपन और वर्णक का भी महत्व था। श्यामिलक ने भट्टिजीभूत के घर विटों की परिषद् में चन्दन, बाँटने, वर्ण पोतने और विलेपन लगाने का वर्णन किया है।[४]

यहाँ अनुलेपन, विलेपन और वर्णक के अन्तर को समझना चाहिये। शुद्ध रूप में लगाये लेप अनुलेपन थे। जैसे कि चन्दन, कर्पूर, केसर आदि! अनेक द्रव्यों सम्मिश्र विलेपन कहलाता था। रंगीन पदार्थों, जैसे कस्तूरी आदि का लेप वर्णक रहा होगा। नागरक की दिनचर्या में अनुलेपन नित्य कर्तव्य था, जो कि स्नान के पश्चात् किया जाता था।[५]

अङ्गराग—सुगन्धि तथा सौन्दर्यवर्धन के लिये अङ्गराग का प्रयोग होता था। चन्दन, कस्तूरी, केसर, कपूर आदि को पीसकर अङ्गराग बनाया जाता था।[६] हरिचन्दन का अङ्गराग अति मनोरम था।[७] इसको प्रायः वक्ष पर लगाया जाता था। इन्द्र द्वारा दुष्यन्त को दी गई पारिजात पुष्पों की माला उसके वृक्ष पर लगे हरिचन्दन से सन गई थी।[८] कामिनियाँ शरीर पर अङ्गराग लगाती थीं, जो प्रेमियों के

---

१. पद्म० पृ० २६।

२. प्रिय० १-११—कौमुदी० ४-८। ३. पद्म० पृ० २६।

४. विश्राण्यते चन्दनम्, आलिप्यते वर्णकः, विन्यस्यते विलेपनम्।
—पाद० पृ० २४२।

५. पद्म० पृ० २६। ६. ऋतुसंहार ६-७-६-१४।

७. रघुवंश ६-६०।

८. आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।
—अभिज्ञान० ७-२।

स्पर्श से पुँछ जाता होगा।[१] 'कामसूत्र' के अनुसार तगर, कूट और तालीसपत्र का अङ्गराग सौन्दर्यवर्धक होता है।[२] विवाह के अवसर पर नववधू का शरीर अङ्गराग से सुशोभित होता है।[३]

सुगन्धि—शरीर, वस्त्र और केशों को सुगन्धित करने के लिये पुष्प और धूप का प्रयोग प्रचलित था। चरक के अनुसार सुगन्धियों का प्रयोग आयु और बल को बढ़ाता है। उसके लिये शलालु, तगर, नलद, गूगल, उशीर, कपूर, केसर आदि का प्रयोग करना चाहिये।[४] नागरक रात्रि के समय पुष्प-मालाओं और सौगन्ध-पुटिका (इत्रदान) का प्रयोग करते थे।[५] वस्त्र भी सुगन्धित किये जाते थे।[६] शौकीन युवक पुष्पों से वस्त्रों को सुगन्धित करते थे। चारुदत्त ने कर्णपूरक को जो उत्तरीय दिया था वह जाती के पुष्पों से सुवासित था।[७] इससे उसका यौवन परिलक्षित होता था। स्त्रियाँ धूपवास से केशों को सुगन्धित करती थीं।[८]

पत्र-रचना—शरीर की शोभा के लिये नारियाँ अपने अङ्गों पर विविध प्रकार की पत्रावलियाँ बनाती थीं। मस्तक, कपोल, भुजा, करतल, करपृष्ठ, स्तन और पैर इन पत्रावलियों से सुशोभित होते थे। कपूर, चन्दन, केसर, तमालरस, कस्तूरी आदि द्रव्यों का इसके लिये उपयोग होता था। इन पत्रावलियों को पत्ररेखा, पत्रलतिका, पत्रक्रिया, पत्रभंगी आदि नाम दिये गये थे।

कपोलों पर पत्र-रचना का प्रायः उल्लेख है। शूद्रक ने विविध सामग्रियों से सजी उज्जयिनी नगरी की उपमा जम्बूद्वीप रूपी नववधू के गालों पर रचित पत्ररेखा से दी है।[९] नायिकाओं के कपोलों पर पत्ररेखा, पत्रावली[१०], पत्रलतिका[११] पत्रक्रिया[१२]

---

१. युवानमभिसृत्य तं चिरमनोरथप्रार्थितं किमस्यमृदिताङ्गरचना तथैवागता।
—पाद० श्लोक ६८।

२. कामसूत्र ७-१-४।

३. अयमङ्गरागः। मालती पृ० २६६।

४. चरकसंहिता—सूत्रस्थान ५-६३।

५. कामसूत्र १-१-४।   ६. उभया० श्लोक ६।

७. जानीहि तावत् किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारकः।
—मृच्छ० पृ० १०२।

८. धूर्त० श्लोक ४०।   ९. पद्म० पृ० ९।

१०. चण्ड० १-१४।   ११. कौमुदी० १-१०।

१२. धर्माम्भः कणिकाकपोलतलयोरालुप्तपत्रक्रिया। —सुभद्रा० १-१४।

आदि बनाने के वर्णन संस्कृत कवियों ने किये हैं। 'नाट्यशास्त्र' में कपोलों को चित्रित करने के लिये तिलक और पत्र-रचना का विधान है।[१] 'हरविजय' काव्य में कपोलों पर पत्रावली बनाने का संकेत किया गया है।[२]

स्तनों पर भी पत्र-रचनायें बनाई जाती थीं। राक्षस द्वारा पकड़े जाने पर घबराई हुई सुभद्रा के पत्रभंग-रचना से अङ्कित पयोधर ऊपर और नीचे हो रहे थे तथा उनका आच्छादक वस्त्र नीचे गिर गया था।[३] स्त्रियों के स्तनों पर अङ्कित मकर आदि आकृतियाँ आलिङ्गन करने पर इनके प्रिय के वक्ष पर अङ्कित हो सकती थीं।[४] भवभूति ने युवतियों द्वारा वक्ष पर पत्रावली बनाने का उल्लेख किया है।[५] अनेक विलासी जन अपनी प्रियाओं के कुचों को पत्र-रचनाओं से सजाते थे।[६]

विशेषक—शरीर के विभिन्न अङ्गों पर बनाई जाने वाली पशु आदि की आकृतियों को विशेषक कहते थे। मयूरसेना के कपोलों पर मयूराकृति विशेषक का उल्लेख किया गया है।[७] विलासमय प्रसङ्गों ये प्रायः पुंछ भी जाते थे।[८] वर्षा के जल से ये धुल भी सकते थे।[९]

रोचनाबिन्दु—महिलायें माथे पर रोचना (रोली का टीका) लगाती थीं।[१०] इसको तिलक भी कहा गया था। कवियों ने चन्द्रोदय में दिशारूपी वधू के तिलक की कल्पना की है।[११] तिलक अनेक आकृतियों के बनाये जाते थे। एक विलासिनी के माथे को तिलक से विभूषित दिखाया गया है।[१२]

अञ्जन—आँखों में अञ्जन लगाना प्रसाधन का प्रमुख अङ्ग था।[१३] इससे आँखें सुन्दर, सूक्ष्मदर्शी और मनोरम होती हैं। पलकें घनी हो जाती हैं।[१४] अञ्जन लगाने से दृष्टि स्निग्ध[१५] और सुन्दर[१६] होती है। अञ्जन के विना प्रसाधन पूर्ण नहीं

---

१. तिलकः पत्ररचना च भवेद् गण्डविभूषणम्।
—नाट्यशास्त्र २१-२७।

२. हरविजय २५-२१। ३. सुभद्रा० १-१३।

४. हनू० १-२। ५. मालती० पृ० ३२८।

६. हनू० ९-१। ७. पाद० पृ० २२८।

८. विखण्डितविशेषकम्। —पद्म० श्लोक २६।

९. धूर्त० पृ० ११३।

१०. मृदितरोचनाबिन्दुकम्। —पद्म० श्लोक २६।

११. धूर्त० पृ० ११३।

१२. तिलकावभेदपिञ्जरीकृतललाटोद्देशेन। —धूर्त० पृ० ८५।

१३. चण्ड० १-१६। १४. चरकसंहिता—सूत्रस्थान ५-९२।

१५. सुभद्रा० १-१२। १६. हनू० १-१४।

है।[1] तरल और धवल दृष्टि अञ्जन से ही शोभित होती है।[2] विलासिनी अभिसारिकायें अञ्जन लगाकर घूमती थीं। कभी-कभी वर्षा के जल की धारा में आँखों का अञ्जन फैल सकता था।[3] यह आँसुओं से भी धुल सकता था।[4]

धूप—वस्त्रों और केशों को सुखाने के तथा सुगन्धित करने के लिये धूप का प्रयोग व्यवहृत था। इसके लिये कालागुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग होता था। विलासिनी युवतियाँ उत्कट गन्ध वाली धूप से अपने केशों को सुखाती थीं।[5]

आसङ्ग—पैरों में लाक्षारस लगाने से पहले स्त्रियाँ अस्तर के रूप में एक विशेष सुगन्धित मिट्टी का लेप करती थीं। इस प्रक्रिया को आसङ्ग कहा गया था।[6]

नीलीकर्म—केशों को काला करने की प्रक्रिया नीलीकर्म (खिजाब लगाना) थी। शौकीन जन नीलीकर्म, स्नान और अनुलेपन द्वारा अपने को युवा दिखाने का प्रयत्न करते थे।[7] ऐसे व्यक्ति को जलधरनीलालेपः कहा गया है।[8] नीलीकर्म के लिये त्रिफला, गोखरू और लोहचूर्ण प्रयोग करने के लिये कहा है।[9]

रुचक—होठों को लाल करने के लिये रुचक का प्रयोग करते थे।[10] सम्भवतः यह पदार्थ लाख से बनाया जाता था। पान के द्वारा भी होंठ लाल किये जा सकते थे। शिशिर ऋतु में होठों पर एक विशेष प्रकार की चिकनाई (मदन) लगाई जाती थी।[11]

(ii) **प्रसाधन की विशेष सामग्रियाँ**—

प्रधाधन की अनेक सामग्रियों का प्रयोग प्राचीन काल में विदित था। इनमें से अधिकांश सामग्रियाँ वनस्पतिज ही थीं। प्रसाधन की प्रक्रियाओं में अनेक सामग्रियों का निर्माण वनस्पतियों से ही किया जाता था। प्रसाधन की प्रक्रियाओं में अनेक सामग्रियों का उल्लेख आ जाने पर भी इनकी पृथक् रूप से देखना आवश्यक है।

---

१. कीदृशी नयनाञ्जनेन विना प्रसाधनलक्ष्मीः। —कर्पूर० पृ० ४२।
२. यस्याः दृष्टिस्तरलधवला कज्जलं तस्य योग्यम्। —कर्पूर० २-२३।
३. धूर्त० पृ० ११३।
४. मुषितमश्रुजलैर्नयनाञ्जनम्। —तापस० १-१७।
५. केशेषूत्कटधूपवाससुरभिषु। —धूर्त० श्लोक ४०।
६. पाद० पृ० २८।
७. नीलीकर्मस्नानानुलेपनपरिस्पन्दनेन। —पद्म० पृ० २६।
८. धूर्त० श्लोक २। ९. पद्म० पृ० २८।
१०. परिम्लानावस्थः श्वसनपवनैरोष्ठरुचकः। —कौमुदी० २-४।
११. कर्पूर १-१३।

अनुलेपन द्रव्यों में चन्दन के प्रयोग का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। स्नान करके सारे शरीर पर चन्दन का लेप करने की परम्परा थी।[१] इसको शीतल समझा जाता था।[२] चन्दनों में हरिचन्दन श्रेष्ठ माना गया था। अर्थशास्त्र के अनुसार शुक के से रंग और आम की सी गन्ध वाला यह चन्दन होता है।[३]

कपूर, केसर, उशीर और कस्तूरी के प्रयोग का विवरण भी अनेक स्थानों पर मिलता है।[४] कपूर शीतल है। मालती के सन्ताप को शान्त करने के लिये कपूर का प्रयोग किया जाता था।[५] ग्रीष्म-ऋतु में नायिकायें स्तनों पर कपूर लगाया करती थीं।[६] कपूर की सुगन्धि से वायुमण्डल भी सुरभित हो जाता है।[७]

केसर को पीसकर पिंगल वर्ण का सुगन्धित प्रलेप बनता है। इसका लेपन करने से शरीर स्वर्ण के समान चमकता है[८]। मुख[९], कुचों[१०] और पैरों[११] पर केसर का लेप करने के वर्णन मिलते हैं। शौकीन लोग केसर का लेप करके राजमार्गों पर अपनी प्रेमिकाओं के साथ घूमते थे[१२]। उशीर को पीसकर अङ्गराग में मिलाया जाता था। इस द्रव्य को शीतल माना गया था।

कस्तूरी काले रंग का द्रव्य है। यह कस्तूरी नामक मृग की नाभि से प्राप्त होता है। यह अति मूल्यवान् था, अतः इसका प्रयोग समृद्ध जन ही कर सकते थे[१३]। कस्तूरी के लेप की सुगन्ध चारों और फैल जाती है[१४]। प्रेमिकायें कस्तूरी के द्रव से प्रेमपत्र भी लिख लेती थीं[१५]। कस्तूरी से मस्तक पर तिलक भी लगाया जाता है[१६]।

---

१. कर्पूर० पृ० ३७, विद्ध० ३-१६।
२. विशेष शिशिरचन्दनरसः। —मालती० पृ० १९१।
३. अर्थशास्त्र—अध्यक्षप्रकरण ११ वां अध्याय।
४. हनू० पृ० ७०। ५. मालती० पृ० १५१।
६. स्तनतटे कार्पूरमच्छं रजः। —विद्ध० पृ० ७०।
७. आश्चर्य० ७-५।
८. घनमुद्वर्तितमङ्गं कुङ्कुमरसपङ्कपिञ्जरं तस्या। —कर्पूर० २-१२।
९. जातं कुङ्कुमपङ्कलीढमहाराष्ट्रीगण्डप्रभम्। —कर्पूर० १-१६।
१०. कौमुदी० ५-२०।
११. चरणकुङ्कुमच्छुरितकुट्टिमा भेदिनी। —विद्ध० २-१२।
१२. पाद० पृ० २२४।
१३. न कस्तूरिका कुग्रामे वने वा विक्रीयते। —कर्पूर० पृ० ३१।
१४. कस्तूरीसुरभीकृतान्। —अनर्घ० ३-३०।
१५. एणनाभिमसीवर्णशोभिना। —कर्पूर० २-७।
१६. हनू० १४-८०।

अगर, कालेयक, तमाल, हरिताल, मनः शिला, सिन्दूर आदि द्रव्य रंगीन थे। इनके द्वारा शौकीन जन अनेक प्रकार के प्रसाधन बनाते थे। इनमें कालेयक, अगर और तमाल वनस्पतिज हैं। अगर एक सुगन्धित पदार्थ था। उसका लेप कुचों और कपोलों पर स्त्रियाँ करती थीं। काला अगर अधिक सुगन्धित होता है यह काले रंग का काष्ठ था। परन्तु अमरसिंह इसको पीला बताते हैं तथा यह दारुहरिद्रा का पर्याय कहा गया है[१]। स्त्रियाँ इसका लेप स्तनों पर करती थीं। आलिङ्गन करने पर यह लेप युवकों के वक्ष पर लग जाना स्वाभाविक था[१]।[२]

तमाल और हरिताल से विविध प्रकार की पत्ररचनायें बनाई जाती थी[३]। मनःशिला के तिलक का वर्णन है[४]। सिन्दूर से कपोल लाल किये जा सकते थे। उत्सवों में मदभरी महिलाओं के कपोलों से गिरते हुये सिन्दूर से भूमि लाल हो सकती थी[५]।

प्रसाधन में लाल रंग के लिये लाक्षारस का प्रयोग होता था। यह विशेष वृक्ष का गोंद है। इस रस (अलक्तक) से महिलायें पैरों को लाल रंगती थीं[६]। पैरों में अलक्तक रस लगाकर युवतियों के घूमने से भूमि लाल हो जाती थी[७]। कोमल चरणों का यह शृङ्गार है, जो कोमल भूमि पर रखे जाते है[८]। प्रणयि-जन अपने हाथों से प्रेमिकाओं के चरणों में अलक्तक लगा कर प्रेम का प्रदर्शन करते थे[९]।

खटिका श्वेत पदार्थ है। इसके जल से मुख को गौर करके महिलाये बुरी दृष्टि बचाने के लिये काला टीका लगा देती थी[१०]।

---

१. अथ पीतद्रु कालेयकहरिद्रवः। दार्वी पञ्चपचा दारुहरिद्रा पर्जनीत्यपि।
— **अमरकोष** २-४-१०१।

२. प्रियजनपरिष्वङ्गसंक्रान्तकालेयकं स्तनतटम्। — **पद्म०** पृ० ३८।

३. पाद० श्लोक १०५। ४. हनू० ६-३३।

५. उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः।
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्। — रत्ना० १-११।

६. मालती० पृ० १५२, बालरा० पृ० ६२८,
भाताम्रतामपनयामि विलक्ष एष लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
— रत्ना० ३-१४।

७. नागा० १, ६, तपती० पृ० २४–२५।

८. सालक्तकयुवतीचरणन्यासयोग्या वनभूमयः। — धूर्त० पृ० ६६।

९. पाद० पृ० २२८।

१०. पाण्डुरेण यदि रज्यते मुखं कोमलाङ्गि खटिकारसेन।
दीयते यदि पुनः कपोलकज्जलं तदा लभते शशिनो विडम्बनम्॥
— कपूर० ३-३३।

शौकीन लोग विशेष प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करते थे। सुगन्धित स्नानीय चूर्ण को स्नान के पश्चात् शरीर पर छिड़का जाता था[१]। 'पादताडितक' में सुरभिरजस् (सुगन्धित पराग) का उल्लेख है[२]।

शिल्पी जन सुगन्धित तेल बनाते थे। सुगन्ध के लिये इनमें पुष्पों को मसल कर मिलाया जाता था[३]। विलासिनी महिलायें अङ्गों पर विविध सुगन्धों से अधिवासित तेल की मालिश कराती थीं। रसिक जन उन अङ्गों के स्पर्श से अपने को धन्य समझते थे[४]। केशों में सुगन्धित तेल लगा कर उनकी वेणी बनाने का संकेत मिलता है[५]।

प्रसाधन के रूप में स्त्री-पुरुष पान का भी प्रयोग करते थे। शौकीन जन विविध शृङ्गार करके और पान का बीडा मुख में रखकर सार्वजनिक मार्ग में घूमते थे[६]। होठों को लाल करने के लिये युवतियाँ पान खाती थीं[७]। समृद्ध घरों में पानों के लिये विशेष दासियाँ (ताम्बूलकरङ्कवाहिनी) होती थीं[८]।

प्रसाधन के रूप में राख (भस्म) का भी उल्लेख है। ब्रह्मचारी और सन्यासी इसको लगाते थे[९]।

(३) अङ्गों का प्रसाधन—

प्रसाधन के इस प्रकरण में यह अवलोकन करना उचित होगा कि शरीर के किस अङ्ग में किस प्रकार से सजावट की जाती थी। प्रसाधन की प्रक्रियाओं और प्रसाधन-द्रव्यों के वर्णनों के अन्तर्गत यद्यपि विविध अङ्गों का उल्लेख आ गया है, तथापि प्रत्येक अङ्ग के प्रसाधन का वर्णन व्यवस्थित रूप से करना आवश्यक और ज्ञानवर्धक है। इस दृष्टि से शरीर को चार विभागमें बांटा जा सकता है—सम्पूर्ण शरीर, मुख, वक्ष और पैर।

सम्पूर्ण शरीर—सम्पूर्ण शरीर को विविध अनुलेपनों, विलेपनों और वर्णकों से प्रसाधित करने के वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रियङ्गु, लोध्र, चन्दन, मसूर आदि द्रव्यों को पीस कर तथा उनको दूध-मलाई में मिला कर उबटन बनाया जाता था। कामिनियाँ शरीर पर चन्दन, केसर आदि का अङ्गराग लगाती थीं। शीतलता के लिये चन्दन[१०] और कपूर[११] का लेप होता था। अङ्गों पर कालागुरु और चन्दन का

---

१. कौमुदी० ४-६। २. पाद० श्लोक १४१।
३. धूर्त० पृ० ७७। ४. उभया० पृ० १४१।
५ गन्धतेलाविला वेणीर्विरचयन्ति। —कर्पूर० १-११
६. पाद० पृ० २२४। ७. चण्ड १-१५।
८. विद्ध० पृ० २२। ९. हनू० १-१०।
१०. विद्ध० ३, १६। ११. मालती० पृ० १५१।

लेप करने का भी उल्लेख किया गया है[१]। केसर का लेप करने से शरीर कान्तिमान् होता है[२]। शीत ऋतु में कालेयक का लेप लगाना उष्णता एवं सौन्दर्यवर्धन के लिये उपयुक्त समझा गया था[३]। विभिन्न अङ्गों पर पत्र-रचनाओं के वर्णन भी मिलते हैं।

मुख—मुख के विभिन्न अवयवों—माथा, कपोल, कान, आँख, होठ, दान्त आदि के प्रसाधन के वर्णन रूपकों में उपलब्ध होते हैं। मुख पर केसर[४] और कपूर[५] लगाते थे। खटिका के रस से मुख को गोरा किया जाता था।[६]

माथे पर रोचनाबिन्दु (रोलीका बिन्दु)[७] और तिलक[८] लगाया जाता था। तिलक के लिये कस्तूरी का प्रयोग विदित था[९]। माथे पर गोरोचना ओर काजल का टीका लगाने का भी संकेत प्राप्त होता है[१०]।

कपोलों के प्रसाधन का विशेष वर्णन किया गया है। केसर का लेप करने से ये दीप्तिशाली होते हैं[११]। शिशिर ऋतु में यह लेप विशेष रूप से किया जाता था[१२]। विभिन्न प्रकार की पत्रावलियों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

अञ्जन के बिना आँखों का प्रसाधन अपूर्ण था। होठों के लिये मदन, रुचक और लाक्षारस के प्रयोग के वर्णन किये गये हैं। मञ्जिष्ठा[१३] और पान[१४] भी होठ लाल करने के साधन थे। इनका विवरण दिया जा चुका है।

दान्तों का प्रसाधन करने के भी संकेत प्राप्त होते है[१५]। दन्तधावन (दात्तौन) द्वारा दान्तों को स्वच्छ करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारतीय अपने दान्तों को काला या लाल रंग लेते थे[१६]। 'नाट्यशास्त्र' में दान्तों को रंगने, मुक्ता के समान श्वेत करने और पद्म के समान लाल करने के वर्णन हैं[१७]।

कालिदास ने वसन्त ऋतु में किसी सुन्दर तरुणी की कल्पना करके उसके

---

१. कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः। —ऋतु० २, २२
२. कर्पूर० १-१४। ३. ऋतु० ४-५।
४. बालभा० १-२७। ५. कर्पूर० २-१२।
६, कर्पूर० ३-३५। ७. पद्म० श्लोक २६।
८. धूर्त० पृ० ८५। ९. हनू० १४-८०।
१०. कर्पूर० ३-३३। ११. कर्पूर० १-१६।
१२. कर्पूर० १-१३। १३. बालरा० ३-२४।
१४. चण्ड० १-२५। १५. बालरा० ३-२४।
१६. वाटर्स—ह्वेनसांग—पृ० १७१ से प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका में उद्धृत।
१७. भरत—नाट्यशास्त्र २१-२८।

मुख को विभिन्न पुष्पों से अलङ्कृत किया है। वसन्त-तरुणी के लाल होठ रक्त वर्ण के अशोक से शोभित होते हैं। वह श्याम, श्वेत और अरुण वर्ण के कुरबक पुष्पों से मुख पर पत्र-रचना करती है। खिले हुये तिलक के श्वेत पुष्पों का वह माथे पर श्वेत तिलक लगाती है और इन पुष्पों के चारों ओर मंडराते भौरों का वह अञ्जन लगाती है[1]।

वक्ष—वक्ष के प्रसाधन का उल्लेख पहले कई बार किया जा चुका है। विविध द्रव्यों को पीस कर बनाये गये वर्णकों का वक्ष पर लेप होता था। कर्पूर, कुङ्कुम, कालेयक, चन्दन और हरिचन्दन का लेप करने की परम्परा थी। कालिदास ने कुङ्कुम के प्रलेप से सुन्दर पिंगल वर्ण के स्तनों का वर्णन किया है[2]। राजशेखर ने कर्पूर का[3], बिज्जिका ने केसर[4] का और शूद्रक ने कालेक का[5] वक्ष पर लेप करने का संकेत दिया है। स्तनों पर चन्दन के लेप का बहुधा वर्णन है[6]। इस प्रयोजन के लिये हरिचन्दन का अधिक समादर रहा था[7]। वसन्त ऋतु में विलासिनी स्त्रियाँ गौर वर्ण के स्तनों पर प्रियङ्गु, कालेयक और कुङ्कुम लगा कर कस्तूरी से मिश्रित चन्दन लगाती थीं[8]। स्तनों पर बनाई जाने वाली पत्ररचनाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है।

पैर—पैरों का भी समुचित प्रसाधन होता था। अलक्तक रस, कुङ्कुम और आसंग के पैरों पर लेप करने का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(३) केशों का प्रसाधन—

भारतीय समाज में केशों का प्रसाधन करने के लिये वनस्पतियों के विविध अंगों का प्रयोग अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। केशों को काला करने के लिये त्रिफला, गोखरू और लोहचूर्ण के प्रयोग का उल्लेख पहले किया जा चुका है। केश-सज्जा के विषय में रूपकों में यद्यपि विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं, तथापि यहाँ

---

१. रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणे बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥ —**मालविका० ३-६।**

२. पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः। —**ऋतुसंहार ५-९**

३. विद्ध० ३-१६।

४. कौमुदी० ५-२०।

५. पद्म० पृ० ३८।

६ आश्चर्य० १-८, पृ० १३८।

७. आश्चर्य० ७-१६।

८. प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम्॥
—**ऋतु० ६-१४।**

केवल वनस्पतिज पदार्थों से किये जाने वाले प्रसाधनों का ही वर्णन किया जा रहा है।

केशों को जूड़े या वेणी के रूप में बाँध कर पुष्प गूथे जाते थे। सुरभित पुष्पों से केशों को सजा कर युवतियाँ प्रिय को आकृष्ट करती थीं[१]। केशों को सुगन्धित धूप द्वारा सुवासित भी करते थे[२]। धूपित करने से केश सूख भी जाते थे और उनमें सुगन्ध भी व्याप्त हो जाती थी। ऐसे केश आश्यान कहे जाते थे[३]। सुगन्ध को धूपवास कहा गया था[४]। धूप द्वारा केशों को सुगन्धित करने की प्रक्रिया केश-संस्कार कहलाती थी। नायिकायें अटारी पर वातायन के समीप बैठ कर केश संस्कार कराती थीं। गवाक्षों से सुगन्धित धूप को निकलते देख कर यह सहज अनुमान किया जा सकता था कि कोई नायिका केशसंस्कार करा रही है[५]। केशों को धूपित करने के लिये अगुरु[६] या कालागुरु[७] का प्रयोग अधिक प्रचलित था।

(ग) वनस्पतिज द्रव्यों द्वारा अलङ्करण—

प्राचीन काल में भारतीयों द्वारा वनों और वाटिकाओं में उपलब्ध होने वाली वनस्पतियों के पुष्पों और पल्लवों का आभूषणों के रूप में प्रयोग प्रचुर किया जाता था। कदम्ब[८], शिरीष, सिन्धुवार[९], अशोक[१०], वासन्ती, कुन्द, कुरबक, आम्र-मञ्जरी[११] आदि पुष्पों से युवतियाँ अपने को सजाती थी। सिर, कान, ग्रीवा, वक्ष, हाथ, पैर, कटि आदि सभी अंगों पर ये आभूषण पहने जाते थे। पुष्पों और पुष्प मालाओं के विक्रय के लिये नगरों में विशेष बाजार (पुष्पवीथी) होते थे।[१२] माला-कारों द्वारा पुष्पों और पुष्पाभरणों की दूकानें सजाई जाती थी। कृष्ण ने मथुरा में मालाकारों की दूकानों से पुष्प लिये थे।[१३] पुष्पों की विशेष समृद्धि के कारण कवियों ने पुष्पवीथी की उपमा पुष्पाभरणों से सजी हुई वसन्तवधू से दी है—

',विकसित कमल इसका मुख, श्वेत कलियाँ दान्त, नवोत्पल नेत्र, लाल

---

१. कुसुमाचितं सुरभिकेशबन्धनम्। —आश्चर्य ७-१०।
२. धूर्त० श्लोक ४०।
३. तं धूपाश्याकेशान्तम्। —रघुवंश १७-२२
४. रघुवंश १६-५०।
५ जालोद्गीर्णैरुपचिततनुः केशसंस्कारधूपैः। मेघदूत—पूर्वमेघ—श्लोक ३५
६. अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशम्। —ऋतु० ५-१२।
७. शिरासि कालागुरुधूपितानि। ऋतु० ४-५।
८. कर्पूर० ४-७। ९. रत्ना० १-१०।
१०. पद्म० श्लोक २५। ११. बालरा० ३-४५।
१२. पद्म० पृ० २५। १३. दालच० पृ० ८७।

अशोक पुष्प फड़कते होठ, गुँजार करते हुये मधुप वार्ता और श्वेत पुष्प गुच्छ स्तन है। सिर पर पुष्पाभरण सजे हैं। गुंथे हुये पुष्प वस्त्र हे। वह मालाओं की उज्ज्वल मेखला पहने हैं।[1]"

कवियों ने पुष्पाभरणों से सजी हुई युवतियों का मनोरम चित्र अङ्कित किया है। ग्रीष्म ऋतु में युवतियाँ कानों में शिरोष, स्तनों पर सिन्दुवार पुष्पों का हार, अंगों पर गीला वस्त्र, कटि पर कमलों की मेखला और हाथों में मृणा वलय पहनती है।[2] उदयन ने वासवदता से अनुरोध किया था कि वह पुष्पालङ्कारों को इस प्रकार धारण करे—"कानों में नवकेतकी की पंखुड़ी, हाथों में मृणाल-वलय और सिर पर नील कमल की पंखुडियों से अनुविद्ध पुष्प।[3]"

प्रेयान् में ललित: प्रसाधनविधिदेव्या न सम्पादित: ॥—तापस० १, १५।

पुष्पाभरण धारण किये कामिनी का शरीर कवियों की दृष्टि में वसन्त का आगमन ही था। जूड़े में वासन्ती, कुन्द, कुरबक के पुष्प, वेणी के छोर पर अशोक का पुष्प, स्तनों पर सिन्दुवार के पुष्पों की माला, करो में आम्र की नव मञ्जरियाँ तथा कोपले और अञ्जलि में पुष्पों की सज्जा होती है।[4]

प्राचीन समय में युवतियाँ जब सज-धज कर बाहर निकलती थी, तो उनके शरीर पर विशेष रूप से पुष्पालंकाकर होते थें। अन्धकार होने पर भी मालाओं की सुगन्धि से ही उनकी उपस्थित्ति का बोध हो जाता था।[5]

कालिदास ने युवतियों की सज्जा में वनस्पतियों को विशेष रूप से लिया था। शकुन्तला की विदा के समय वनदेवताओं ने शाखारूपी हाथों से रेशमी वस्त्र,

---

१. पद्मोत्फुल्लश्रीमद्वक्त्रासितकुसुममुकुलदशना नवोत्पलमेखला।
रक्ताशोकप्रस्पन्दोष्ठीभ्रमररुतमधुरकथिता वरस्तबकस्तनी।
पुष्पापीडालङ्काराढ्या प्रथितशुभकुसुमवसना प्रगुज्ज्वलमेखला
पुष्पन्यस्तं नारीरूपं वहति खलु कुसुमविपणिर्वसन्तकुटुम्बिनी॥
--पद्म० श्लोक २०।

२. लीलोत्तंस: शिरीष स्तनपरिसरे सिन्धुवाराणां हारा:
अंग आर्द्रं वस्त्रं रमणप्रणयिनी मेखलोत्पलै:।
द्वयोर्दो: कन्दलयोर्नवबिसवलया कामवेयो मनोज्ञ:
तापातङ्कक्ष माणां मधुसमये गते एष वेषोऽबलानाम्।—कर्पूर ४-७।

३. किं कर्णे नवकेतकीदलरुचा शोभा न सम्पादिता
प्रत्यग्रं न मृणालनालवलयं पाणौ समारोपितम्।
नीलाब्जच्छदलाञ्छितास्सुमनसौ नोतसिता किं यथा
प्रेयान् में ललित: प्रसाधनविधिदेव्या न सम्पति:। तापस० १-१५।

४. पद्म० श्लोक २५।

५. त्वां सूचयिष्यति माल्यसमुद्भवोऽयं गन्ध:।—मृच्छ० १-३५।

लाक्षारस और सभी प्रकार के आभूषण भेंट किये थे।[१] अलकापुरी का कल्पवृक्ष युवतियों के लिये सुन्दर वस्त्र, मधु, किसलय, पुष्पाभूषण और लाक्षारस प्रदान करता था।[२] अलकापुरी की सुन्दरियाँ रात्रि में अभिसार के समय मन्दार के पुष्प केशों में पिरोती थीं और कानों में स्वर्ण-पंखुड़ियाँ धारण करती थी। जब वे तीव्र गति से चलती थीं तो ये पुष्प मार्गों पर बिखर जाते थे।[३] वहाँ की वधुवें हाथ में नील कमल, केशों में कुन्द-पुष्प, जूड़े में नव कुरवक, कानों में शिरीष और सीमन्त में कदम्ब-पुष्प का प्रयोग करती थीं। वे लोध्र के पराग से अपने मुख को गोरा करती थी।[४] शिव को प्रसन्न करने के लिये पार्वती नाना प्रकार के पुष्पाभरणों से सज कर गई थी।[५]

कालिदास ने विभिन्न ऋतुओं में भिन्न प्रकार के पुष्पाभरणों की शोभा का वर्णन किया है। इनमें वर्षा, शरद् और वसन्त अधिक आकर्षक है। वर्षा ऋतु में

---

१. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणां मांगल्यमाविष्कृतं
निष्ठयूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसैः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैः—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥—**अभिज्ञान० ४-५।**

२, वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्यामेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः।—मेघदूत **उत्तरमेघ १२।**

३. गत्युत्कम्पादलकपेतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।—मेघदूत **उत्तरमेघ ११।**

४. हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।—**मेघदूत उत्तरमेघ २।**

५. अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्कबिम्बम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीद्वितीयामिव कार्मुकस्य॥
—कुमारसम्भव ३, ५३–५५।

नवयुवतियाँ कदम्ब, केतकी की मालायें सिर पर धारण करती है।[१] नवविकसित बकुल लौर यूथिका की कलियों को मालाओं में पिरो लेती है।[२] अर्जुन वृक्ष की मञ्जरियों[३] और नव कदम्ब पुष्पों को कान का आभूषण बनाती है।[४] शरद् ऋतु में सुन्दर युवतियाँ घने काले केशों में नवमालती पुष्प भर लेती है और कानों के स्वर्ण कुण्डलों में नीलोत्पल पिरो लेती है[५] वसन्त ऋतु में वे कानों में कर्णिकार, केशों में अशोक तथा शरीर पर नवमल्लिका पुष्पों को धारण करती है।[६]

आलोच्य रूपकों में विभिन्न अंगों को पुष्पाभरणों से सजाने के विशद वर्णन उपलब्ध होते है। इनका निरूपण निम्नप्रकार से किया जा सकता हैं—

(i) सिर के पुष्पाभरण—

सिर और केशों को सजाने के लिये विविध प्रकार के पुष्पों का प्रयोग किया जाता था।[७] सिर पर मालायें रखी जाती थी।[८] कवियों ने पुष्पों के आभरणों से केशों के सुरभित रहने का प्रायः वर्णन किया है।[९] तेज चलने[१०] अथवा अधिक परिश्रम करने पर[११] ये मालायें ढीली होकर बिखर सकती थी।

---

१. मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य ।
—ऋतु २-२१।

२. शिरसि वकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च
—ऋतु० २-२५।

३. कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाश्च ।
—ऋतु० २-२१।

४. विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ।
—ऋतु० २-२५।

५. केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रान् आपूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ।।
—ऋतु० ३-१९।

६. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ।
—ऋतु० ६-६।

७. केशेषु कुसुमाढ्येषु । मृच्छ० १। केशेषु कुसुमन्यासैः । चारु० १-२१।
निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैः ।—ऋतु० ५-८।

८. स्रजमपि शिरसि · अभिज्ञान० ७-२४।

९. पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।—ऋतु० २, २२।

१०. विस्रस्तकेशस्रजः ।—बालच० ४-१।

११. शिथिलबन्धोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेन ।—अभिज्ञान० पृ० ४२०।
आश्चर्य० ७-१।

महिलायें श्वेत पुष्पों मेंनील कमलों की पंखुड़ियाँ मिला कर सिर पर धारण करती थी।[१] वे केशपाशों को कुरबक के नव पुष्पों से सुन्दर ढंग से सजाती थी।[२] वनों में युवतियाँ वन्य लताओं और पुष्पों से केशों का शृङ्गार करती थी।[३] केशों में मल्लिका के पुष्प गूँथे जाते थे।[४] कुरटक[५], अशोक[६] और अन्य पुष्पों[७] के हार शिरोभूषण के रूप में रखे जाते थे। केशों को बाँध कर उनमे[८] और वेणी में[९] पुष्पों को गूँथने का वर्णन किया गया है। सिर को चम्पक पुष्पों से सुवासित किया जाता था।[१०]

सिर के पुष्पाभरणों में दो का महत्वपूर्ण उल्लेख है—शैखरक और पुष्पापीड। शैखरक को पुरुष भी धारण करते थें।[११] पुष्पापीड पुष्पों का बड़ा आभूषण था।[१२] इसको वर्तमान समय में गजरा कहा जा सकता है। पुष्पों की दुकानें इस आभूषण से भरी रहती थी।[१३]

केशों के मध्य सीमन्त की शोभा होती थी। इसमें महिलायें पुष्प लगाती थी। इसके लिये कदम्ब का पुष्प अधिक लोकप्रिय था।[१४]

(ii) कर्ण के पुष्पाभरण—

पुष्पों और नव किसलयों द्वारा कानों को विभूषित करने का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता हैं। पुष्पित कर्णाभरण को अवतंस या उतंस भी कहा गया है।[१५] पुष्प रचित कर्णपूर[१६] और कर्णोत्पल[१७] का भी उल्लेख हुआ है। कानों को सजाने के लिये अनेक प्रकार के पुष्पों का उपयोग किया जाता था। कमल और केतकी की पंखुड़ियाँ

---

१. तापस० १, १५।
२. नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः।—ऋतु० ६–३५।
३. आश्चर्य० ४--४।
४. आश्चर्य० पृ० १३८। ५. पाद० पृ० १६८।
६. रत्ना० १-१०। ७. बालभा० १-२७।
८. रत्ना० १-१६। ९. बालभा० १-५५।
१०. सुवासितं चारुशिरश्च चम्पकैः।—ऋतु० ६-३।
११. नागा० ३-२। १२. पद्म० श्लोक १७।
१३. पद्म० श्लोक २०।
१४. सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।। —उत्तरमेघ–२।
१५. आश्चर्य० १, ८।
१६, पद्म० श्लोक १७ पाद० श्लोक १२३।
१७. धूर्त० पृ० ७८।

कानों में पहनी जाती थी।[१] कदम्बपुष्प भी इस प्रयोजन के लिये लोकप्रिय था और यह नीचे गालों तक लटकता था।[२] कर्णिकार को भी कानों में सजाने योग्य माना गया था।[३]

कर्णाभूषण में शिरीष का अधिक उल्लेख मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रमदायें इस पुष्प को कानों में लटका लेती थी।[४] इसके केसर नीचे गालों को स्पर्श करते है।[५] वसन्त ऋतु में आम्र मञ्जरियाँ भी कर्णाभूषण के निमित्त पसन्द की जाती थी।[६] वर्षा ऋतु में अर्जुन वृक्ष की मञ्जरियाँ कानों में पहनी जाती थी।[७]

नव किसलयों को कर्णाभूषण बनाने का वर्णन बहुधा किया गया है। मालविका ने अशोक वृक्ष पर पाद का प्रहार करने से पहले अशोक के नव पल्लवों के गुच्छे को कानों में पहना था।[८] सीता का पालतू हरिण शावक उसके कानों से लवली के किसलय को खींचा करता था।[९] ग्राम्य युवतियों द्वारा धान्य की मञ्जरियों को कानों में पहने जाने के वर्णन भी किये गये हैं।[१०]

(iii) ग्रीवा और वक्ष के आभूषण—

ग्रीवा और वक्ष के पुष्पाभरणों का उल्लेख कवियों ने बहुधा किया है। जन सामान्य पुष्पों की मालायें पहनते थे और इनको उपहार में भी देते थे।[११] विवाह के समय वधू को फूलों की मालायें पहनाई जाती थी।[१२] युवतियाँ जब ग्रीवा में मालायें धारण करती हैं, तो वे स्तनों तक लटक कर उनको सुशोभित करती है।[१३] स्तनों पर लगा चन्दन भी उनको चर्चित कर सकता है।[१४] वनों में जाने पर नगरों की युवतियाँ

---

१. तापस० १, १५।

२. श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन। —मृच्छ० ५-३८।

३. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारम्। —ऋतु० ६, ६।

४. अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीष कुसुमानि।—अभिज्ञान० १-४।

५. कर्णशिरीषरोधि वदने।—१, ३८। —अभिज्ञान०

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीष मागण्डविलम्बिकेसरम्।

—अभिज्ञान० ६-१८

६. चूतप्रसवः अवतंसयितव्यः। —मालविका० पृ० ७०।

७. ऋतुसंहार २, २१।

८. अशोकपल्लवशावलम्बी पल्लवगुच्छकः, अवतंसय एनम्।

—मालविका० पृ० ७२।

९. लवलीपल्लवः कर्णमूलात्। —उत्तर० ३-१५।

१०. कौमुदी १-३। ११. मालती० पृ० ६६। १२. मालती पृ० २६६।

१३. स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः। —ऋतु० ६-३।

१४. हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि। —ऋतु० ३-२०।

भी अन्य वन्य पुष्पों की मालायें पहन लेती थीं। दुष्यन्त की अंगरक्षिकाओं यवनियों ने इसी प्रकार की मालायें पहनी हुई थीं।[1] मृणाल के सूत्रों की मालायें युवतियों के स्तनों के मध्य भाग की शोभा को बढ़ाती थीं।[2]

पुरुष भी अपने चन्दन से चर्चित वक्ष पर माला धारण करते थे। इन्द्र ने मन्दार पुष्पों की माला जब दुष्यन्त को दी तो वह उसके वक्ष पर लगे चन्दन से अंकित हो गई थी।[3]

पुष्पमालाओं को गूँथने का भी बहुत रिवाज था।[4] पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही इनको गूँथा करते थे। मालती के दर्शन की प्रतीक्षा में कामदेवायतन में बैठा हुआ माधव बहुत समय तक बकुल के पुष्पों की माला गूंथता रहा था। उसने इसको मालती के लिये उपहार के रूप में दिया था।[5] मगध के अन्त.पुर में वासवदत्ता को पुष्पमाला गूंथते हुये दिखाया गया है।[6] देवता भी पुष्पमालाओं को गूंथना पसन्द करते थे।[7]

मालायें अनेक पुष्पों की बनाई जाती थीं। कुन्द, बकुल, जाती आदि पुष्पों की मालायें बनाने के उल्लेख हैं। राजाओं को स्वर्ण कमलों की मालायें बहुत पसन्द थी।[8] वक्ष पर सिन्दुवार पुष्पों की मालायें अति सुन्दर लगती थीं।[9]

माला बनाने वाले मालाकार इनको बना कर बाजारों में बेचते थे। कृष्ण ने मथुरा में एक मालाकार की दुकान से मालायें ली थी।[10] विशेष अवसरों पर ये मालायें खूब बिकती थीं। मांग अधिक होने पर ये महंगी भी हो जाती थीं।[11]

मालाओं के सौन्दर्य का कवियों ने रोचक वर्णन किया है। मरकत मणि से युक्त मुक्तामाला की उपमा भ्रमरों से आविष्ट मालतीमाला से दी गई है।[12] विशेष अवसरों पर युवक और युवतियां सुगन्धित मालाओं को ग्रीवा में धारण करते थे।[13]

---

१. वनपुष्पमालाधारिणीभिः। —अभिज्ञान० पृ० १८७।

२. न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे। —अभिज्ञान० ६-१८।

३. आमृष्टवक्षो हरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा। —अभिज्ञान० ७-२।

४. कर्पूर० पृ० ७। ५. मालती० पृ० ६६।

६. इदं बहुशो गुम्फितव्यं मह्यं च पद्मावत्यै च। —स्वप्न० पृ० ६२।

७. अनर्घ० ६-४६। ८. अनर्घ० पृ० २६५।

९. पद्म० श्लोक २५, कर्पूर० ४-७।

१०. बालच० पृ० ८७। ११. बालरा० १०-७।

१२. कर्पूर० ३-२। १३. मुद्रा० पृ० ६०।

सन्ताप की शान्ति के लिये मृणाल-हार भी पहने जाते थे।[१] राजशेखर का कथन है कि फूलों की मालायें प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं फबती। बाल कटवा देने वाली युवती इससे सुशोभित नहीं होती।[२]

(iv) हाथों के पुष्पाभरण—

हाथों में मुख्य रूप से मृणालवलय पहने जाने का वर्णन है। युवतियां वसन्त ऋतु में मृणालवलय बना कर हाथों में पहनती थीं।[३] ताजे मृणाल-वलयों को शरद् ऋतु में भी पहनने का वर्णन है।[४] इनको शृङ्गार का अनिवार्य अंग माना गया था।[५] इनका उपयोग सन्ताप को शान्त करने वाला माना जाता था।[६] विरहजन्य सन्ताप को शान्त करने के लिये शकुन्तला ने बिस का आभरण धारण किया था।[७]

सौन्दर्य की वृद्धि के लिये युवतियां हाथों में कमल-पुष्पों को लेती थीं। उदयन ने सागरिका के हाथों में लाल कमल देखा था।[८] अलकापुरी की युवतियां लालकमल हाथों में लेती थीं।[९] युवतियों के हाथ कमलों से सुशोभित होते है।[१०] पुष्पों से भरी युवतियों की अञ्जलि अति आकर्षक और मनोहारी प्रतीत होती है।[११]

(v) कटि के आभूषण——

कवियों ने कटिप्रदेश पर पुष्पालंकार पहनने का वर्णन किया है। ग्रीष्म में युवतियों द्वारा कटि पर उत्पलों की[१२] और मृणाल की[१३] मेखला को धारण करने के संकेत मिलते हैं। पार्वती केसर-पुष्पों की काञ्ची पहने थी। नितम्बों से बार-बार सरकती इसको वह हाथों से सम्भाल लेती थी। यह मानों कामदेव की दूसरी मौर्वी थी।[१४]

---

१. परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणालहार।
—रत्ना० २-१५।

२. कर्पूर० पृ० ३६। ३. विद्ध० २-१६।

४. प्रत्यग्रं न मृणालनालवलयं पाणौ समारोपितम्। —तापस० १- ५।

५. कर्पूर० ४-७।

६. मृणालैः वलयानि रचयित्वा। —रत्ना० पृ० ४८।

७. हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणम्। —अभिज्ञान० ३-२३।

८. लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः। —रत्ना० २-६।

९. हस्ते लीलाकमलम्। —मेघदूत-उत्तरमेघ २६।

१०. करकमलमनोज्ञाः। —ऋतु० ३-२३।

११. पद्म० श्लोक २५।

१२. रमणप्रणयिनी मेखलोत्पलैः। —कर्पूर० ४-७।

१३. बालरा० ५-२६। १४. कुमारसम्भव ३-५५।

५. वनस्पतियों का मानवीकरण

भारतीय मनीषियों ने प्रकृति की सुरम्य गोदी में, वनों में, पर्वतों में, नदियों की घाटियों में और वाटिकाओं मे उगने, बढ़ने और विकसित-पुष्पित होने वाली वनस्पतियों में मानव भावनाओं तथा रूप का दर्शन किया था सम्भवतः उन्होंने यह अनुभव किया था कि वनस्पतियों में भी प्राण हैं तथा इनमें मानवों के समान अनुभूति होती है। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में तरुणियों के स्पर्श से वनस्पतियों के विकसित होने की कल्पनायें की गई थीं। वनस्पतियों के प्रति सहृदय जनों का अत्यधिक स्नेह और आदर रहा है तथा उनके प्रति मातृभाव, भ्रातृभाव, पुत्रभाव आदि की कल्पना की गई है। शृङ्गारवादी कवियों ने अभिव्यक्त किया है कि किन्हीं विशिष्ट वनस्पतियों में काम-भावना को उद्दीप्त करने की अद्भुत क्षमता है और वे मानों कामदेव के बाण हैं। कवियों ने वनस्पतियों के विभिन्न अङ्गों में मानव-सौन्दर्य का भी अवलोकन किया था। इसी कारण काव्यों में मानव-सौन्दर्य के निखारने के लिये वनस्पतियों को उपमान बनाया गया है। इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में निम्न तथ्यों पर विचार करना उपयोगी होगा—

(क) तरुणियों के स्पर्श से वनस्पतियों का पुष्पित होना।
(ख) वनस्पतियों द्वारा मानव में काम-भावना को उत्पन्न करना।
(ग) वनस्पतियों तथा मानव की भावनाओं का साम्य।
(घ) वनस्पतियों के प्रति मातृभाव आदि की कल्पना।
(ङ) मानव शरीर में वनस्पतियों के समान कान्ति।
(च) वनस्पतियों का मानव-शरीर (समग्र) से साम्य।
(छ) वनस्पतियों के विभिन्न अङ्गों का मानव के विभिन्न अङ्गों से साम्य।

(क) तरुणियों के स्पर्श से वनस्पतियों का पुष्पित होना—

संस्कृत नाटककारों ने प्राचीन परम्पराओं और काव्य-सत्य को स्वीकार करते हुये यह कल्पना की है कि कतिपय वनस्पतियों में तरुणियों के सस्पर्श से पुष्प खिलते हैं। प्राचीन संस्कृत नाटकों में चार प्रमुख वनस्पतियों (वृक्षों) का इस सम्बन्ध में उल्लेख है—कुरबक, बकुल, अशोक और तिलक। नाट्यकारों ने इन वनस्पतियों के सम्मिलित रूप से और अलग-अलग करके तरुणी-स्पर्श द्वारा पुष्पित होने का रोचक वर्णन किये है। वृक्षों की इस अभिलाषा को दोहद नाम दिया गया है। कवियों की मान्यता है कि ये वृक्ष रमणियों के सौन्दर्य के प्रभाव से विकसित होते है।[1] आधुनिक वनस्पति-विज्ञान ने भी सिद्ध किया है कि वनस्पतियों में संवेदना होती है। वे मधुर संगीत और मधुर स्पर्श से प्रफुल्लित हाते हैं।

१. तरवोऽपि रूपरेखारहस्येन विकसन्ति। —कर्पूर० पृ० १४५।

कालिदास, हर्ष, अनङ्गहर्ष, राजशेखर आदि कवियों ने अपने रूपकों में अशोक, बकुल, तिलक और कुरबक के दोहद को विशेष रूप से अभिव्यक्त किया है। कालिदास ने अशोक के दोहद को पूरा करने का अति मनोरम चित्रण किया है। जिस प्रकार पुरुष में यौवन का प्रादुर्भाव होने पर किसी युवती नारी से प्रणय करने की भावना उत्पन्न होती है, और उसका उपभोग करने की क्षमता है, उसी प्रकार की कामना अशोक वृक्ष में भी उत्पन्न होती है।[1]

कालिदास ने वर्णन किया है कि अशोक युवतियों के वाम पाद के प्रहार से कुसुमित होता है। यदि क्षीण कटि युवती के नूपर का शब्द करते कोमल चरण के स्पर्श से भी अशोक कुसुमित न हो, तो उसका रसिक कामियों के समान दोहद की अभिलाषा करना व्यर्थ ही है।[2] युवती के चरण-प्रहार का स्पर्श प्राप्त किये बिना अशोक में पुष्पों का आविर्भाव सम्भव नहीं है। इसी तथ्य की कल्पना करके कुमार-वन में अशोक को पुष्पित देख कर पुरुरवा का निश्चय होता है कि यह वृक्ष निश्चय रूप से उर्वशी के विषय में जानता होगा। यह पुष्पित है तथा इस पर पुष्पों का आविर्भाव उर्वशी के पादप्रहार से ही हुआ है।[3] अलकापुरी की यक्षिणी के भवन में अशोक वृक्ष है। वहां बकुल का वृक्ष भी है। पुष्पित होने के लिये इनमें से एक अशोक को तो उस यक्षिणी के वाम पाद के प्रहार की अभिलाषा है और दूसरा बकुल वृक्ष उसके मुख की मदिरा को चाहता है।[4]

हर्ष ने अपनी कृतियों में अशोक और बकुल के दोहद का संकेत दिया है। वसन्त ऋतु का मनोरम आविर्भाव हो गया है। युवतियों ने बकुल के मूल में अपने मुखों से मदिरा उडेल दी है। इससे बकुल वृक्ष पुष्पों से भर गया है। वृक्ष से पुष्पों

---

१. उपारूढरागः उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते। —मालविका० पृ० ७२।

२. अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः।
अशोक यदि सद्य एव कुसुमैर्न सम्पत्स्यते वृथा वहसि दोहदं ललितकामि-
साधारणम्।
—मालविका० ३-८।

३. रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः
तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥ —विक्रम० ३-६२।

४. रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः॥ —मेघदूत–उत्तरमेघ १८।

के झड़ने से यह मदिरा भी सुगन्धित हो गई है। अशोक वृक्ष पर पाद-प्रहार करने से युवतियों के नूपुर मधुर ध्वनि कर रहे हैं, जिनकी ताल के साथ भौरे गुनगुना रहे हैं।[१]

अनङ्गहर्ष ने कुरबक, बकुल और अशोक के दोहद का वर्णन किया है। कुरबक वृक्ष युवती के प्रगाढ आलिंगन की, बकुल वृक्ष उसके मुख के आसव से सिञ्चन की और रक्ताशोक उसके चरणप्रहार की कामना करता है।[२]

अशोक आदि के दोहद के सम्बन्ध में राजशेखर ने विस्तृत विवरण दिया है। वसन्त ऋतु का शुभ आगमन हुआ है। महारानी ने कर्पूरमञ्जरी को आदेश दिया है कि कुरबक, तिलक और अशोक वृक्षों को दोहद प्रदान करे, क्योंकि ये वृक्ष युवतियों के आलिंगन, दर्शन और चरणप्रहार से पुष्पित होते हैं।[३] कुम्भ के समान स्थूल स्तनों वली कर्पूरमञ्जरी ने कुरबक वृक्ष का आलिंगन किया और वह वृक्ष तुरन्त ही पुष्पों से भर गया तथा उस पर भ्रमर मंडराने लगे।[४] कर्पूरमञ्जरी के आलिंगन से विकसित कुरबक के ये पुष्प मानों कामदेव के बाण थे।[५] तदनन्तर कर्पूरमञ्जरी ने तिलक वृक्ष पर कटाक्ष डाला। इससे वह वृक्ष इस प्रकार मञ्जरियों से भर गया, मानों उसको रोमाञ्च हो गया हो।[६] इसके बाद कर्पूरमञ्जरी ने नूपुर को बजाने वाले चरण से

---

१. मूले गण्डूष सेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्य भान्ति।
आकर्ण्याशोकपादाहतिषु चरणतां निर्भरं नूपुराणां
झङ्कारस्यानुगीतैरनुरणनमिवारभ्यते भृङ्गसार्थैः। —रत्ना० १-१८।

२. कुरबकतरुर्गाढाश्लेषं मुखासवतालनं
बकुलविटपी रक्ताशोकस्तया चरणाहतिम्॥ —तापस० २-२३।

३. कुरबकतिलकाशोका आलिंगनदर्शनाग्रचरणहताः।
विकसन्ति कामिनीनां तत्तेषां देहि दोहदकम्॥ —कर्पूर० २-४१।

४. नवकुरबकः कुम्भस्तन्या रभसविरचितेन निभरालिङ्गनेन।
तथा कुसुमसमृद्धि लम्भितः सुन्दर्या यथा भ्रमरकुलानां तत्र यात्रा प्रवृत्ता॥
—कर्पूर० २-४४।

५. बालोऽपि कुरबकतरुस्तरुण्या गाढमुपगूढः।
सहसेति कुसुमनिकरं मदनशरमिव समुद्गिरति॥ —कर्पूर० २-४५।

६. नेत्रयोस्तिलकद्रुमे पतिता घाटी मृगाक्ष्या यदि।
तस्स मञ्जरीगुञ्जदन्तुरशिरा रोमाञ्चित इव स्थिता॥
—कर्पूर० २-४६।

अशोक वृक्ष पर ज्योंही विलास के साथ प्रहार किया, उस वृक्ष के सभी शिखरों पर सुन्दर देखने योग्य पुष्पों के गुच्छे चमकने लगे।[१]

(ख) वनस्पतियों द्वारा मानव में काम-भावना उत्पन्न करना—

संस्कृत कवियों ने कुछ वनस्पतियों के सम्बन्ध में यह कल्पना की थी कि वे मनुष्यों की भावनाओं पर, विशेष रूप से शृङ्गार की भावनाओं पर विशेष प्रभाव डालते हैं। संयोग की अवस्थाओं में यदि वे मिलन के आनन्द में वृद्धि करते हैं तो विरह की अवस्था में वियोग-जन्य पीड़ा को बढा कर हृदय को झुलस देते हैं। कल्पना की गई थी कि ये वनस्पतियां कामदेव के बाण हैं, जो तरुणी-तरुणियों के हृदय पर प्रबल आघात करते हैं। संस्कृत साहित्य में कामदेव के बाणों के लिये पञ्च वृक्षों का विशेष नाम लिया गया है। अरविन्द, अशोक, चूत (आम्र), नवमल्लिका और नीलोत्पल पुष्पों को कामदेव का बाण माना गया है। इन पाँचों में भी आम्र सबसे अधिक प्रभावशाली है। वसन्त ऋतु का उद्गम होते ही युवतियां आम्र की मञ्जरियों को तोड़ कर कामदेव का पूजन किया करती थीं, क्योंकि यह कामदेव का सबसे अधिक शक्तिशाली बाण है।[२]

कवियों ने आम्र और अशोक को कामदेव का विशेष अस्त्र माना था। कामदेव के लिये कहा गया कि विकसित आम्र के अंकुर ही उसके तीक्ष्ण बाण हैं।[३] वह विरही जनों के लिये विशेष रूप से त्रासदायी हैं। दुष्यन्त को जब शकुन्तला स्मृति उपलब्ध हुई, उसी समय वसन्त का आगमन हुआ और कामदेव ने विकसित आम की मञ्जरी रूप बाण को धनुष पर चढ़ा लिया।[४]

वनस्पतियों द्वारा विरही जनों की पीड़ा की अभिवृद्धि का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। इस सम्बन्ध में महाकवि श्रीहर्ष के वर्णन अधिक रोचक हैं। अशोक के

---

१. अशोकतरुताडनं रणितनूपुरेणाङ्घ्रिणा
कृतं मृगलाञ्छनच्छविमुख्या हेलोल्लासम् हेलोल्लासम्
शिखासु सकलास्वपि स्तवकमण्डनाडम्बरं
स्थितं च गगनाङ्गनं जननिरीक्षणीयं क्षणम्। —कर्पूर० २-४७।

२. चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि—
त्वमसि मया चूताङ्कुर सकामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव॥ —अभिज्ञान० ६-२।

३. प्रफुल्लचूताङ्कुर, तीक्ष्णसायक। ऋतु० ६-१।

४. मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेनसखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः। अभिज्ञान० ६-१।

पल्लव मानों कामदेव के जलते हुये अस्त्रों का समूह हैं।[१] कैतकी के पत्ते अपने आरे के सदृश किनारों से वियोगियों के हृदयरूपी लकड़ियों को चीर देते हैं।[२] पलाश मानों वियोगियों के यकृत को खाकर अपने नाम को (पलं वियोगिनां मांसमश्नाति इति पलाशः) सार्थक करता है।[३] आम्र का पुष्पित वृक्ष भ्रमरों द्वारा मानों हुंकार करता हुआ पवन से हिलती हुई कलियों से वियोगियों को झिड़कता है।[४] चम्पा के श्वेत पुष्पों पर बैठे हुये काले भ्रमर वियोगियों की मृत्यु के सूचक धूमकेतु हैं।[५] पाटला के पुष्पों का गुच्छा मानों कामदेव का तूणीर है।[६]

(ग) वनस्पतियों और मानव की भावनाओं का साम्य—

संस्कृत नाटककारों ने मानव भावनाओं, विशेषतः शृङ्गार की भावनाओं को वनस्पतियों में प्रदर्शित करने के माध्यम से उनकी तथा मानव की भावनाओं की तादात्म्यता को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। युवतियों के हृदय पुष्पों के समान कोमल होते हैं।[७] विशेष रूप से अशोक के।[८] कवियों ने युवती कन्या के मन को इसी प्रकार कोमल और संवेदनशील कहा है, जो अपने स्थान से उखड़ जाने पर कभी सुखी नहीं रहती।[९]

---

१. अशोकमर्थान्वितनामताशया गता छरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्।
नैषधीयचरितम् १·१०१।

२. स्फुटं च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते।
नैषध० १-८०।

३. स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशैऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्।
नैषध० १-८४।

४. रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभयम्।
नैषध० १-८९।

५. अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमाशङ्कितवानशङ्कत। **नैषध०** १-९१।

६. स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया स पाटलायाः स्तवकं प्रकम्पितः।
नैषध० १-९५।

७. कुसुमकोमलम् हृदयम्। विक्रम० १-८।

८. मालती० पृ० ९४।

९. मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव। **अभिज्ञान०** पृ० ३१६।

संस्कृत कवि स्त्री-पुरुष मिलन में लता-वृक्ष के मिलन की कल्पना प्रायः करते रहे हैं। मानव-समाज में कोमल शृङ्गार की भावना से भरी हुई युवती का काम-भावना से सम्भृत युवक से मिलना इसी प्रकार है, जैसे कि कोई कोमल लता किसी सबल वृक्ष का आश्रय लेती है। यह प्रणयी-प्रणयिनी और पति-पत्नी के मिलन का ही रूप है। जिस प्रकार चढ़ते यौवन वाली युवती को प्रबल शक्तिशाली पुरुष ही सम्भाल सकता है, उसी प्रकार पल्लवित अतिमुक्तलता को सम्भालना सबल आम्र वृक्ष का ही सामर्थ्य है।[१] यह अतिमुक्तलता (वनज्योत्स्ना) अब नव पुष्परूपी यौवन से भरपूर है तथा आम उसका उपभोग करने में सक्षम है।[२] योग्य वृक्ष से वनज्योत्स्ना लता का मिलन ऐसा ही है, जैसे युवती द्वारा योग्य वर पाना।[३] कालिदास ने वर्णन किया है कि अग्निमित्र द्वारा मालविका को स्वीकार करना ऐसा ही है, जैसे कि आम्र वृक्ष द्वारा अतिमुक्तलता को सहारा देना।[४] ताम्बूल लता द्वारा सुपारी वृक्ष का आश्रय लेने में राजशेखर ने प्रणयी-प्रणयिनी के मिलन की कल्पना की है।[५]

कवियों ने लता-वृक्ष मिलन में वर-बधू भाव की कल्पना भी की है। कालिदास का कथन है कि लता वधू है और वृक्ष वर हैं। लताओं के किसलय ओष्ठ हैं। पुष्पस्तबक स्तन हैं। शाखायें भुजायें हैं और उनसे वृक्ष आलिङ्गन प्राप्त करते हैं।[६] उपवनों में कन्यायें लता को उगा कर वृक्ष के साथ बाँधती हुई उनमें प्रणयी-प्रणयिनी भाव की कल्पना किया करती थीं। कण्व के तपोवन में तापस कन्याओं ने नवमालिका का नाम वनज्योत्स्ना रख कर उसको सहकार वृक्ष की स्वयंवरवधू के रूप में देखा था[७]। बिज्जिका ने आम्र वृक्ष के आश्रय से बढ़ने वाली माधवी लता को

---

१. कः सहकारमन्तरेण अतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।
अभिज्ञान० पृ० २३९।

२. नवकुसुमयौवा वनज्योत्स्ना स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।
अभिज्ञान० पृ० १५७।

३. यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नाम एवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयमिति। अभिज्ञान० पृ० १५७।

४. परिग्रहाण सखे सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि।
मालविका० ४-१३।

५. विद्ध० ४·११।

६. पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुः विनम्रशाखाभुजबन्धनानि।
कुमारसम्भव ३-३९।

७. स्वयवरवधू सहकारस्य कृतनामधेया वनज्योत्स्ना। अभिज्ञान० पृ० १३३।

उसकी प्रणयिनी के रूप में कल्पित किया था।[1] शकुन्तला को अपने पति के साथ संगत देख कर कण्व ने उसी प्रकार निश्चिन्तता का अनुभव किया, जैसे कि नवमालिका को आम्र के साथ संगत देख कर हुआ।[2]

वृक्षों में पुरुष भाव तथा लताओं में कामिनी भाव के दर्शन सदा ही होते हैं। शकुन्तला एक लता ही है। जब वह बकुल के सहारे खड़ी होती है तो यह वृक्ष लता से सनाथ प्रतीत होता है।[3] कोमल वनस्पतियाँ प्रकृति में प्रणयिनी की भूमिका अदा करती हैं। भ्रमरों द्वारा पुष्पों के रस का पान उसी प्रकार किया जाता है, जैसे किसी प्रणयी द्वारा प्रणयिनी के अधर का पान किया जाता है।[4] कमल और कुमुद में नारी भाव की कल्पना करके कवियों ने इनको कमलिनी और कुमुदिनी माना, जिनके प्रेमी क्रमशः सूर्य और चन्द्र हैं। कमलिनी सूर्य के स्पर्श से ही विकसित होती है।[5] और कुमुदिनी के विकसित होने के लिये चन्द्र की किरणों के स्पर्श का होना अनिवार्य है।[6]

धर्त स्त्री-पुरुषों के मिलन में उन तला-वृक्षों के मिलन भाव की कल्पना है, जो कटु तथा कठोर होते हैं। इस भाव को प्रदर्शित करने के लिये कवियों ने मानव-समाज में धूर्त वेश्याओं को और धूर्त विटों को लिया। वनस्पतियों में क्रौञ्च, पटोल करेला (कारवल्ली) लताओं को तथा खरिद, निम्ब वृक्षों को छांटा गया। धूर्त वेश्या और धूर्त विट का मिलन ऐसा ही है, जैसे कि क्रौञ्च लता का खदिर से, पटोल लता का निम्ब से[7] और कारवेल्ली लता का निम्ब के आश्रय से बढ़ना है।[8]

वनस्पतियों में उन मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की गई है, जो सुख-

---

१. कौमुदी० २-२।

२. संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गतासि।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयं तस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः।
अभिज्ञान० ४-१३।

३. अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्यषट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य।
अभिज्ञान० ३-२१।

४. अनर्घ० १-१, १-४, १-५, **चण्ड०** १-१६।

५. निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्। **विक्रम०** १–६।

६. हनू० २-४, मुद्रा० २-७
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
अभिज्ञान० ४–३।

७. पाद० श्लोक ११६। ८. विद्ध० पृ० १४०।

दुःख और संयोग-वियोग की घटनाओं से मानव में, विशेष रूप से नारी में होती है। दीर्घ शोक युवतियों के शरीर को क्षाम और ग्लपित करता है। शरद् ऋतु की धूप भी इसी प्रकार केतकी के कोमल पत्तों को क्षाम और ग्लपित करती है।[1] विरहावस्था में असीम दुःख के कारण युवतियों की देहयष्टि अति दुर्बल होकर भी अति रमणीय प्रतीत होती है। यह इसी प्रकार है, जैसे कि प्रियंग और श्यामा लता में है।[2] प्रियजन के विदा होने पर नारियों के समान लतायें भी अश्रु बहाती हैं। शकुन्तला द्वारा आश्रम से पति गृह की ओर प्रस्थान करने पर आश्रम की लताओं ने पाण्डु पत्रों के माध्यम से मानों आंसुओं को गिराना ही प्रारम्भ कर दिया था।[3]

कवियों ने वनस्पतियों में वात्सल्य भाव की भी कल्पना की है। तपोवन में क्रीडा करने वाली कन्याओं को ये वनस्पतियाँ अति स्नेह करती हैं। इनके पतिगृह जाने पर नानाविध उपहार देकर वे अपने को धन्य मानती हैं। शकुन्तला की विदा के समय वन्य वनस्पतियों ने उसको रेशमी जोड़ा, लाक्षारस तथा विविध आभूषण भेंट किये थे।[4]

महिलाओं के भय की भावना को कवियों ने कोमल वनस्पतियों में अभिव्यक्त किया है। शकार से पीछा की जाती हुई वसन्तसेना उसी प्रकार कांप रही थी, जिस प्रकार कोई छोटा कदली का पौधा कांपता है।[5]
प्रिय के स्पर्श से युवक तथा युवती में रोमांच का हो जाना स्वाभाविक है। कवियों ने इस संवेदना का वनस्पतियों में अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। इस हेतु कदम्ब वृक्ष कवियों को अति प्रिय प्रतीत हुआ था। वसन्तसेना का आलिंगन करके चारुदत्त का शरीर रोमाञ्चित होकर मानों कदम्ब का पुष्प बन गया था।[6] शृङ्गार की लज्जा से सुशोभित रोमांचित युवतियों का मुख कदम्ब पुष्प के समान होता है। उन पर यह रोमाञ्च उसी प्रकार होता है, जैसे कि कदम्ब पुष्प पर केसर खड़े होते हैं।[7]

---

१. ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरम्।
शरदिज इव धर्मः केतकीगर्भपत्रम्। उत्तर० ३-५।

२. प्रियङ्गुश्यामाङ्गप्रकृतिरपि चापण्डु मधुरं
वपुः क्षामं क्षामं वहति रमणीयं च भवति। मालती० ३-६।

३. अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रुणीव लताः। अभिज्ञान० ४-१२।

४ अभिज्ञान० ४-५।

५. बालकदलीव विकम्पमाना। —मृच्छ० १-२०।

६. संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्।
—मृच्छ० ५-४७।

७. विद्ध० २-१।

राम के स्पर्श से सीता का शरीर भी कदम्ब की विकसित कली के समान रोमाञ्चित हो गया था।[1] श्रीहर्ष ने एक पद्य में अनार के कांटों को रोमाञ्च के समान बताया है, जो प्रिय की स्मृति मात्र से उत्पन्न होते हैं।[2]

वनस्पतियों के प्रति न केवल कोमल शृङ्गारिक भाव ही अभिव्यक्त किये गये हैं, अपितु उनमें कवियों ने साधु जनों के उत्तम गुणों की भी कल्पना की है। वृक्षों के नव किसलय साधु जनों के गुण रूप हैं। शाखायें विनम्र भाव हैं। मूल विश्वासरूप है और पुष्प उनके कमनीय आकर्षक उपादान हैं। इन पर जो फल लगते हैं, वही उनका श्रेष्ठ धन है। जिस प्रकार वृक्षों का आश्रय लेने वाले पक्षी इन फलों को खाकर संतृप्त होते हैं, उसी प्रकार साधु जनों के धन का उपभोग उनके आश्रित जनों को प्राप्त होता है।[3]

बुरे तथा अच्छे कार्यों के प्रति वनस्पतियों में प्रतिक्रिया होती है। इस भाव को कालिदास ने प्रकट किया है। यदि राजा कोई बुरा काम करते हैं तोड़ उनके राज्य में वनस्पतियों की वृद्धि रुक जाती है।[4]

(घ) वनस्पतियों के प्रति मातृभाव आदि की कल्पना—

मानव-समाज के प्रति वनस्पतियों की उपयोगिता एवं कल्याणकारिता को लक्ष्य करके कवियों ने इनके प्रति विभिन्न आत्मीय सम्बन्धों का भाव भी परिलक्षित किया था। इन वनस्पतियों के प्रति भ्रातृभाव, भगिनीभाव, पुत्रभाव, पुत्रीभाव, मातृभाव, गुरुभाव आदि की कल्पनायें संस्कृत कवियों ने की हैं। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय समाज में वनस्पतियों के प्रति मानवीय भावनाओं का तादात्म्य कितना था।

उपवनों में वनस्पतियों की देखभाल करने वाली कन्यायें वृक्षों के प्रति सगे भाई का सा स्नेह करती थीं। वे वृक्षों का सिञ्चन केवल गुरुजनों के आदेश का पालन करने के लिये ही नहीं करती थीं, परन्तु उनके प्रति स्नेह के कारण यह कार्य करती

---

१. सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा।
मरुन्नवाम्भः परिधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव।
—उत्तर० ३-४७।

२. वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
—नैषध० १-८३।

३. गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति।
—मृच्छ ४-३२।

४. प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम्। —अभिज्ञान० ५-९।

थीं। शकुन्तला कहती है कि वृक्षों के सींचने को वह केवल पिता के आदेशमात्र से ही नहीं करती, किन्तु सोदर स्नेह इसमें मुख्य हेतु है।[१] इनके सिञ्चन को भूलने का अर्थ है, अपने को भी भूल जाना।[२]

वृक्षों के प्रति यदि शकुन्तला का सगे भाई का सा स्नेह है तो लताओं को वह अपनी भगिनी समझती है। आश्रम से विदा होते समय वह अपनी वनज्योत्स्ना नाम की भगिनी का आलिंगन किये विना कैसे जा सकती है। क्योंकि वह अब उससे बहुत दूर जा रही है।[३] वन्य वनस्पतियों द्वारा अनुमति मिलने पर ही वह पति के घर को जा सकती है।[४] वनज्योत्स्ना के प्रति शकुन्तला के इस भाव को सभी जानते हैं।[५] विदा के समय वन्य लतायें भी पवन से हिलते पल्लवरूपी अंगुलियों से उसको अपने समीप बुलाती हैं।[६] इस स्नेह के कारण ही शकुन्तला वृक्षों और लताओं को जल पिला कर स्वयं जल पीती थी और शृङ्गार की प्रेमी होते हुये भी उनके किसलयों को तोड़ती नहीं थी। उनके प्रथम पुष्प आने पर वह उत्सव का आयोजन करती थी।[७]

कवियों ने वनस्पतियों में मातृभाव की भी कल्पना की है। आमलकी को धात्री नाम इसीलिये दिया गया था, क्योंकि वह पालन करने वाली धात्री के समान मानव समाज का कल्याण करता है।[८] वाटिकाओं में खड़े हुये वृक्षों में गुरु-शिष्य

---

१. न केवलं तातनियोग एव, अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु।
—अभिज्ञान० पृ० ३०३।

२. तदाऽऽत्मानमपि विस्मरिष्यामि। —अभिज्ञान० पृ० १५७।

३. वनज्योत्स्ने चूतसंगतापि प्रत्यालिङ्ग मां शाखाबाहुभिः। अद्य प्रभृति दूरवर्तिनी ते भविष्यामि। —अभिज्ञान० पृ० १५०

४. अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
—अभिज्ञान० ४-१०।

५. शकुन्तला—तात! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये।
काश्यपः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम्। —अभिज्ञान० पृ० ३०३।

६. वातेरितपल्लवांगुलिभिः। —अभिज्ञान० पृ० १५४।

७. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञयताम्। —अभिज्ञान० ४-९

८. कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान्।
—नैषध० १-९८।

भाव की भी कल्पना हुई है। ये वृक्ष अपने शाखारूपी करों में फलों और पुष्पों को लेकर वृद्ध महर्षियों से अतिथियों का सत्कार करने की शिक्षा लेते हैं।[१]

संस्कृत कवियों ने वनस्पतियों में मित्र, पुत्र और पुत्री भावों की भी कल्पनायें की हैं। मालविका द्वारा अशोक वृक्ष पर पाद प्रहार करने पर विदूषक उससे कहता है कि क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि तुम हमारे आदरणीय राजा के प्रिय मित्र इस अशोक वृक्ष पर बायें पैर से पाद का प्रहार करो।[२] देवदारु वृक्ष को कालिदास ने स्वयं शिव और पार्वती के पुत्र के रूप में कल्पित किया था, जिसको पार्वती स्वर्ण घटों में जल भर कर उसी प्रकार सींचा करती थीं, जैसे कि वे घटरूपी स्तनों से स्कन्द को दूध पिलाती थीं।[३] उपवन की लताओं से ऋषिगण अपनी पुत्री के समान स्नेह करते थे। नवमालिका लता कण्व की पुत्री ही थी। जिस प्रकार शकुन्तला द्वारा पति का आश्रय पा लेने पर वे निश्चिन्त हुये थे, उसी प्रकार नवमालिका द्वारा आम का आश्रय लेने पर भी हुये थे।[४]

भास भी वृक्षों को पुत्रों के तुल्य स्नेह करने का उपदेश देते हैं। राम और सीता जब जनस्थान में रहते थे तो वृक्षों को पुत्रों के समान मान कर स्नेह से बढ़ाते थे।[५] इन वृक्षों को बड़ा होता देख कर वे बहुत प्रसन्न हुये थे।[६] कण्व को अपने आश्रम के वृक्ष सन्तान से भी अधिक प्रिय थे।[७]

शूद्रक ने वर्णन किया है कि सहृदय भावुक जनों के हृदय में वनस्पतियों के प्रति अति कोमल वात्सल्य भाव होता है और वे कुसुमित वनस्पतियों से पुष्पों को भी तोड़ना अनुचित समझते हैं। चारुदत्त इसीप्रकार का भावुक नायक है, जो

---

१. फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्धकाद् वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।
—नैषध १-७७।

२. युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको वामपादेन ताडयितुम्।
—मालविका० पृ० ७४।

३. अमुं पुरः पश्यसि देवदारु पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।
—रघुवंश २,३६।

४. अभिज्ञान० ४-१३।

५. अप्यत्र ज्ञायन्ते पुत्रकृतकाः वृक्षाः। —प्रतिमा० पृ० १७२।

६. प्रतिमा० पृ० १७३।

७. त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्य आश्रमवृक्षकाः प्रियतराः।
—अभिज्ञान० पृ० १५०।

कुसुमित भी माधवी लता से पुष्पों को नहीं तोड़ता कि लता को खींचने से उसके पल्लव न टूट जावें।[1]

(ङ) मानव शरीर में वनस्पतियों के समान कान्ति—

कवियों ने वनस्पतियों की कान्ति को मानव शरीर में अपनी क्रान्तदर्शी दृष्टि से अवलोकित किया था। शरीर के गौर और श्यामल वर्ण तथा कान्ति के लिये उन्होंने विभिन्न वनस्पतियों को उपमान बनाया था। उन्होंने न केवल नारी के ही शारीरिक वर्ण और कान्ति के सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिये वनस्पतियों को उपमान बनाया, अपितु पुरुषों और देवताओं के शरीरों के वर्णनों में भी विभिन्न पुष्पों के सौन्दर्य के दर्शन किये थे। विष्णु को कुवलय-दल के समान श्याम-वर्ण और राम को दूर्वा के समान श्याम कहा गया है।[2] शिव गौर-वर्ण हैं, जो कपूर के समान स्वच्छ हैं।

युवतियों के शरीर के श्याम और गौर वर्ण में कवियों ने विविध पुष्पों का सौन्दर्य देखा था। किन्तु गौर वर्ण को ही कवियों ने अधिकांश रूप में पसन्द किया। केवल कुन्तल देश की महिलायें श्याम वर्ण कही गई हैं। वे अगुरु के समान[3] और दूर्वा के समान श्यामल होती हैं।[4]

युवतियों के गौर वर्ण की तुलना कवियों ने अनेक वनस्पतियों से की है। इनमें कर्पूर, कदली के स्तम्भ का भीतरी भाग, कमल-केसर का पराग, चम्पक पुष्प और शरकाण्ड प्रमुख हैं। लाट देश की तरुणियाँ कर्पूर के समान गौर वर्ण की होती है।[5] मालती सरस कदली के तने के भीतरी भाग के समान गौर वर्ण तथा सुन्दर थी।[6] हर्ष सुन्दर शरीर को कमल-केसर के पराग के समान कान्ति वाला कहते हैं।[7] सुन्दर युवतियों के शरीर चम्पक पुष्प के समान गौर वर्ण होते हैं।[8] गोपाङ्गनायें भी चम्पक पुष्पों के समान गौर वर्ण थी।[9] शक्तिभद्र ने सीता के[10] और

---

१. यः कुसुमितां माधवीलतामाकृष्य कुसुमावचयं न करोति कदाचिदाकृष्टतया पल्लवच्छेदो भवति। —मृच्छ० पृ० ३७०।

२. दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामः। —बालच० पृ० १-१।

३. विद्ध० पृ० १०४।

४. विद्ध० ४-१४।   ५. विद्ध० पृ० १०४।

६. सरसकदलीगर्भसुभगा। —मालती० २, ३।

७. उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते। —नागा० १-४।

८. हनू० ५-३।

९. गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्पगौराः। —बालच० ३-२।

१०. शरकाण्डपाण्डुगात्रलेखा। —आश्चर्य० ५-३०।

कालिदास ने मालविका के[1] शरीर को शरकाण्ड के समान गौर वर्ण का वर्णित किया है।

कवियों ने युवतियों के शरीर को कान्ति में पुष्पों के सौन्दर्य के दर्शन किये थे। गौर वर्ण की युवतियों की कान्ति में श्वेत पुष्पों का सौन्दर्य प्रदर्शित किया गया है। इस कान्ति की उज्ज्वलता को अभिव्यक्त करने के लिये प्रायः चम्पक, मधूक, श्वेत कमल, कुमुद और लोध्र का पराग उपमान के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

मालती का शरीर चम्पक पुष्पों के समान सुन्दर तथा चमकीला था।[2] कर्पूरमञ्जरी के शरीर की भी यही अवस्था थी।[3] सीता का सौन्दर्य भी इसी प्रकार का था।[4] भवभूति ने सीता के शरीर को मधूक पुष्पों के समान, कान्तिमान्, लावण्ययुक्त और सुन्दर कहा है।[5] वे मालती को एक स्थान पर श्वेत कमलों की सी कान्ति वाला[6] और दूसरे स्थान पर लोध्र के पराग के सदृश कान्ति वाला[7] वर्णित करते हैं। कालिदास ने युवतियों के शरीर को कुमुद के समान रुचिर कान्ति वाला कहा है।[8]

(च) वनस्पतियों का मानव-शरीर (समग्र) के साथ साम्य—

मानव शरीर के बाह्य सौन्दर्य का वनस्पतियों के सौन्दर्य से एकात्म्य भाव प्राचीन संस्कृत कवियों ने विशेष रूप से अभिव्यक्त किया है। वर्णन की सुविधा के लिये इस प्रसंग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—समग्र शरीर से साम्य और विभिन्न अङ्गों का सादृश्य। प्रकृति में वनस्पतियों में कोमलता और बाह्य आकृति के सादृश्य के कारण इस तादात्म्य की प्रायः नारी के शारीरिक सौन्दर्य में कल्पना की गई है। यही कारण है कि कालिदास को उद्यान की लताओं की अपेक्षा भी वन्य लतायें अधिक आकर्षक लगीं, क्योंकि वे प्रकृति के अधिक समीप हैं। शकुन्तला एक प्रकार से वन्य लता ही थी। उसने अपने सौन्दर्य गुण से राजमहल की सुन्दरियों रूपी उद्यान लताओं को पराजित कर दिया था।[9]

---

१. शरकाण्डपाण्डु। —मालविका० ३–८।
२. परिमृदितचम्पकावलीविलासलुलितैरङ्गैः…। —मालती० ३–६।
३. नवचम्पकाङ्गी…। कर्पूर० २–४२।
४. बालरा० १०–१५।
५. अङ्गैर्मधूकपुष्परुचिभिर्लावण्यसारैरियम्। —महावीर० २–२१।
६. असितोत्पलद्युतिशरीरम्। —मालती० ९–३८।
७. नवेषुलोध्रप्रसवेषु कान्ति। —मालती० ९–२७।
८. कुमुदरुचिरकान्तिः। —ऋतुसंहार ३–२८।
९. दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलताः वनलताभिः। —अभिज्ञान० १–१७।

नारी के शरीर की एक वाटिका के रूप में कल्पना है। नारी के नयन विकसित नील कमल हैं। कर कमलों से भरे जलाशय हैं। मुख चन्द्रमा है और दन्त जाती के पुष्प हैं। नारी के प्रत्येक अंग में शरत्कालीन पुष्पों का नव सौन्दर्य परिलक्षित होता है।[१]

सौन्दर्य की वाटिका के रूप में नारी के शरीर की कल्पना करने से उसमें कोमलता, ताजगी, शीतलता, सुगन्धि, मनोहारिता आदि सभी गुणों की कल्पना सम्भव हो जाती है। पुष्पों में स्पृहणीय कोमलता होती है, अत: वे नारी के शरीर के उपमान हो सकते हैं। इस कोमलता अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत रूपकों में मुख्य रूप से नीलोत्पल, नवमालिका, शिरीषपुष्प और मृणाल को उपमान बनाया गया है।

दुष्यन्त को शकुन्तला नीलोत्पल के समान कोमल प्रतीत हुई थी। तप: साधना जैसे कठोर कार्य का कराना वस्तुत: उसके प्रति अन्याय करना है।[२] भवभूति ने सीता के अंगों में नव कुवलयों के समान कोमलता और आकर्षण अभिव्यक्त किया है।[३]

कालिदास ने अपनी नायिका को नवमालिका के समान कोमल कहा है।[४] भवभूति भी अपनी नायिका में नवमालती की कोमलता की कल्पना करते हैं।[५] नायिकाओं में शिरीष कुसुम की कोमलता को भी अभिव्यक्त किया गया है।[६] इनमें बालमृणाल की कोमलता और सौन्दर्य का भी कथन हुआ है।[७] कालिदास ने उर्वशी के शरीर के अङ्गों को मृणाल के समान कोमल बताया है।[८] यौवन ने उसके शरीर

---

१. फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकरा:
सौन्दर्योपवनीशशाङ्कवदना जातीप्रसूना रदा:।
प्रत्यङ्गेषु नवैव सम्प्रति शरल्लक्ष्मीरियं दृश्यते
तच्चिह्नैरधुना प्रसाधनविधौ बद्धो वृथैवादर:॥ —तापस० १-१६।

२. इदं किलाव्याजमनोहरं वपु: तप:क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥
—अभिज्ञान० १-१८।

३. नवकुवलयस्निग्धैरङ्गैर्ददन्नयनोत्सवम्। —उत्तर० ३-२२।

४. यदत्तेन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।
—अभिज्ञान० पृ० १५०।

५. मालती० पृ० ९५।

६. हनू० ३-१५, शरीरमुद्यानशिरीषपेलवम्। —कौमुदी० १-१३।

७. बालमृणालकल्पा। —उत्तर० ३-३८।

८. मृणालकोमलं गात्रम्। —विक्रम० ३-१६।

को उसी प्रकार सौन्दर्य से सम्पन्न बनाया था जैसे बढ़ती लतायें वसन्त ऋतु को सौन्दर्य से सम्पन्न बनाती हैं।[1]

कवियों को युवती नारी की तन्वी शरीरयष्टि अधिक आकर्षक प्रतीत हुई थी। इकहरी दुबली यह शरीरयष्टि निश्चय ही वृक्ष के आश्रय से लिपटी लता के के समान है। बकुल वृक्ष के आश्रय से खड़ी हुई शकुन्तला को प्रियंवदा ने लता के रूप में ही देखा था।[2] यक्ष भी अपनी यक्षिणी को 'तन्वी श्यामा' कहता है।[3] युवती को लता के तुल्य कहने में कालिदास ने अति मनोहर और मनोरम कल्पनायें 'कुमारसम्भव' में की है। युवतियाँ लताओं का रूप हैं। इनके पुष्पगुच्छ स्तन हैं, प्रवाल रक्तवर्ण के होठ हैं और शाखायें भुजायें हैं। इनसे वे अपने प्रियतम रूप वृक्षों को आलिङ्गित किये रहती हैं।[4] कालिदास की शकुन्तला एक अनाघ्रात पुष्प है और अनास्वादित मधु है।[5] किसलयों की लालिमा उसका अधर है और कोमल शाखायें भुजायें हैं। उसके शरीर में प्रस्फुटित नवयौवन ही नव विकसित पुष्प हैं।[6] कालिदास सुन्दर युवतियों को लताओं से भी अधिक मनोरम और आकर्षक देखते हैं। लतायें तो उनके सौन्दर्य का कुछ-कुछ अनुकरण ही कर पाती हैं।[7]

(छ) वनस्पतियों के विभिन्न अंगों का मानव के विभिन्न अंगों से साम्य—

मानव के, विशेष रूप से नारी के समग्र शरीर का सादृश्य वनस्पतियों से प्रदर्शित करने के साथ ही संस्कृत कवियों ने इनके विभिन्न अंगों का सादृश्य भी एक-एक करके प्रदर्शित किया है। इसका क्रमशः वर्णन करना उपयुक्त होगा—

(i) मुख—

युवतियों के मुख की शोभा का वर्णन कवियों ने विशद रूप से किया है। इसके सौन्दर्य की उज्ज्वलता की अभिव्यक्ति के लिये विविध पुष्पों और पत्रों को उपमान बनाया गया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान कमल का है। कवि अपनी

---

१. लताभिः श्रीरिवार्तवी। —विक्रम० १-१४।

२. अभिज्ञान९ पृ० १५५।

३. तन्वी श्यामा···। —मेघदूत–उत्तरमेघ २०।

४. पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुः विनम्रशाखाभुजबन्धनानि॥
—कुमारसम्भव ३-१९।

५. अनाघ्रातं पुष्पं मधु नवमनास्वादितरसम्। —अभिज्ञान० २-१०।

६. अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥
—अभिज्ञान० १-१४।

७. प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु। —अभिज्ञान पृ० ४०५।

नायिकाओं के मुख को कमल-पुष्प के समान देखते हैं।[१] विशेष रूप से श्वेत कमल युवतियों के मुख का सर्वमान्य उपमान है।[२] भास ने गौर वर्ण की युवती के मुख को लोध्र के पराग के समान गौर वर्ण का[३] तथा कालिदास ने लवली के किसलय के समान पाण्डुर कहा है।[४]

विविन्न भावनाओं से सम्भृत होने पर युवतियों के मुख पर विशेष प्रकार की छाया होती है। भवभूति को शृङ्गार की लज्जा से सुशोभित युवती का मुख कदम्ब के समान[५] तथा विरहिणी युवती का मुख शुष्क ताल-पत्र के समान पाण्डु[६] प्रतीत हुआ था। कालिदास ने एक स्थान पर वसन्त ऋतु में नवयुवतियों के मुख की कान्ति को नव विकसित कुरबक वृक्ष की मञ्जरी के समान बताया है।[७]

(ii) **नयन—**

कवियों ने नयनों की उपमा सामान्यतः नीलकमलों, कुवलय, इन्दीवरों आदि से दी है। युवतियों के नयन विकसित नील कमलों के समान सुन्दर और आकर्षक होते हैं।[८] 'पद्मप्राभृतक' में युवतियों के नयन नवोत्पल के समान कहे गये हैं।[९] कालिदास का कथन है कि वसन्त में मदिरा के मद विह्वल युवतियों के नयन लोध्र पुष्पों के समान ताम्र वर्ण हो जाते हैं।[१०] जब युवतियाँ कुपित होती है

---

१. मुखकमलं प्रेक्षिष्यते। —**विक्रम० पृ० १७०।**

२. अम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः। ऋतु० ३-१४, विकचकमलवक्त्रा। ऋतु० ३-२८। वदनारविन्दम्। ऋतु०, वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु। ऋतु० ६-८ कनककमलकान्तः। ऋतु० ६-३२, मुखाब्जम्। —**ऋतु० ६-३३।**

३. लोध्रपरागगौरः। —**प्रतिमा० ७, ४।**

४. लवलीदलपाण्डुरच्छायम्। —**विक्रम० ५-८।**

५. कदम्बगोलाकृतिमाश्रितः। —**मालती० ७-१।**

६. परिशुष्यत्प्रौढतालीविपाण्डु। —**मालती० ८-१।**

७. कान्तामुखद्युतिजुषा मचिरोद्गतानां शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।
—**ऋतु० ६-२०।**

८. चण्ड० १, १३, कौमुदी० २-१४, कुवलयनयना—कर्पूर० २-४२, कुवलयनयने —मालविका ४-१०, नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि—ऋतु० ६-१७, असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु—ऋतु० ३-१९, फुल्लनीलोत्पलाक्षी—ऋतु० ३-२८, फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने—तापस० १-१६, यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्।
—**रामाभ्युदय पृ० २०।**

९. नवोत्पललोचना। —**पद्म० श्लोक २०।**

१०. लोचने लोध्रताम्रे। —**ऋतु० ६-३३।**

और लोम के कारण अपने आंसुओं को अन्दर ही रोक लेती हैं तो भी उनके नयन लाल हो जाते हैं। उस समय वे जल से भरे नव कन्दली के समान प्रतीत होते हैं।[१]

कवियों ने युवतियों के नयनों के समान उनकी दृष्टि तथा कटाक्षों में भी वनस्पतिज द्रव्यों का साम्य देखा था। यदि भवभूति का कथन है कि सुन्दरियों की दृष्टि दूध के समान धवल होती है।[२] तो राजशेखर उसको कर्पूर रस से धवलित कहते हैं।[३] राजशेखर ने युवतियों के कटाक्ष को केतकी के कांटेदार पत्र के समान कंटीला कहा है।[४]

(iii) **ओष्ठ—**

सुन्दर कामिनियों के होठ स्वाभाविक रूप से लाल होते हैं। अत: रक्त वर्ण के पुष्पों, फलों और किसलयों को कवियों ने अधरों का उपमान बनाया है। इसके लिये बन्धुजीव, जपा, और पाटला के पुष्पों, बिम्बफल और किसलयों को अधिक पसन्द किया गया था। युवतियों के होठ विशेष रूप से बन्धूक के पुष्पों की कान्ति को धारण करते हैं।[५] अधर में जपापुष्प की सी लालिमा होती है।[६] ये अधर रक्त अशोक से भी अधिक मीठे[७] तथा विकम्पित हो सकते हैं।[८] अधर को पाटला के पुष्प के समान भी रक्तवर्ण कहा गया है।

कवियों ने अधरों में बिम्बफल का सादृश्य देखा था।[९] यह फल पकने पर बहुत अधिक लाल रंग का होता है। अधर में किसलयों की लालिमा भी दृष्टिगोचर होती है।[१०] युवती कन्या के अधर नये वृक्ष के न मसले गये पल्लव के समान लुभावने होते हैं।[११]

---

१. आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः।
कोपादन्तर्वाष्पे स्मारयति मां लोचने तस्याः॥ —**विक्रम०** ४-१५।

२. धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः। —**उत्तर०** ३-२३।

३. कर्पूररसेन तु धवलितः। —**कर्पूर०** १-२९।

४. यन्मुक्ताः श्रवणान्तरेण तरला तीक्ष्णा कटाक्षच्छटा।
शृङ्गाधिष्ठितकैतकाग्रिमदलद्रोणीसदृशच्छविः॥ —**कर्पुर०** १-२९।

५. अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे—ऋतु० ३-२६, बन्धुककान्तिमधरेषु।
—**ऋतुण** ३-२७।

६. आश्चर्य ३-३४।

७. रक्ताशोकविकल्पिताधरमधु। —**ऋतु०** ६-३६।

८. रक्ताशोकप्रस्पन्दोष्ठी। —**पद्म० श्लोक** २०।

९. प्रकृतिताम्रबिम्बाधरम्—अवि० २-२६, बिम्बाधर स्पृशसि चेत्—अभिज्ञान २-९। बिम्बोष्ठि··· **अभिज्ञान०** ४-१४।

१०. अधरकिसलयाग्रम्–ऋतु० ५-१५, अधरः किसलयरागः–अभिज्ञान १-२०, अधरपल्लवः—**तापस०** १-१६।

११. अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम्। —**अभिज्ञान०** ६-२०।

स्मित और हास्य भी होठों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। कवियों ने युवतियों के हसित और स्मित में पुष्पों की अनुपम शोमा के दर्शन किये थे। युवतियां जब मुस्कराती हैं और इनकी दन्तपंक्ति चमकती है, तब इनमें चन्द्रमा की कान्ति होती है तथा वे कङ्केलि और नवमालती के पुष्पों के समान रुचिर होते हैं।[1] युवतियों की मुसकराहट में कुन्द पुष्पों की कान्ति भरी रहती है।[2]

(iv) दन्त—

युवतियों के रक्त वर्ण के होठों के मध्य चमकते हुये शुभ्र दन्त रसिक जनों को अति आकर्षक प्रतीत होते थे। कालिदास ने इन दान्तों के विषय में कल्पना की है कि ये इसीप्रकार शोभित होते हैं, जैसे प्रवालों के मध्य श्वेत पुष्प हों अथवा मूंगे के मध्य मोती जड़े हों।[3] दान्तों की शोमा में कवियों ने श्वेत पुष्पों[4], कुन्द की कलियों[5] जाति के पुष्पों[6] और अनार के दानों[7] के सौन्दर्य के दर्शन किये थे।

(v) भुजा—

कामिनियों की भुजाओं में कवियों ने लताओं और पुष्पों की कोमलता की कल्पना की है। इसके लिये श्यामा लता, कोमल शाखा, वानीर, कन्दली और शिरीष कुसुम उपमान के रूप में ग्रहण किये हैं। कुसुमों के भार से झुकी किसलयों से भरी श्यामा लतायें सुन्दरियों के आभूषणों से अलंकृत भुजाओं के समान दृष्टि-गोचर होती हैं।[8] कालिदास ने मालविका की भुजा को श्यामा लता के समान[9] और शकुन्तला की भुजा को कोमल शाखा के समान[10] वर्णित किया है। वे पार्वती की भुजा को शिरीष पुष्प से भी कोमल कहते हैं।[11] नदियों के कच्छ प्रदेश में उगी

---

१. दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कङ्केलिपुष्परुचिरा नवमालती च। —ऋतु० ३-१९।

२. कुमुदमिव···हसितमिव वधूनाम्। ऋतु० ३, २५, कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैः—ऋतु० ६, २५, स्मितदशनमयूखान्···कुन्दपुष्पप्रभाभिः। —ऋतु० ६-३१।

३. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्। —**कुमारसम्भव** १-४४।

४ सितसुममुकुलदशनाः। —**पद्म०** श्लोक २०।

५. कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः। —ऋतु० ६-३६।

६. जातीप्रसूतीरदाः। —**तापस०** १-१६। ७. हनू० २-२५।

८. श्यामालताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम्। —ऋतु० ३-३८।

९. श्यामाविटपसदृशं हस्तरम्। —**मालविका०** २-६।

१०. कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। —**अभिज्ञान०** १-२०।

११. शिरीषकुसुमाधिसौकुमार्यौ बाहू। —**कुमारसम्भव** १-४१।

वानीर लतायें उनको सरिताओं की भुजाओं के समान प्रतीत हुई थी।[१] राजशेखर ने भुजाओं में कन्दली के कमनीयत्व की कल्पना ही है।[२]

(vi) **कर—**

कर का सौन्दर्य उसकी मृदुता और अरुणिमा के कारण है। इस सौन्दर्य का सादृश्य कवियों ने पुष्पों और पल्लवों में अवलोकित किया था। पुष्पों में भी कमल[३], विशेष रूप से रक्तकमल[४] उनको अधिक सुन्दर लगे। सामान्य रूप से तो किसलयों में कर का साम्य होता ही है[५], इनमें भी पारिजात अधिक स्पृहणीय रहा।[६] भवभूति अपनी नायिका के कर को लवली के अंकुर के समान कहते हैं।[७]

(vii) **अञ्जलि—**

कामिनियों की अञ्जलियों में भी कवियों ने पुष्पों की कोमलता और सौन्दर्य के दर्शन किये थे। भवभूति ने सीता की अञ्जलि को श्वेत कमलों की कलियों के समान कहा है।[८] शूद्रक ने भी अपनी नायिका की अञ्जलि को नवीन कमलों के समान कोमल वर्णित किया है।[९] कालिदास को शकुन्तला की अञ्जलि (अग्रहस्त) लाल कमलों और पल्लवों के लोभनीय प्रतीत हुआ था।[१०]

(viii) **नख—**

युवतियों के नखों की लालिमा कवियों को अति मनोहारी और मनोरम प्रतीत हुई थी। उनमें लाल जपा के पुष्प का तादात्म्य होता है। कालिदास ने कुरबक के पुष्पों को कामिनियों के नखों के समान वर्णित किया है।[११]

युवतियों के शरीर पर बने नखक्षत्रो का कवियों ने मनोरम चित्रण किया है। प्रणय-विलास के समय प्रियतम के नखक्षत उनके शरीर के विभिन्न अगों पर

---

१. तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखम्। **—मेघदूत-पूर्वमेघ** ४५।

२. दोः कन्दल्योः। **—कर्पूर०** ४–७।

३. पाणी सरोजाकराः। **तापस०** १–१६।

४. अस्याः करेण करमाकलयामि कान्तमारक्तपङ्कजमिव द्विरदः सरस्याः। मालती० ६–२०। रक्तकुवलयशोभिनाग्रहस्तेन। **—अभिज्ञान०** पृ० २५८।

५. करपल्लवः स तस्याः। **—उत्तर०** ३–४१।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाग्रैः उपहसति। **ऋतु०** ६–३१।

६. श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः। **—रत्ना०** २–१८।

७. मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः। **—उत्तर०** ३–४०।

८. कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभः मुग्धः प्रणामाञ्जलिः। **—उत्तर०** ३–३७।

९. नवनलिनकोमलमञ्जलिम्। **—मृच्छ०** पृ० १६४।

१०. रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाग्रहस्तेन। **—अभिज्ञान०** पृ० ४२६।

११. अग्रे स्त्रीनखपाटलम्। **—विक्रम०** २–२७।

बन जाते हैं, जो अति मनोरम होते हैं। वसन्त ऋतु में विकसित पलाश के आगे की ओर मुड़े नोकीले पुष्प ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों वनस्पतिरूप नायिकाओं के शरीर पर बने नखक्षत हैं।[१] बिल्व फल पकने पर पिंगल वर्ण हो जाते हैं। बिल्व के कांटें इन पर रगड़ कर क्षत बना देते हैं। ये फल मानों वेश्याओं के स्तन हैं, जो इनके प्रेमियों द्वारा नखों से विक्षत कर दिये गये हैं।[२]

(ix) **पयोधर** —

कामिनियों का सौन्दर्य उनके पयोधरों के उभार और कोमलतामिश्रित कठोरता में निहित रहता है। कवियों ने इनमें पुष्पगुच्छो तथा बड़े फलों के आकार तथा सौन्दर्य की कल्पना की है : 'पद्मप्राभृतक' में युवतियों के स्तनों को सुन्दर पुष्पगुच्छों के समान मनोहारी कहा गया है :[३] कालिदास भी इनका पुष्पगुच्छों के समान अवलोकन करते है।[४] हर्ष ने अनार[५] और बिल्वफलो[६] की उपमा नारियों के पयोधरो से दी है।

(x) **उरु**—-

कायिनियों के उरुओं का सौन्दर्य उनके गौर वर्ण, चिकनाई, कोमलता और **मोटाई के माध्यम** से अभिव्यक्त होता है। कवियों को यह सौन्दर्य केले के तने में दृष्टिगोचर हुआ था।[७] कालिदास ने अपनीं नायिकाओं के उरुओं को कदली के तने के समान कहा हैं।[८] उसके नायक अपनी प्रेमिकाओं को रम्भोरु (केले के तने के समान उरु वाली) कह कर सम्बोधन करते है।[९]

(xi) **चरण**—

युवतियों के चरणों के सौन्दर्य का कवियों ने सूक्ष्म निरीक्षण किया था।

---

१. बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

— **कुमारसम्भव** ३-२९।

२. मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसोरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफल पचेलिमम्।

—**नैषध०** १.९४।

३. वरस्तवकस्तनी। **पद्मां श्लोक** २०।

४. पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः।—**कुमार०** ३-९ :

६. नैषधीयचरितम् १-८२। ५. नैषध० १-९४।

७. हनू० १०-१२।

८. यासयत्यूरुः सरस्कदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।—**मेघदूत-उत्तरमेघ**। ३८

९. तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यम्।—**मालविका०** ३-१०।

कोमल रक्त वर्ण के चरण आकर्षक होते हैं, जो उनके प्रेमियों को लुभाते है। कवियों ने इनके सौन्दर्य में लाल कमलों तथा नव किसलयों के सादृश्य की कल्पनायें की है।

युवतियों के चरण कमलों के समान होते है।[१] कमलों में रक्तकल (तामरस) में अधिक सौन्दर्य परिलक्षित हुआ था।[२] युवतियाँ जब चलती है तो चरणों से लाल कमलों की कलियों को बखेरती चली जाती है।[३] कालिदास ने वर्णन किया है कि नवयौवन को प्राप्त करने वाली पार्वती जब पर्वत-भूमियों पर विचरण करती थी, तो उसके चरण चलती हुई स्थलकमलिनी की शोभा को प्रदान करते थे।[४] इसी प्रकार की कल्पना कुलशेखरवर्मन ने की है। सुभद्रा के चलने पर उसके रक्त वर्ण के कमलों को बखेरते थे।[५] मालविका के चरण नवविकसित कमल के समान कोमल थे।[६]

युवतियों के चरणों में नव किसलयों के सौन्दर्य को भी परिलक्षित किया गया था। मालविका के चरणों का अग्रभाग नव किसलयों के समान था।[७] कवि ने चरणों को गुलाबी रंग के गुलाब की पंखड़ियों के समान भी सुन्दर कहा है।[८] जब मालविका ने अपने इन चरणों पर लालिमा लगाई तो वे ऐसे प्रतीत होने लगे[९], मानों शिव के प्रकोप से दग्ध कामदेव रूपी वृक्ष में नव पल्लवों का उदय हुआ हो युवतियाँ जब अशोक वृक्ष पर पाद का प्रहार करती थी, तो इनके प्रेमियों को भय रहता था कि कहीं लयों के समान मृदु इनके चरणों में पीड़ा तो नहीं हो गई है।[१०]

६. वनस्पतियों का धार्मिक महत्त्व

प्राचीन भारत में वस्पतियों के प्रति अतिशय स्नेह और अनुराग ने इनके

---

१. पादाम्बुजानि।—ऋतु० ४-४।
२. आश्चर्य० ३-३८।
३. रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती।—**मृच्छ० १-२०।**
४. आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्।
—**कुमारसम्भव ३-१७।**
५. सुभद्रा० १-१४।
६. नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः —**मालविका० ३-१२।**
७. नवकिसलयरागेणाग्रपादेन।—**मालविका० ३-१२।**
८. अरुणशतपत्रमिव शोभते चरणः।— **मालविका० पृ० ६८।**
९. चरणान्तनिवेशितायाः प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रेखाम्।
प्रथमामिव कुसुमप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य।
—**मालविका० ३-११।**
१०. किसलयमृदोर्विलासिनी कठिने निहितज्य पादपस्कन्धे।
चरणस्य न ते बाधा सम्प्रति वामस्य वामोरु।—**मालविका० ३-१८।**

प्रति धार्मिक आस्था को जन्म दिया था। ऋषियों ने इनको धार्मिक महत्त्व प्रदान किया। यह धार्मिक भाव इतना प्रबल हुआ कि वन, उद्यान और वृक्षों की देवता के रूप में कल्पना की गई। इनमें देवताओं के निवास की भी कल्पनायें की गई थी। वनदेवता, उद्यान देवता और वृक्ष देवता का तया इनके मानव के प्रति स्नेह का उल्लेख किया जा चुका है।

भारतीय धार्मिक साहित्य में वनस्पतियों की पवित्रता उज्ज्वल रूप से अभिव्यक्त की गई है। इनमें विविध सम्बन्धों की भी कल्पना की गई है। इस तथ्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन सम्बन्धों में पुत्रभाव विशिष्ट है। इससे वृक्षों को उगाने तथा उनका पालन करने की मानव की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'विष्णुधर्मसूत्र' का कहना है कि इस लोक में आरोपित वृक्ष परलोक में पुत्र के रूप में प्राप्त होते है।[1] 'महाभारत' में वृक्षों के समान पालन करने का निर्देश किया गया है, क्योंकि वे पुत्रों के समान मनुष्य को तरा देते है।[2] वृक्ष मनुष्य की "पुम्" नाम के नरकसे रक्षा करते है।

वृक्षों का आरोरण एक अति पवित्र कार्य माना गया था। अश्वत्थ, अशोक, अम्लिका, दाडिम आदि वृक्षों का रोपण करने से क्रमशः सम्पत्ति, पापों से मुक्ति, लम्बी आयु और उत्तम नारी प्राप्त होते है।[3] एक अश्वत्य, एक नीम न्यग्रोध, दस इमली, कपित्थ-बिल्व-आमलक या पोंच आम्र वृक्षों का आरोपण करने वालानरक-गामी नही होता।[4] आम्र वृक्षों को सींचने से पितर प्रसन्न होते है।[5] मन्दिरों के साथ वृक्ष-वाटिकायें लगाने का अनिवार्य रूप से निर्देश दिया गया है। 'मत्स्यपुराण' का कथन है कि मन्दिरों के चारों और वृक्षों का आरोपण किया जाना अनिवार्य है: मन्दिर के मण्डप के पूर्व में फलदायक वृक्ष, दक्षिण में क्षीरी वृक्ष, पश्चिम में कमलों से भरा जलाशय और उत्तर मे पुष्प-वाटिका और सरल-साल जैसे वृक्ष होने चाहियें।[6]

१. वृक्षा रोपयितुवृक्षाः परलोके पुत्राः भवन्ति।—विष्णुधर्मसूत्र ९१-४।

२. वृक्ष दंपुत्रवद वृक्षास्तारयन्ति परत्र च।
तस्मात तडागे सद्वृक्षाः रोप्या श्रेयोऽथिना सदा॥
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः।— महाभारत
—अनुशासनपर्व ५८,३०-३१।

३. हेमाद्रि—दानखण्ड पृ० १०३०-१०३१।

४. अश्वत्थमेक पिचुमर्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीकम्।
कपित्थबिल्वामलकं त्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न गच्छेत्।
—भविष्यपुराण से राजधर्मकौस्तुभ पृ० १९३ पर उद्धृत।

५. आम्रश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीताः। —महाभाष्य भाग १ पृ १४।

६. मत्स्यपुराण अध्याय ५८।

'मालतीमाधव' में अनेक मन्दिरों के साथ वाटिकाओं का उल्लेख कवि ने किया हैं। पद्मावती नगरी के बाहर बने मन्दिरों के प्राङ्गण में वाटिकायें थी, जिनके विशिष्ट नाम भी थे। शिवमन्दिर के साथ कुसुमाकरोद्यान[1] कामदेव के मन्दिर के साथ कामदेवोद्यान[2] और नगरदेवता के मन्दिर के साथ उद्यानवाटिका थे।[3] फूलों और फलों को देने वाले को वृक्षों को काटना दण्डनीय अपराध माना गया था।[4] तथा ईंधन के निमित्त भी इनको काटना पाप था।[5] वृक्षों को लगाने, वाटिकाओं की रचना करने तथा वाटिका का दान करने से महान् पुण्य होते है।[6] धर्मशास्त्रों और पुराणों में वाटिकाओं के दान की विधियों का सविस्तर वर्णन किया है।[7]

प्राचीन धार्मिक कर्मकाण्डों में वनस्पतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यज्ञों की विविध सामग्रियों के लिये विविध वनस्पतियों का व्यवहार होता था। यूप (जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता), इध्म (यज्ञ की समिधायें), स्रुवा और जूहू (यज्ञपात्रविशेष), चमस आदि की रचना वृक्षों के काष्ठ से की जाती थी। अश्वत्थ, उदुम्बर, न्यग्रोध और प्लक्ष वृक्षों के काष्ठ अधिक पवित्र माने गये थे, क्योंकि इन पर अप्सराओं और गन्धर्वों का निवास रहता है। अत: इनका प्रयोग समिधाओं के लिये विहित था।[8] यज्ञों तथा अन्य शुभ अवसरों पर मण्डपों और प्रवेश द्वारों के तोरणों को हरित पल्लवों से अलङ्कृत करने की परम्परा इस देश में बहुत प्राचीन है। इसके लिये पाँच पवित्र पल्लव विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे--अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष, न्यग्रोध और आम्र।[9] धर्मसूत्रों में पलाश को अति पवित्र माना गया था।[10] इसके पत्र, पुष्प, शाखा और कोष्ठ का प्रयोग यज्ञों में होता था।

वृक्षों के प्रति पवित्र भावना और उनमें देवत्व की कल्पना अति प्राचीन काल से प्रचलित है। वट, अश्वत्थ और आम्र तो बहुत पवित्र तथा साक्षात् परमात्मा रूप माने गये है। वट को शिवरूप, आम्र को ब्रह्मा रूप ओर अश्वत्थ को विष्णु माना गया था। 'भगवद्गीता' में अश्वत्थ की उपमा आत्म तत्त्व से दी गई है।[11]

---

१. मालती० पृ० १२४।

२. मालती० पृ० ४२। ३. मालती० पृ० २९६।

४. वसिष्ठधर्मसूत्र १९, ११–१२, विष्णुधर्मसूत्र ५-५५–५६।

५. वृद्धहारीत ९- १२०।

६. हेमाद्रि —**दानखण्ड** पृ० १०११–१०५५।

७ शांखायन गृह्यसूत्र परिशिष्ट ४-१०, मत्स्यपुराणे अ० ५९, अग्निपुराण अध्याय ७०।

८. तैत्तिरीय संहिता ३-४-८-४।

९. कृत्यकल्पतरु—शान्तिखण्ड ७, हेमाद्रि—व्रतखण्ड १-४७।

१०. बोधायन धर्मसूत्र २-३-२-५।

११. ऊर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।— **भगवद्गीता**।

गौतम ऋषि ने अश्वत्थ की समता कृष्ण से कही है। मनु[1], याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों का कथन है कि स्नातक को मार्ग में स्थित पवित्र वृक्षों—अश्वत्थ आदि की परिक्रमा करते हुये जाना चाहिये। अश्वत्थ, वट आदि की परिक्रमा इस देश में हजारों वर्षों से मान्य है। डा० रामजी उपाध्याय का कथन है कि आर्येत्तर जातियाँ जल और अश्वत्थ का पूजन किया करती थी तथा इनसे यह परम्परा आर्यों में भी प्रचलित हुई।[3] वटवृक्ष का पूजन और उससे कामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना की परम्परा बहुत प्राचीन है। 'महाभारत' और पुराणों की सत्यवान्‌सावित्री की कथा के अनुसार सत्यवान् ने वटवृक्ष के नीचे प्राणों का परित्याग किया था और यहीं सावित्री ने अपने पति के प्राणों को यमराज से वापिस ले लिया था।[4]

भारतवर्ष में वट के पूजन का प्रचार बहुत अधिक हुआ था। उसके लिये विशेष व्रत का प्रचार हुआ—वटसावित्री। 'निर्णयसिन्धु' पृ० १०० के अनुसार इसको भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी से पूर्णिमा तक, 'वर्ष क्रियाकौमुदी' के अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी को और 'कृत्यकल्पतरु' पृ० ४३० के अनुसार ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी को मनाना चाहिये। इस व्रत का पालन स्त्री पति-पुत्रों की लम्बी आयु तथा स्वास्थ्य के लिये और लोक परलोक में वैधव्य से मुक्ति के लिये करती हैं। इस वृक्ष के मूल पर जल छिड़क कर तने के चारों और धागा बाँधती है और सावित्री का स्मरण करके वृक्ष का पूजन करती हैं। अन्त में यम और नारद का पूजन करके पुजारी को वायन देकर व्रत का समापन करती हैं। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में इस व्रत का रोचक वर्णन किया है[5], जबकि रानी विभ्रमलेखा अपने पति राजा चन्द्रपाल के कल्याण के लिये व्रत को धारण करती है।

प्राचीन साहित्य में वट और अश्वत्थ से अपनी मनोकामनाओं को पूरा करने की प्रार्थना करने का उल्लेख अनेक प्रसङ्गों में हुआ है। 'कादम्बरी' में रानी विलासवती सन्तान को प्राप्त करने की कामना से अश्वत्थ आदि वृक्षों का पूजन और परिक्रमा करती है।[6] कालिदास ने गंगा-यमुना संगम पर श्याम वट का उल्लेख

---

१. मनुस्मृति ४-३९। २. याज्ञवल्क्यस्मृति १-१३३।

३. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृ० ४१९।

४ महाभारत—वनपर्व अध्याय २९३–२९९, मत्स्यपुराण अध्याय २०७–२१३।

५. कर्पूरमञ्जरी पृ० २१८।

६. अश्वत्थप्रभृतीनुपपादितपूजान् महावनस्पतीन् कृतप्रदक्षिणा ववन्दे।

—कादम्बरी पृ० २५०।

किया है, जिससे सीता ने मनौती मानी थी।[1] भवभूति ने चित्रकूट जाने वाले मार्ग पर कालिन्दी के तट पर श्यान वट का महत्व बताया है।[2] यह श्याम-वट गंगा-यमुना सगम पर स्थित है तथा अति प्राचीन काल से हिन्दुओं का महत्वपूर्ण तीर्थ है।

वट और अश्वत्थ के अअिरिक्त अन्य भी अनेक वृक्षों का पूजन प्राचीन धार्मिक साहित्य में उल्लिखित है। आमलकी, आम्र, बिल्व, निम्ब आदि ऐसे ही वृक्ष है। इनके निमित्त से अनेक धार्मिक व्रत भी किये जाते है। इनका विवरण आगे दिया जावेगा।

देवताओं के पूजन के निमित विविध वनस्पतियों के काष्ठ, पुष्प, फल, धूप आदि के प्रयोग का वर्णन किया गया है। 'स्मृतिचन्द्रिका' में बिभिन्न द्रव्यों द्वारा देवताओं के पूजन का विधान है।[3]

देवपूजन के लिये चन्दन का विशेष महत्व है। यह दो प्रकार का होता है—श्वेत और लाल। श्वेत चन्दन अधिक सुगान्धित है तथा पूजन के योग्य है। चन्दनों में भी हरिचन्दन अधिक श्रेष्ठ है। अगुरू का भी देवपूजन में प्रयोग होता है। यह सुगन्धित होता है। इसमें कालागुरू अधिक अच्छा है। पीले रंग का इससे भी अच्छा माना जाता है।

देवपूजन के लिये त्वक् (दालचीनी), पत्रक (तेजपत्र), लवङ्ग, और केसर के उपयोग का विधान है। इनको समान भाग में लेते है (चतुः सम)। कस्तूरी, केसर और कपूर का भी विधान किया गया है। इसमें कस्तूरी दो भाग, चन्दन चार भाग, केसर तीन भाग और कपूर चार भाग लिये जाते हैं ' सर्वगन्ध द्रव्यों का उल्लेख मिलता है—केसर, चन्दन, खस, मुस्ता, लामज्जक, कपूर, केलाः त्वक्, और पत्रक। आठ प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों (गन्धाष्टक) का भी वर्णन है—चन्दन, कपूर, रोचना, जटामासी, चोर, कपि, अगल्लोचम, तीनों प्रकार की सुगन्धित घास। हेमाद्रि ने त्रिसुगन्ध (त्वक्, एला और पत्रक) का अधिक महत्व कहा है।[3] इन द्रव्यों को शक्ति, गणेश, शिव और विष्णु के लिये अर्पित किया जाता है।

स्मृतिचन्द्रिका' में पांच पदार्थों को घिस कर उनके लेप को देवपूजन में प्रयुक्त करने की बात कही गई है। ये पदार्थ अधिकतर वनस्पतिज है—कपूर, अगूरु, कस्तूरी, चन्दन और कक्कोल। इनका पञ्च कर्दम भी कहा जाता है।

---

१. त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुणानां सपद्मरागः फलितो विभाति।
—रघुवंश १३-५३।

२. चित्रकूटयायिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्याम इति।
—उत्तर पृ० ६४।

३. स्मृतिचन्द्रिका पृ० २१०।

देवपूजन के लिये विविध वनस्पतिज पःदार्थों की धूप जलाई जाती है तथा विविध पुष्पों को देवताओं के लिये उपहार में दिया जाता है। विविम धूपों के जलाने तथा पुष्पों के उपहार देने से भक्त को विशेष लाभ होता है। 'कृत्यकल्पतरु' में विभिन्न पुष्पों द्वारा देवपूजन करने के विभिन्न लाभ कहे गये है कुछ इस प्रकार है—

मालती—देवता का सामीप्य प्राप्त होता है।

करवीर—स्वास्थ्य तथा अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती है।

मल्लिका—सभी प्रकार का आनन्द मिलता है।

पुण्डरीक—कल्याण होता है, दीर्घ काल तक सम्पत्ति रहती है तथा सुन्दर पत्नी मिलती है।

कुब्जक—सर्वोत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

नीलकमल—निष्कलङ्क ख्याति प्राप्त होती है।

मुकुरक—सभी प्रकार के रोगों का निवारण होता है।

मन्दार—कुष्ठ रोग का निवारण होता है।

बिल्व—धन-धान्य प्राप्त होते हैं।

अर्क—सूर्य द्वारा कल्याण प्राप्त होता है।

बकुक्त—सुन्दर कन्या मिलती है।

किंशुक (पलाश)—सूर्य द्वारा दुःख का हरण होता है।

अशोक—इष्टदेव सफलता प्रदान करते है।

वनमाला—इससे घबराहट दूर होती है।

जपापुष्प—सूर्य दुःखों का हरण करता है।

'कृत्यकल्पतरू' में ही विविध गन्ध-द्रव्यों की बनी धूपों को जलाने से विभिन्न फल की प्राप्त का विवरण इस प्रकार है[१]—

चन्दन—सूर्य से निकटता प्राप्त होती है।

अगुरू—वाञ्छित फल मिलता है।

वासक—व्यापार में सफलता मिलती है।

पिण्डींग—स्वास्थ्य और धन मिलते हैं तथा कल्याण होता है।

कुण्डक—कृतार्थता होती है।

सर्जरस—सम्पत्तितों का लाभ होता है।

गुग्गुलु—स्वास्थ्य का लाभ लेता है।

---

१. हेमाद्रि —**ब्रतखण्ड** १-४४।

२. कृत्यकल्पतरु —व्रतखण्ड पृ० १८०-१८१।

३. कृत्यकल्पतरु—व्रतखण्ड पृ० १८२-१८३।

गन्ध द्रव्यों में गुग्गुलु का विशेष स्थान है। इसके जलाने के व्यावहारिक लाभ भी है। 'गरुडपुराण' के अनुसार गुग्लु जलाने से वायुमण्डल पवित्र होता है और मक्खी-मच्छरों का विनाश होता है।[1]

विभिन्न देवताओं का पूजन करने के लिये पूजन पद्धति में विविध पुष्पों का प्रयोग करने का विधान धर्मशास्त्रों में किया गया है। उदाहरण के लिये—सूर्यपूजन के लिये अर्क, पलाश, अशोक, रक्तमल और जपा के पुष्प अधिक प्रचलित हैं। शिव के पूजन में कुंकुम से सने अक्षत, दूर्वाङ्कुर, कुश, ताम्बूलपत्र, पुगीफल सुपारी, बिल्वपत्र, अर्क पुष्प और कनेरपुष्प का विशेष विधान है। परन्तु केलकी के पुष्पों का निषेध किया गया है। कामदेव के पूजन में आम की मञ्जरियों द्वारा पूजन किये जाने का वर्णन है।[2] हर्ष ने वर्णन किया है कि कामदेव का पूजन अशोक वृक्ष के नीचे वसन्त ऋतु में युवतियों द्वारा किया जाता था। कालिदास ने अशोक पर पाद का प्रहार करके कामदेव का पूजन करने का वर्णन किया है।[3]

हिन्दू समाज में अनेक व्रतों और उपवासों की परम्परायें प्राचीन समय में प्रचलित थीं और वर्तमान समय में भी हैं। इन व्रतों का आधार अधिकांश रूप में वनस्पतियाँ हैं। प्रायः सभी व्रतों में फलाहार का विशेष महत्व है। इन व्रतों का विवरण श्री पी० वी० काले ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से दिया है। इन व्रतों का संक्षेप से उल्लेख करना समुचित होगा, विशेष रूप से उनका, जिनका कि सम्बन्ध वनस्पतियों से है।

१. **नागपूजा**—नागपूजन के लिये करवीर, जातिपुष्प और विविध सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। इस पूजन से मनुष्य सर्प के दंश के भय से मुक्त हो जाता है।

२. **मनसापूजन**—इसका विशेष पूजन श्रावण मास के कृष्णपक्ष की पञ्चमी को होता है। स्नुही की शाखायें देवता को चढ़ाई जाती हैं। नीम की पत्तियाँ रखी जाती हैं। ये खाई भी जाती हैं।

३. **हरितालिकाव्रत**—इस व्रत में स्त्रियाँ नारियाल और त्रिफला के तेल को मलकर स्नान करती हैं। धूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, गन्ध कपूर, चन्दन, ताम्बूल और पूगीफल से पार्वती का पूजन किया जाता है।

---

१. गरुडपुराण १-१७७-१७८।

२. आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वस्व वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि॥
—**अभिज्ञान०** ६-२।

३. मालविका० चतुर्थ अंक।

४. **गणेशचतुर्थी**—गणेशपूजन के समय दूर्वादल द्वारा पूजन करने का विशेष महत्व है।

५. **विजयादशमी**—इस पर्व में नये अन्नों की हवि द्वारा यज्ञ किया जाता है। द्वार पर धान की अधपकी हरी बालियाँ टाँगी जाती हैं। गेहूँ और यव के नये अंकुरों को कानों में लगाया जाता है।

६. **नरकचतुर्दशी**—इस पर्व में यम देवता के लिये तिल से युक्त जल से तर्पण करते हैं। अपामार्ग या तुम्बी की पत्तियों को और टहनियों को घुमाते हैं।

७ **कौमुदीमहोत्सव**—यह पर्व आश्विन मास की पूर्णिमा को होता है। इस पर्व में नवीन सस्यों द्वारा यज्ञ किया जाता है।

८. **तिलव्रत**—यह व्रत अति पवित्र है। यह विशेष रूप से मकरसंक्रान्ति को किया जाता है। इस व्रत में तिल का उबटन करना, तिल के जल से स्नान करना, तिलों की आहुति देना, पितरों के लिये तिलाञ्जलि देना, तिल खाना और तिलों का दान करना, ये ६ कार्य किये जाते हैं।

९. **तिलद्वादशी**—यह व्रत माघ मास की पूर्णिमा के पश्चात् कृष्णपक्ष की द्वादशी को होता है। इसमें तिलों के जल से स्नान करना, तिलों का होम करना, नैवेद्य, तिल के दीपक जलाना और तिलमिश्रित जल का दान करना, ये कार्य किये जाते हैं।

१०. **श्रीवृक्षनवमी**—श्रीवृक्ष (बिल्व) को अति पवित्र माना गया है। भगवान् शिव के लिये इसकी पत्तियों और फलों का उपहार अर्पित किया जाता है।[१] भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की नवमी को बिल्व-वृक्ष के पूजन का विधान किया गया है। बिल्व को लक्ष्मी का निवास माना गया है। इसके पूजन से पीड़ा का नाश होता है और धन की प्राप्ति होती है।[२] इस व्रत में बिल्व-वृक्ष के नीचे बैठकर तीन दिन का उपवास करने और शिव का एक लाख बार जप करने से सभी पाप कट जाते हैं। इस प्रकार के व्रत को त्रिरात्र-व्रत कहते हैं।[३] एक बिल्वत्रिरात्र-व्रत ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को प्रारम्भ होता है। इसमें एक वर्ष तक रात्रि में बिल्व का पूजन करके वर्ष के अन्त में सहस्र बिल्व-दलों से होम करते हैं। आश्विन शुक्ल सप्तमी को बिल्व-शाखा-पूजन नाम के व्रत को भी करने का उल्लेख मिलता है।

११. **आमलक्येकादशी**—आमलकी (आँवला) में लक्ष्मी का निवास माना

---

१. गरुडपुराण १-१२४-११, अग्निपुराण १९३-६,
पद्मपुराण ६-२४०-३२।

२. भविष्योत्तरपुराण ६०-१-१०।

३. हेमाद्रि—व्रतखण्ड—२-३१८।

गया है। फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की एकादशी को आमलकी वृक्ष के नीचे राधा और कृष्ण अथवा हरि और लक्ष्मी का पूजन करना चाहिये।[1] एकादशी के दिन धात्री (आंवला) के फलों के जल से स्नान करके उनको खाने से मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

१२. **अश्वत्थव्रत**—अपशकुनों, आक्रमणों, महामारियों और कुष्ठ जैसे रोगों के निवारण के लिये व्रत करके अश्वत्थ (पीपल) का पूजन करना चाहिये।

१३. **आम्रपुष्पभक्षण**—इस व्रत को चैत्र मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को मनाना चाहिये। इसमें कामदेव का पूजन होता है। इसके निमित्त से आम की मञ्जरियाँ खाई जाती हैं।[3]

१४. **कदलीव्रत**—यह व्रत भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की किसी भी तिथि को किया जा सकता है। इसमें केले के वृक्ष का पूजन किया जाता है।[4]

१५. **कुन्दचतुर्थी**—यह पर्व माघ मास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी को होता है। इस पर्व में कुमारी कन्याओं को कुन्द-पुष्प दान किये जाते हैं।

१६. **कूष्माण्डदशमी**—इस पर्व को आश्विन मास के शुक्लपक्ष की दशमी को मनाया जाता है। इस दिन कूष्माण्ड (पेठा) के फूलों से शिव, दशरथ और लक्ष्मी का पूजन करते हैं। चन्द्रमा के लिये अर्घ भी देते हैं।

१७. **कौतुक**—विवाह के समय कंगना बाँधा जाता है। इसमें अनेक मंगल द्रव्य होते हैं। इनमें अधिकांश वनस्पतिज हैं। कंगने में ये नौ वस्तुयें बाँधी जाती हैं—दूर्वा, यव के अंकुर, जटामांसी (बालछड़), आम्रपत्र, हरिद्रा, सर्षप, मयूरपंख और सर्प की केंचुली।

१८. **गुडतृतीया**—इक्षु नामक वनस्पति से गुड बनता है। इसके निमित्त से भी एक पर्व है। भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की तृतीया को गुड के अपूप और पायस बनाकर पार्वती के लिये अर्पित किये जाते हैं।

१९. **गोधूम-व्रत**—गोधूम (गेहूँ) से देवता के विशेष पूजन का विधान किया गया है। किसी भी नवमी को गेहूँ से बने भोजन से विष्णु, दुर्गा, कुबेर, वरुण और वनस्पति नामक देवताओं का पूजन करना चाहिये।[5]

२०. **चम्पक-चतुर्दशी**—चम्पा के फूलों को विशेष पवित्र माना गया था। इसके निमित्त से अनेक व्रत हैं। ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को चम्पा के

१. पद्मपुराण ६-४७-३३। २. पद्मपुराण ५-५८-१-११।
३. स्मृतिकौमुदी पृ० ५१९।
४. हेमाद्रि—व्रतखण्ड—२-१३२-१३३।
५. कृत्यरत्नाकर पृ० २८५-२८६।

पुष्पों द्वारा शिव का पूजन करने का विशेष विधान है ।[1] इसी मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी (चम्पक-द्वादशी) को चम्पा के पुष्पों द्वारा गोविन्द का पूजन करना चाहिये ।[2] भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की षष्ठी (चम्पाषष्ठी) को चम्पा के पुष्पों द्वारा सूर्य का पूजन करने का विशेष महत्व कहा गया है ।[3]

२१. **जयदासप्तमी**—रविवार को यदि सप्तमी हो तो इसको जयदासप्तमी कहते हैं । इस दिन विविध पुष्पों और फलों से सूर्य का पूजन करना चाहिये ।[4]

२२ **तुलसी-विवाह**—तुलसी का अति महात्म्य माना गया है । यह अति पवित्र और स्वास्थ्यदायक है ।[5] पौराणिक गाथाओं के अनुसार जलन्धर नामक असुर की पत्नी वृन्दा को विष्णु ने शाप देकर तुलसी बना दिया था । साथ में यह भी वर दिया था कि उसका पूजन करने वाला महान् फल को प्राप्त करेगा । हिन्दू घरों में तुलसी का पौधा अवश्य लगाया जाता है । आंगन या छतों पर ईंट या पत्थर का थांवला बना कर या गमला रखकर इस पोधे को रख देते हैं । ऐसी मान्यता है कि कार्तिक मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को तुलसी का विवाह करने से कन्यादान का पुण्य प्राप्त होता है ।[6]

तुलसी के निमित्त से अन्य भी अनेक पर्व हैं । कार्तिक मास के शुक्लपक्ष की नवमी से प्रारम्भ करके तीन दिन का व्रत (तुलसीत्रिरात्रव्रत) रखकर तदनन्तर तुलसी की वाटिका में लक्ष्मी-विष्णु का विवाह कराते हैं ।[7] तुलसी के एक लाख पत्रों का अर्पण (तुलसीलक्षपूजा) पुण्यप्रद है । कार्तिक मास से माघ मास तक प्रतिदिन एक हजार तुलसीदल अर्पित किये जाते हैं । इस समय बिल्वदल, दूर्वा और चम्पक-पुष्प भी अर्पित किये जाते हैं ।

२३. **दमनकभञ्जी**—दमनक के पौधे के साथ विशेष पौराणिक गाथा प्रसिद्ध है । शिव के तृतीय नेत्र से भैरव नाम की अग्नि उत्पन्न हुई थी । उसके ताप से सन्तप्त पार्वती ने शाप दिया कि वह पृथिवी पर जाकर पौधा बन जावे । तब शिव ने उसको वर दिया कि जो भी व्यक्ति उसका पूजन वसन्त और मदन के साथ करेंगे, उनको मन की अभिलषित वस्तुयें प्राप्त होंगी ।

---

१. कृत्यरत्नाकर पृ० १६२ ।
२. कृत्यरत्नाकर पृ० १६२ ।
३. स्मृतिकौमुदी पृ० २२१-२२२ ।
४. हेमाद्रि—व्रतखण्ड १-७१७-७२० ।
५. पद्मपुराण—पातालखण्ड ६४-४-११ ।
६. स्मृतिकौमुदी पृ० ३६६ ।
७. पद्मपुराण—पातालखण्ड—छठा अध्याय ।

दमनक पौधे का पूजन अनेक प्रकारों से किया जाता है। चैत्र मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को दमनक की जड़, लता और शाखाओं से कामदेव का पूजन करना चाहिये।[1] इस तिथि को स्वयं दमनक वनस्पति का भी पूजन किया जाता है। हेमाद्रि ने चैत्र मास की प्रतिपदा अमावस्या तक पन्द्रह दिनों तक दमनक से विभिन्न देवताओं के पूजन का विधान किया है।[2]

२४. **अशोकप्रतिपदा**—चैत्र मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को अशोक वृक्ष का पूजन करना चाहिये। यह पर्व केवल नारियों के लिये है।

२५. **होलिका**—यह उत्सव फाल्गुन मास की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इसमें अग्नि जला कर उसकी पूजा की जाती है तथा परिक्रमा करते हैं। इस समय नारियल, गेहूँ, जौ की बालियाँ ओर गन्ना भूनते हैं।

२६. **दूर्वा**— दूर्वा को पवित्र माना गया है। इसके निमित्त से पर्वों और व्रतों का उल्लेख धर्मशास्त्रों में है। दूर्वागणपतिव्रत कार्तिक मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को और दूर्वाष्टमी व्रत भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को मनाया जाता है। एक दूर्वात्रिरात्रिव्रत है, जो भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी से प्रारम्भ करके पूर्णिमा तक तीन दिन रहता है।

२७. **निम्बसप्तमी**—इस व्रत की अवधि एक वर्ष है। इसको वैशाख मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी को मनाया जाता है। इस व्रत में सप्तमी के दिन केवल नीम के फल खाये जाते हैं।

२८. **बकुल-अमावस्या**—इस व्रत का समय पौष मास की अमावस्या है। इन दिनों पितरों को बकुल-पुष्प भेंट किये जाते हैं। उनको पायस से भी सन्तुष्ट किया जाता है।

२९. **मन्दारषष्ठी और मन्दारसप्तमी**—साहित्य में पाँच वृक्षों को स्वर्गीय माना गया है। ये हैं—मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन। षष्ठी को उपवास करके सप्तमी को रात्रि में मन्दार के पुष्प खाये जाते हैं। अगले दिन आठ ब्राह्मणों को मन्दार-पुष्प खिलाये जाते हैं।[3]

३०. **मधूकव्रत**—यह व्रत महिलाओं के लिये है। इसको फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को किया जाता है। मधूक वृक्ष के नीचे गौरी की स्थापना की जाती है। इससे सौभाग्य तथा पुत्र की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है।

३१. **मरिचसप्तमी**—इस व्रत का समय चैत्र मास की शुक्लपक्ष की सप्तमी है। इस दिन सूर्य का पूजन करके ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और मन्त्र-

---

१. वर्षक्रियाकौमुदी पृ० ५३१।

२. हेमाद्रि—व्रतखण्ड २, ४५३-४५५।

३. पद्मपुराण ५-२१-२९२-३०६, कृत्यकल्पतरु—व्रतखण्ड पृ० २१९-२२१, मत्स्यपुराण ७९, १०५।

पाठ के साथ १०० काली मिर्च खाई जाती हैं। ऐसा करने से प्रियजन का वियोग नहीं होता।[1]

३२. **सर्षपसप्तमी**—इस व्रत को वर्ष में कभी भी किया जा सकता है। प्रथमा से सप्तमी तक सात सरसों के दाने हथेली पर रखकर सूर्य के अभिमुख होकर स्तुति करते हैं तथा इन दानों को बिना मुख बन्द किये पी जाते हैं।[2]

३३. **धान्यसप्तमी**—इस व्रत को शुक्लपक्ष की सप्तमी में किसी भी महीने में कर सकते हैं। इस अवसर पर सात धान्यों यव, गेहूँ, धान, तिल, कंगु, श्यामक और चिनक के साथ बरतन और नमक का दान ब्राह्मणों के लिये किया जाता है।

३४. **वृक्षोत्सव**—यह उत्सव वर्षा ॠतु में किया जाता है। परिवार के सब सदस्य वाटिका में एकत्रित होकर वृक्षों पर औषधि से युक्त जल छिड़कते हैं। इसके चारों ओर वस्त्र बाँधकर स्वर्णिम सुइयों से छेदन करते हैं। इस स्थान पर स्वर्णिम शलाका से अंजन लगाते हैं। वृक्षों के थांवलों पर स्वर्णिम फल रखे जाते हैं और तलप्रदेश में स्वर्णिम घट स्थापित होते हैं। तदनन्तर लोकपालों के निमित्त से हवन किया जाता है।

३५. **प्रायश्चित-व्रत**—वनस्पतियों के विभिन्न अंगों से प्रायश्चित करने का विधान धर्मशास्त्रों में किया गया है तथा इसके माध्यम से व्रतों के नाम रखे गये हैं। कुछ व्रतों के नाम इस प्रकार हैं—

(i) **पर्णकृच्छ्र**—इस व्रत को पर्णकूर्च भी कहा जाता है। यह ६ दिन में पूरा होता है। प्रतिदिन पलाश, उदुम्बर, कमल और बिल्व की पत्तियों के रस अथवा क्वाथ को पीकर कुशोदक पिया जाता है।[3] अत्रि के अनुसार इस व्रत में अश्वत्थ की पत्तियाँ भी ग्रहण करनी चाहिये।[4] 'विष्णुधर्मसूत्र' के अनुसार कुश, पलाश, उदुम्बर, पद्म, शंखपुष्पी, वट, ब्राह्मी और सुवर्चला के पत्तों का क्वाथ सभी पापों को नष्ट करता है।[5]

(ii) **पुष्पकृच्छ्र**—इस व्रत में विभिन्न प्रकार के पुष्पों को उबाल कर उनका क्वाथ एक मास तक पिया जाता है।[6]

(iii) **फलकृच्छ्र**—यह व्रत भी एक मास तक किया जाता है। व्रत रखने

---

१. हेमाद्रि—व्रतखण्ड—१-६९६।
२. कृत्यकल्पतरु—व्रतखण्ड पृ० १८७-१८८।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-३१६ पर मिताक्षरा।
४. अत्रिस्मृति ११६-११७। ५. विष्णुधर्मसूत्र ४६-२३।
६. अग्निपुराण १७१-१२।

वाला एक महीने तक केवल बिल्व, आमलकी और तालमखाना (पद्माक्ष) के फलों पर जीवन का निर्वाह करता है।[1]

(iv) **मूलकृच्छ्र**—इस व्रत में मनुष्य को एक मास तक केवल मृणाल खाकर जीवन का निर्वाह करना चाहिये।[2]

३६. फलसम्बन्धी-व्रत—धर्मशास्त्रों में फलों से सम्बन्धित अनेक व्रतों का वर्णन किया गया है। कुछ व्रत इस प्रकार हैं—

(i) **फलतृतीया**—इसको किसी भी मास के शुक्लपक्ष की तृतीया से प्रारम्भ करके एक वर्ष तक कर सकते हैं। इस अवधि में केवल फल खाकर जीवन का निर्वाह करते हैं।

(ii) **फलत्यागव्रत**—मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की तृतीया, अष्टमी, द्वादशी या चतुर्दशी से प्रारम्भ करके इस व्रत को एक वर्ष तक किया जाता है। एक वर्ष की अवधि में कोई फल नहीं खाया जाता।

(iii) **फलव्रत**—यह व्रत आषाढ मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करके चार महीनों तक किया जाता है। इस अवधि में केवल फल खाये जाते हैं।

(iv) **फलषष्ठीव्रत**—मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की पञ्चमी को उपवास करके षष्ठी में फलों से पारणा की जाती है।

(v) **फलसंक्रान्तिव्रत**—संक्रान्ति के दिन आठ ब्राह्मणों को फलों का दान किया जाता है।

(vi) **फलसप्तमी**—भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी को ब्राह्मणों के लिये फलों का दान किया जाता है।

(vii) **फलाहारप्रियव्रत**—इस व्रत को वसन्त-ऋतु में किसी भी समय किया जा सकता है। पहले तो तीन दिन तक केवल उपवास रखा जाता है और उसके पश्चात् तीन दिनों तक केवल फलों पर निर्वाह करते हैं।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने जन-जीवन में वनस्पतियों को बहुत अधिक महत्व दिया था और उनको धर्म के आवरण में लपेट कर सर्वजन के लिये आदरणीय तथा स्पृहणीय बनाने का प्रयत्न किया था। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, आर्थिक हो या राजनीतिक, देश सम्बन्धित हो या जाति से सम्बन्धित, धर्म से संलग्न है। इस संस्कृति में धर्म का अभिप्राय किसी संकुचित अर्थ में नहीं है, किन्तु बहुत व्यापक है। इसका अनुवाद केवल मजहब या रेलीजन

१. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-१६ पर मिताक्षरा।
२. विष्णुधर्मसूत्र ४६-१५।

नहीं है, जो किसी विश्वास विशेष या पूजनपद्धतिविशेष को प्रकट करता है। परन्तु धर्म का अभिप्राय है कि जिन कार्यों से मनुष्य, समाज, जाति और देश की उन्नति हो, वह धर्म है। इसीलिये आचार्य कणाद ने कहा था—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। अर्थात् जिन हेतुओं से उन्नति और कल्याण होते हैं, वे धर्म हैं। यह धर्म व्यक्ति और समाज को धारण करता है। मनु का भी कथन है कि धर्म वही है, जो धारण करता है।

वनस्पतियों को मानव ने लोककल्याणकारी द्रव्यों के रूप में निरीक्षित किया था। ये वनस्पतियाँ प्राणियों को छाया प्रदान करती हैं। पुष्प, फल और ईंधन इनसे प्राप्त होते हैं। इनका काष्ठ घरों के बनाने तथा उपयोगी उपकरणों की रचना करने के काम में आता है। मनुष्यों के वस्त्र तथा भोजन की अधिकांश आवश्यकतायें वनस्पतियों से ही पूरी होती हैं। वनस्पतियों का प्रयोग विविध रोगों की चिकित्सा में किया जाता है। इस प्रकार प्राणियों के जीवन की रक्षा के लिये वनस्पतियाँ अनिवार्य हैं। वनस्पतियों द्वारा ही इस विश्व की और भूमि की रक्षा होती है। वनस्पतियों के न रहने पर भूमि का क्षरण होने लगता है और रेगिस्तानों की वृद्धि होने लगती है। इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने वनस्पतियों को धार्मिक महत्व प्रदान किया था, जिससे मनुष्य इनका आदर करे तथा इनकी रक्षा और वृद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

ऋषियों ने मानव समाज के लिये जिस भी वनस्पति को अधिक उपयोगी पाया था, उसी को धर्म का अनिवार्य अंग मान लिया था। ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों में देवदारु वृक्ष वहाँ के आर्थिक जीवन का प्राण है। यह भी देखने में भी अति शोभन प्रतीत होता है। अतः इसको देवताओं का तरु कहा गया है। इसको स्वयं देवाधिदेव शिव ने अपना पुत्र कहा एवं पार्वती ने इसको अपने स्तन-सदृश घटों में जल भरकर सींचा।[1]

निम्न पर्वतीय क्षेत्रों में साल वृक्ष की बहुतायत है। यह काष्ठ की विविध आवश्यकताओं को पूरा करता है, अतः इसकी पूजनीयता प्रचलित हुई। अनेक स्थानों में, यथा नेपाल में इसका पूजन किया जाता है। क्रूर ग्रहों वाली कन्या का विवाह पहले इसी वृक्ष से करके ग्रहों के दुष्प्रभाव को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

जिन प्रदेशों में शाल्मलि वृक्ष की प्रधानता है, वहाँ इसको पूजनीय मानकर उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा स्वीकार की गई है। यह कन्याओं के ग्रहों के दुष्प्रभाव को भी दूर करने की सामर्थ्य रखता है। वसन्त-ऋतु में पुष्पित शाल्मलि के रक्त वर्ण के पुष्प तथा इसके पश्चात् उनकी ढोडियों से उड़ती हुई तूलिराशि वस्तुतः देवत्व का

१. रघुवंश २-३६।

आभाष कराती है। अतः इसमें कन्याओं के बुरे ग्रहों के दुष्प्रभाव को दूर करने के सामर्थ्य की कल्पना की जावे तो आश्चर्य ही क्या है।

पर्वतीय प्रदेशों में विशेष रूप से गढ़वालवाल में भिमल वृक्ष की काष्ठ जलाने के, काष्ठ की छाल वस्त्रों को धोने के तथा वस्त्र बनाने के काम में लाई जा सकती है। अतः इसमें पूज्य भाव माना गया है। इसके ऊपर वस्त्र-खण्ड बाँधकर महिलायें अपनी कामनाओं को पूरा करने की सामर्थ्य की प्रार्थना करती हैं।

भारतीय खाद्य पदार्थों में तिलों का विशेष महत्व है। सभ्यता के प्राचीन परिवेश में तिल के ही तेल का अधिक प्रयोग होता रहा था। इस कारण तिल के नाम से सभी चिकने पदार्थों को तेल कह दिया गया। आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि तिल एक अति पौष्टिक पदार्थ है जिससे भोजन की प्रायः सभी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। अतः तिल को पूजनीय मानना अनिवार्य हो गया और इसको धार्मिक महत्व भी प्राप्त हुआ। पूजन द्रव्यों में तिल का बहुत महत्व है। इसके विना देवताओं का पूजन नहीं हो सकता। मृत्युत्तर संस्कारों में भी तिलों का निश्चित प्रयोग होता है। पुराणों के अनुसार तिलों की उत्पत्ति विष्णु के शरीर से हुई थी।[१] इसका कृष्ण के स्वेद से उत्पन्न भी माना गया है।[२] ये अति पवित्र होते हैं। तिलों द्वारा यातुधान (बुरी आत्मायें) भगा दिये जाते हैं।[३] तिल का उबटन करने वाला, तिल को खाने वाला और तिल को उपजाने वाला कभी अभागा नहीं होता।[४]

तिलों के समान नारियल भी भारतीय आर्थिक जीवन के लिये अति उपयोगी है। पूर्वी और दक्षिणी भारत, भारत में नारियल बहुत होते हैं। वहाँ के आर्थिक जीवन में इनका बहुत महत्व है। इससे खाद्य की आवश्यकतायें तो पूरी होती ही हैं, अनेक उद्योगों का भी यह आधार है। अतः इसको धार्मिक महत्व प्राप्त होना अनिवार्य था। देवताओं का पूजन नारियल का उपहार दिये विना अधूरा ही है। शुभ अवसरों पर और मङ्गल प्रसङ्गों में सम्पूर्ण नारियल या इसकी सम्पूर्ण गिरी (गोला) को उपहार देते हैं। प्रियजनों को विदा करते समय नारियल उपहार में दिया जाता है। उद्घाटन के अवसरों पर नारियल को फोड़कर उसकी गिरी वितरित की जाती है। अनेक विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि प्राचीन साहित्य में वर्णित कल्पवृक्ष नारियल ही है।

---

१. पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड ११-९२।

२. यस्मान्मधुवधे विष्णोर्देहस्वेदसमुद्भवाः।
तिलाः कुशाश्च माशाश्च तस्माच्छन्नो भवत्विह।।
—मत्स्यपुराण ८६-४।

३. गरुडपुराण प्रेतखण्ड—२-२१-२२। ४. कृत्यरत्नाकर।

भारतीय भोजन पद्धति में पान खाने का रिवाज अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। सभ्य समाज में भोजन के अनन्तर ताम्बूल की परम्परा प्रायः प्रचलित रही है। ताम्बूल का दिया जाना सम्मान का सूचक था। इसका प्रयोग पूगीफल (सुपारी) के साथ किया जाता है। अतः देवता भी इस सम्मान से क्यों वञ्चित रहते। देवताओं के पूजन में ताम्बूल और पूगीफल सामान्य रूप से रहता है।

प्राचीन ऋषियों के जीवन में कुश और दूर्वा का महत्व सदा ही रहा था। दूर्वा पालतू पशुओं का मुख्य भोजन तो है ही, चिकित्सा में भी इसका प्रचुर प्रयोग होता है। अतः दूर्वा को पूजन द्रव्यों में सम्मिलित किया जाना अनिवार्य हुआ। ऋषियों के आश्रमों में कुशों का प्रयोग मुख्य रू. से आसनों को बनाने के लिये होता था। इसको बहुत पवित्र मान लिया गया था। यज्ञ की वेदियाँ कुशों से आस्तीर्ण होती थीं। पुराणों के अनुसार कुशों की उत्पत्ति विष्णु के शरीर से हुई थी।[१] तीनों मुख्य देवताओं का इसमें निवास मान लिया गया था। ब्रह्मा इसके मूल में, विष्णु इसके मध्य में और शिव इसके अग्र भाग में निवास करते हैं।[२] यही कारण है कि देवपूजन के समय दूर्वा और कुशों को कंगन या अँगूठी के रूप में यजमान और पुरोहित द्वारा बाँधने की परम्परा प्रचलित हुई थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन समय में मन्दिरों के निर्माण के साथ वृक्षों को लगाने तथा वाटिकाओं की रचना की परम्परा रही थी। यह परम्परा आधुनिक समय में भी विद्यमान है। वर्तमान समय में मन्दिरों की भूमि के साथ वृक्षों को लगाये जाने से वाटिकाओं की रचना अवश्य दिखाई देती है। यदि स्थान की कमी हो और वाटिका न भी लग सकती हो, तो भी जितनी भूमि उपलब्ध है, उसके अनुपात में कुछ वनस्पतियाँ अवश्य लगा दी जाती हैं। इनके पत्र, पुष्प, फल आदि देव-पूजन के प्रयोग में आ ही जाते हैं। भारतीय मन्दिरों में, विशेष रूप से शिव हनुमान् आदि देवताओं के मन्दिरों के प्राङ्गणों में अश्वत्थ और वट के वृक्ष अवश्य लगाये जाते हैं। भक्तजन मन्दिरों में जाकर देवताओं का पूजन करने के साथ ही इन वृक्ष देवताओं का भी पूजन अवश्य करते हैं।

अनेक हिन्दू परिवारों में यह रिवाज है कि विशेष संस्कारों और पर्वों के अवसरों पर अश्वत्थ और वट का पूजन किया जावे। जातकर्म संस्कार के पश्चात् स्त्रियाँ गोदी में शिशु को लेकर वृक्ष का पूजन करके दीर्घायुष्य की कामना करते हैं। विवाह के पश्चात् वर-वधू वट वृक्ष की परिक्रमा करके उसका पूजन करते हैं तथा नव विवाहिता अपने परम सौभाग्य की याचना करती है। मन्दिरों में तथा बाहर के स्थानों पर अश्वत्थ, वट तथा अन्य वृक्षों पर अनेक रंग-बिरंगे वस्त्रखण्ड बँधे

१. मत्स्यपुराण ८६-४।
२. वराहपुराण १७०-३६-३७।

दिखाई देते हैं। ये इस बात के प्रतीक हैं कि मनौती माँगने वालों ने उसकी सूचना के रूप में वृक्षों की शाखाओं में ये वस्त्रखण्ड बँधे हैं। जैसे कि अन्य वृक्षों के सम्बन्ध में पहले कहा गया है, अनेक हिन्दू परिवारों में यह रिवाज है कि कन्या की मँगनी हो जाने पर अथवा उसके ग्रहों के भावी पति के प्रति कठोर होने पर कन्या का प्रथम विवाह अश्वत्थ या अन्य किसी विशिष्ट वृक्ष के साथ कर दिया जाता है। तदनन्तर उसके लिये पति की खोज की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि उस कन्या के कठोर ग्रहों के दुष्प्रभाव को यह वृक्ष देवता वहन कर लेगा।

आधुनिक समय में वनस्पतियों के महत्व को सभी ने स्वीकार किया है। वृक्षों के कम हो जाने के कारण रेगिस्तान का प्रसार हो रहा है। वृक्षों की न्यूनता के कारण भूमि के कटाव की भी समस्या उत्पन्न हो गई है। इसका प्रभाव वर्षा तथा वायुमण्डल पर भी पड़ा है। अन्धाधुन्ध वृक्षों का कटान करने से ये सब समस्यायें उत्पन्न हुई हैं। इन सब समस्याओं का समाधान भारतीय मनीषियों ने बहुत पहले ही किया था। उन्होंने निम्न सिद्धान्तों का प्रचलन किया[१]—

(क) एक पुत्र दस गहरे जलाशयों के बराबर होता है और एक वृक्ष दस पुत्रों के समान है।

(ख) पुष्पों और फलों से लदा वृक्ष स्वामी को नरक से बचाता है। नरक से बचने के लिये कम से कम पाँच आम्र वृक्षों का आरोपण करना चाहिये।

(ग) पालित वृक्ष पुत्र के समान कार्य करता है। वह आरोपण करने वाले को पाप से बचाता है।

प्राचीन ऋषियों ने इन सिद्धान्तों को केवल कहा और लिखा ही नहीं था, अपितु क्रियात्मक रूप से इनका निर्वाह भी किया था। भारतीय वास्तुशास्त्र में नगरविन्यास एवं गृहविन्यास की योजना में वाटिकाओं का स्थान अनिवार्य रूप से रखा गया था। संस्कृत नाटकों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन नगरों और भवनों के साथ विविध वनस्पतियों की वाटिकायें अवश्य होती थीं। जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि भारतीय ऋषियों के आश्रमों और तपोवनों के साथ वाटिकायें अवश्य होती थीं और इनमें नानाविध वनस्पतियाँ भी होती थीं। इनका अति मनोरम चित्रण कालिदास ने किया है। कण्व के तपोवन के बाह्य मार्गों में वृक्षों के खोखलों में तोतों के बच्चे नीवार धान्य खा रहे हैं। छोटी कुल्याओं से वृक्षों की सिंचाई की जा रही है। वृक्षों के पत्ते यज्ञीय धूम के कारण कुछ फीके पड़ गये हैं।[२] आश्रम के वृक्षों का सिञ्चन स्वयं तापस-कन्यायें ही किया करती थीं। आश्रम की वनस्पतियाँ भी इन तपोवनवासियों को सभी योग्य वस्तुयें प्रदान करती थीं।

---

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३-२९७।

२. अभिज्ञान० १-१४-१५।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीयों की वनस्पतियों के प्रति गहरी अनुराग की भावना थी, जो धर्म के रूप में परिणत हो गई थी। वस्तुत: वनस्पतियों की बहुमुखी उपयोगिता ने ही इस धार्मिक भावना को जन्म दिया था। वनस्पतियों का धार्मिक के साथ ही आर्थिक और सामाजिक महत्व है। इन सबका उद्देश्य यही था कि भारतीय जन वनस्पतियों के प्रति अधिक स्नेह और आदर करें तथा वृक्षारोपण को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिले।

४. वनस्पतियों पर प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि

वनस्पतियों की विविध उपयोगिता से और इनके वैज्ञानिक पक्ष से प्राचीन भारतीय मनीषी भली-भाँति परिचित थे। वैदिक युग में ही इन वनस्पतियों की उपयोगिता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार होने लगा था। वेदों में लगभग २०० वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। 'अथर्ववेद' में अनेक वनस्पतियों के उपयोगों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। वनस्पतियों के विज्ञान को "वृक्षायुर्वेद" नाम दिया गया था।

वैदिक युग के अनन्तर वनस्पतियों की उपयोगिता, उनके वर्गीकरण, वपन, पालन, सिंचाई आदि विषयों पर गम्भीरता से विचार किया गया था। 'महाभारत' में वनस्पतियों का वर्गीकरण किया गया है। प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों में वनस्पतियों के वर्गीकरण, गुण-दोष आदि पर विस्तृत विचार हैं। संस्कृत नाटकों में भी कहीं-कहीं इन विषयों के संकेत प्राप्त हो जाते हैं।

वनस्पतियों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। एक तो 'महाभारत' के अनुसार और दूसरा चिकित्सा ग्रन्थों के अनुसार। महाभारतकार ने वनस्पतियों को ६ वर्गों में बाँटा है[१]—

(क) वृक्ष।

(ख) लता (वृक्षों का आश्रय लेकर फैलने वाली)।

(ग) वल्लरी (पृथिवी पर फैलने वाली)।

(घ) गुल्म (झाड़ियाँ)।

(ङ) त्वक्सार (मोटे तथा मजबूत वल्कल वाली, परन्तु मध्य में खोलती)।

(च) घास तृण, दूर्वा आदि।

चिकित्सा ग्रन्थों में वनस्पतियों को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है[२]—

(क) वनस्पति—जिन पर पुष्प नहीं आते।

---

१. महाभारत—अनुसासन पर्व ५८-२३-३२।

२. बी० एन० सील : पॉजिटिव साइन्सेज आफ दी हिन्दूज पृ० १६९।

(ख) वानस्पत्य—जिन पर पुष्प आकर फल आते हैं।
(ग) औषधि—छोटी वनस्पतियाँ।
(घ) वीरुध—लतायें तथा गुल्म।

वानस्पत्य और वनस्पति वर्गों में अमरसिंह ने इसी आधार पर भेद किया है। जिन पर फूल आकर फल आते हैं, उनको वानस्पत्य कहते हैं और जिन पर विना फूलों के ही फल आ जाते हैं, उनको वनस्पति कहते हैं।[1] जो वृक्ष छोटा और कम शाखाओं का होता है, सकोक्षुप कहा जाता है। विना शाखाओं और झुण्डों में लगने वाली वनस्पतियों को स्तम्ब या गुल्म कहा गया है। जो वनस्पतियाँ भूमि पर ही फैलकर बढ़ती हैं, उनको व्रतति या वल्ली कहते हैं और जो किसी सुदृढ़ वृक्ष के आश्रय से बढ़ती हैं, उनको लता कहा जाता है। बहुत सी शाखाओं से युक्त लता को प्रतानिनी नाम दिया गया था। फल आकर पक जाने के पश्चात् जो वनस्पतियाँ समाप्त हो जाती हैं, वे औषधि कही गई थीं।

जलज वनस्पतियों का भी उल्लेख प्राचीन साहित्य में है। कमल, कुमुद, शैवाल आदि वनस्पतियाँ जल के अन्दर ही जीवित रह सकती हैं।

प्राचीन मनीषियों ने वनस्पतियों के विभिन्न अंगों तथा उपांगों का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया था। वनस्पतियों के मुख्य रूप से पांच अंग होते हैं—पत्र, पुष्प, फल, शाखा और मूल। इनको सम्मिलित रूप से पंचाङ्ग कहा जाता है। इन अंगों के भी उपांग होते हैं। वृक्ष की मुख्य शाखा को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध से उत्पन्न होने वाली शाखाओं को विटप कहा जाता है। स्कन्ध से सबसे पहले निकलने वाली शाखा स्कन्ध-शाखा या शाला कही गयी थी। स्कन्ध से नीचे लटकने वाले प्ररोह को शिफा या जटा कहा गया था। जब ये भूमि तक लटकर उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं तो मूल बन जाते हैं। तब ये अवरोह कहलाते हैं। वृक्ष का सबसे ऊपर का भाग शिरस् या शिखर है। वृक्ष के विस्तार को विटप कहते हैं।

शाखाओं का ऊपरी पतला आवरण वल्कल तथा अन्दर का भाग सार या मज्जा कहलाता है। अन्दर का भाग खोखला होने पर कोटर बन जाता है। नये कोमल पत्ते को प्रवाल या किसलय कहते हैं। ये अकेले या गुच्छों में हो सकते हैं। कोमल शाखाओं पर पुष्प खिलते हैं। ये एक वृन्त पर लटकते हैं। जब एक वृन्त पर अनेक पुष्प एक लम्बी कतार में निकलते हैं, तो उसको मञ्जरी कहते हैं। पुष्पों के गुच्छे के रूप में निकलने पर यह गुच्छक या स्तबक होता है। फल, पुष्प या पत्र जिस अंग के आश्रय से लटकता है, वह वृन्त कहलाता है। फल को सस्य कहा जाता है। कच्चा फल शलाटु और सूखा फल वान कहा गया था।

पुष्प जब न खिला हो तो उसको कलिका, कोरक, कुड्मल या मुकुल कहा

---

१. वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः।

—अमरकोष २·४-६।

गया। पूर्ण रूप से विकसित होने पर यह पुष्प, प्रसून या कुसुम है। इसका अन्दर का रस पुष्परस, मधु या मकरन्द कहलाता है। इसके अन्दर पराग या रजस् होता है। पुष्प के मध्य भाग को कोष कहते हैं। इसमें किञ्जल्क या केसर रहते हैं। कोष से ही पंखुड़ियाँ पटल या पत्र बाहर निकलती हैं। पंखुड़ियों के गिरने पर यह कोष ही बीज-कोष बन जाता है।

स्थान की दृष्टि से वनस्पतियों के दो वर्ग हैं—वनों में प्राकृतिक रूप से उगने वाली और मनुष्यों द्वारा लगाई जाने वाली। वनों के समूह को वन्या तथा महान् वन को अरण्यानी या महारण्य कहा गया था।

मनुष्यों द्वारा लगाई जा सकने वाली वनस्पतियाँ दो वर्गों की हैं—क्षेत्र (खेत) में होने वाली और उद्यानों में होने वाली। घर के साथ लगाये जाने वाले उद्यान को गृहोद्यान, गृहाराम, निष्कुट आदि नाम दिये गये थे। नगरों के बाहर या भीतर भी सार्वजनिक, उद्यान या वाटिका लगाई जाती थी। अन्तःपुरों के साथ लगाये जाने वाले उद्यान को प्रमदवन नाम दिया गया था। उद्यान कितने प्रकार के हो सकते हैं तथा इनमें किस प्रकार की वनस्पतियाँ लगाई जाती थीं, इसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

प्राचीन साहित्य के वास्तुशिल्प में उद्यानों का विस्तृत विवरण है। घरों तथा नगरों की योजनाओं में उद्यानों का स्थान अवश्य होता था। यह बताया गया है कि उद्यानों में वृक्षों को किस क्रम से लगाना चाहिये। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार मन्दिर के मण्डप के पूर्व में फलदायक वृक्ष, दक्षिण में क्षीरीवृक्ष, पश्चिम में कमलों से भरा जलाशय और उत्तर में उष्पवाटिका तथा सरल-साल जैसे वृक्ष होने चाहियें।[1] 'अग्निपुराण' का कथन है कि वाटिका की रचना करते समय उत्तर दिशा में प्लक्ष, पूर्व में वट, दक्षिण में आम्र और पश्चिम में अश्वत्थ को आरोपित करना चाहिये।[2] इनमें सिंचाई करने के लिये नदी से नहर लानी चाहिये या पुष्करिणी बनवानी चाहिये।[3] बड़े वृक्षों को बीस हाथ की दूरी पर के अन्तर से, मध्यम वृक्षों को १६ हाथों के अन्तर से और छोटे वृक्षों को १२ हाथों के अन्तर से लगाना चाहिये। अधिक घना लगाने से इन पर प्रचुर फल नहीं आते। इनकी समय-समय पर छँटाई

---

१. मत्स्यपुराण अध्याय ५८।

२. वृक्षायुर्वेदमाख्यास्ये प्लक्षश्चोत्तरतः शुभः।
प्राग्वटो याम्यतस्त्वाम्र आप्येऽश्वत्थः क्रमेण तु॥

—अग्निपुराण २८२-१।

३. प्रवेशयेन्नदीवाहान् पुष्करिण्यान्तु कारयेत्। —अग्निपुराण २८२-४।

कर देना भी उचित रहता है।[1] विभिन्न वनस्पतियों को उद्यानों में, जिस क्रम से लगाया जाता है तथा एक वनस्पति का वाटिका में पृथक् स्थान जिस क्रम से होता है, इस तथ्य का उल्लेख उद्यानों के प्रकरण में किया जा चुका है।

वनस्पतियों पर फलों और पुष्पों का प्रचुर उद्गम हो और इनका आकार भी बड़ा बनाया जा सके, इसके लिये विशेष वैज्ञानिक प्रयोगों का उल्लेख हुआ है। फल-पुष्पों की समृद्धि के लिये भेड़-बकरी की विष्ठा के साथ यव और तिल-मिलाकर खाद बनाकर देनी चाहिये। घृतमिश्रित जल से सिंचाई करनी चाहिये।[2] फलों के नष्ट हो जाने पर कुलत्थ, मांस, मुद्ग, जौ और तिल की खाद देकर वृक्ष के मूल को घृत से लेप करके शीतल जल से सींचना चाहिये।[3] मांसयुक्त जल से तथा मछली से युक्त जल से सींचने से वृक्षों में फल-पुष्प की वृद्धि होती है। श्लेत तण्डुलों से युक्त मछली और मांस वृक्षों का विशेष दोहद है।[4]

संस्कृत कवियों ने फलों को समुन्नत करने और बड़े आकार का बनाने के लिये विशेष योगों का संकेत दिया है। श्रीहर्ष ने वर्णन किया है कि जब राजा नल अपनी वाटिका में वन-विहार के लिये गये तो अनार के फलों को बड़े आकार का करने के लिये उनको विशेष दोहद रूप धूप दी जा रही थी।[5] हर्ष के इस कथन की टीका करते हुये मल्लिनाथ ने इस दोहद के तीन प्रयोग दिये हैं—

---

१. उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम्।
स्थापनात् स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशान्तरम्॥
विफलाः स्युर्घनाः वृक्षाः शस्त्रेणादौ हि शोधनम्॥
—अग्निपुराण २८२-८-९।

२. घृतशीतपयः सेकः फलपुष्पाय सर्वदा।
अविकाजशकृच्चूर्णं यवचूर्णं तिलानि च॥ —अग्निपुराण २८२-११।

३. विरंगघृतपंकाक्तान् सेचयेच्छीतवारिणा।
फलनाशे कुलत्थैश्च मांसैर्मुद्गर्यवैस्तिलैः॥
—अग्निपुराण २८२-१०।

४. गोमांसयुक्तमुदकं चैव सप्तरात्रं निधापयेत्।
उत्सेकः सर्ववृक्षाणां फलपुष्पादिवृद्धिदः॥
मत्स्याम्भसात्तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनः।
विरङ्गतण्डुलोपेतं मत्स्यं मांसं हि दोहदम्॥
सर्वेषामविशेषेण वृक्षाणां रोगमर्दनम्॥
—अग्निपुराण २८२-१२-१४।

५. फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे।
—नैषध० १-८२।

(क) भेड़ के मांस से मिश्रित जल की सिंचाई तथा मेष के बालों की धूप देने से अनार के फल बड़े आकार के होते हैं।[१]

(ख) मछली, घी, त्रिफला तथा भेड़ के मांस का लेप करने एवं उनकी धूप देने से अनार के फल ताड़ के समान बड़े हो जाते हैं।

(ग) भेड़ के क्वाथ से सिंचाई करने एवं उसके रोमों की धूप देने से अनार के फल आकार में बड़े तथा संख्या में प्रचुर होते हैं।

वनस्पतियों और लताओं को पुष्पित करने के लिये विशिष्ट वैज्ञानिक प्रयोगों के होने का संकेत संस्कृत नाटकों में मिलता है। वनस्पतियाँ विशेष ऋतु पुष्पित होती हैं। परन्तु उस विशेष ऋतु के न होने पर भी उनमें पुष्पों को विकसित करने के लिये वैज्ञानिक प्रयोग किये जा सकते थे। यह कार्य विशेष प्रकार की औषधियों के प्रयोगों से, जो मन्त्रों से सिद्ध होती थीं, किया जाता था। इस प्रयोग को दोहद भी कहा गया था। हर्ष ने वर्णन किया है कि श्रीखण्डदास नामक धार्मिक के मन्त्र-प्रयोग से, दोहद देने मात्र से नवमालिकाओं की शाखाओं में घने पुष्प के गुच्छे विकसित हो गये थे।[२] 'विद्धसालभञ्जिका' के एक वर्णन के अनुसार एक विशेषज्ञ ने, जो कि सिद्ध नरेन्द्र कहलाता था, माधवी लता के मण्डप को औषधियों के प्रयोग से लाल रंग के पुष्पों से भर दिया था।[३]

—:०:—

---

१. मेषामिषाम्बुसंसैकस्तत्केशामिषधूपनम्।
मत्स्याज्यत्रिफलालेपेमांसेराजविकोद्भवैः।
लेपिता धूपिता सूते फलं तालीव दाडिमी॥
अविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तस्य लोमभिः।
फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च॥
—नैषधीयचरितम् १-८२ पर मल्लिनाथ की टीका।

२. साधु रे श्रीखण्डदास धार्मिक साधु। येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदकेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपोपहसन्तीव लक्ष्यते देवीपरिगृहीतां माधवीलताम्। —रत्ना० पृ० ५४।

३. सिद्धनरेन्द्रदत्तौषधिविजृम्भितमाञ्जिष्ठस्तबकशतसहस्रालङ्कृतं माधवी-मण्डपं द्रष्टुमिच्छति देवी। —विद्ध० पृ० ९०।

द्वितीय-खण्ड

वनस्पतियों के विवरण

१. अगुरू

संस्कृत नाम—अगुरु, प्रवर, लोह, राजार्हं, योगज, वंशिक, कृमिज, कृमिजग्ध, अनार्यक[1]।

हिन्दी नाम—अगर।

अंग्रेजी नाम—Eagle wood, A loe wood।

लैटिन नाम—Aquillaria agallocha Roxb।

कुल—Thymelacaceae।

वर्ग—कर्पूरादिवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, हनुमन्नाटक, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

अगर के वृक्ष पूर्वी हिमालय, आसाम, भूटान, सिलहट आदि में बहुतायत से होते हैं। कुछ मात्रा में ये राजपूताना और दक्षिण भारत में भी मिलते हैं।

अगर वृक्ष सामान्यत: ६०–१०० फीट ऊँचे होते है। तने का घेरा ५–८ फीट, छाल पतली, पत्तियाँ १–३ इंच लम्बी आगे से नोकीली होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में श्वेत रंग के पुष्प गुच्छों में खिलते हैं। वर्षा के प्रारम्भ में १–२ इंच लम्बे अण्डाकार मृदु रोमावृत फल आते हैं।

अगर काष्ठ सामान्यत: कोमल, हलकी पीली और गन्धरहित होती है। पुराने वृक्षों में कृमियों का संक्रमण होकर इसमें विशेष सुगन्धि और श्यामिका उत्पन्न हो जाती है। अब यह लकड़ी भारी होकर जल में डूबने लगती है। यह जितनी भारी और श्याम वर्ण होती है, उतनी ही अच्छी होती है और अगर के नाम से बिकती है। कृमिसंक्रमण के कारण ही इसको कृमिज और कृमिजग्ध कहा गया था। वृक्ष को ऊपर से देखने से पता नहीं लगता कि किस स्थान पर अगर है। इसको पहचानने के लिये विशेष दक्षता की आवश्यकता होती है। वृक्ष के तने और मोटी शाखाओं को काटकर अगरगर्भित काष्ठ अलग कर लिया जाता है।

---

१. अगुरुप्रवरं लोहं राजार्हं योगजं तथा।
वंशिकं कृमिजं वापि कृमिजग्धमनार्यकम्॥—भाव० कर्पूरादिवर्ग० २१।

अगर में विशेष सुगन्धि होती है, जो इसके तैलीय अंश के कारण है। सुश्रुत ने इसका उल्लेख तैलवर्ग में किया है[१]। परन्तु 'भावप्रकाशनिघण्टु' में यह कर्पूरादिवर्ग में पठित है।

काव्यात्मक वर्णन—

कवियों ने वर्णन किया है कि कस्तूरी मृग अगरु के नीचे विश्राम करते हैं[२]। अतः इसको ऊँचे हिमालय क्षेत्रो में होना चाहिये। कुछ कवियों ने दक्षिण वनों में अगुरु के वनों का उल्लेख किया है[३]। अगुरु के श्याम वर्ण और सुगन्ध ने कवियों को आकृष्ट किया था। श्याम वर्ण के कारण इसको कालागुरु कहा गया। अगुरु के श्याम वर्ण को कुन्तल प्रदेश की सुन्दरियों के वर्ण का उपमान बनाया गया है। राजशेखर का कथन है कि कुन्तल की और लाट की तरुणियों में वही अन्तर है, जो अगर और कपूर में है[४]। कुन्तल की तरुणियों का वर्ण श्यामल और लाट की सुन्दरियों का वर्ण गौर होने से कवि ने इस प्रकार की कल्पना की थी।

अगुरु के सुगन्धित होने से प्रसाधन के लिये इसका विशेष प्रयोग किया जाता था। काले अगर को अकेले या चन्दन आदि द्रव्यों के साथ मिला कर लगाया जाता था[५]। कवियों ने उल्लेख किया है कि सुगन्धि को बसाने के लिये अगुरु का धूप दिया जा सकता है[६]।

उपयोग—

अगुरु के प्राचीन समय में विविध उपयोग प्रचलित थे। विविध सुगन्धियों को बनाने में इसका उपयोग होता था। इससे अगरबत्ती बनती है। वर्तमान समय में वायुप्रदूषण को रोकने के लिये इसका उपयोग किया जा सकता है। चिकित्सा में भी इसका उपयोग है। यह उष्ण, कटु-तिक्त, दीपक और पाचक है। इसका बाह्य लेप वेदनाओं को दूर करता है। वाजीकरण के लिये इसको इतर पान के साथ लिया जा सकता है। अगुरु का प्रयोग अष्टगन्ध (श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, भीमसेनी कपूर, गोरोचन, केसर, कस्तूरी, अगुरु और तगर) के साथ भोजपत्र पर अंकन करके तान्त्रिक करते हैं।

---

१. सुश्रुतसंहिता—सूत्रस्थान १००-१२१।
२. बालरामायण ३-२८। ३. हनू० पृ० ६८-७०।
४. विद्ध० पृ० १०४।
५. रौगादकालागुरुचन्दनाद्रां। —अवि० ५-१।
६. कर्पूर० ३-१४।

अपराजिता

संस्कृत नाम—आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता, अपराजिता[1]।
हिन्दी नाम—कोयल।
अंग्रेजी नाम—Winged-leaved Clitoria।
लैटिन नाम—Clitoria ternates linn.
कुल—Fabaceae.
वर्ग—गुडूच्यादिवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञानशाकुन्तल।

वनस्पति का परिचय—

अपराजिता लता जाति की वनस्पति है। यह वृक्षों और झाड़ियों पर चक्रारोही रूप में बढ़ती है। यह प्राय: सारे भारतवर्ष में होती है। वनों में तथा वाटिकाओं में पाई जाती है। पुष्प के रंगभेद से यह दो प्रकार की है—श्वेत और नील।

अपराजिता का काण्ड पतला होता है। पत्रक ५ या ७ के गुच्छों में लगते हैं। पतियाँ अण्डकार एक दो इंच लम्बी होती हैं। पुष्प एक दो इंच लम्बे, नलीयुक्त, गोल-लम्बे, श्वेत या नीले होते हैं। फलियाँ चपटी दो चार इंच की होती हैं। इनमें ६–१० बीज अण्डाकार, चपटे गहरे भूरे रंग के होते हैं।

साहित्य में अपराजिता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार उत्तरपूर्व दिशा अपराजिता है, क्योंकि इस दिशा में देवताओं को असुर पराजित नहीं कर सके थे[2]। दुर्गा को भी अपराजिता नाम दिया गया है। दशमी को देवी का पूजन करना चाहिये[3]। एक विशेष विद्या का नाम भी अपराजिता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कालिदास ने अपराजिता का वर्णन एक विशेष औषधि के रूप में किया है। देवी तथा पार्थिव आपत्तियों से रक्षा के लिये इस औषधि को मन्त्रपूत करके बालकों

---

१. आस्फोता गिरिकर्णी स्याद् विष्णुक्रान्ताऽपराजिता।
भाव० गुडुच्यादिवर्ग ११।

२. उदीच्यां प्राच्यां दिश्यजयन्त ते ततो न पराज्यन्त सैषा दिगपराजिता।
—ऐतरेय ब्राह्मण ६-३१।

३. दशम्यां च नरैः सम्यक् पूजनीयाऽपराजिता।
ददाति विजयं देवी पूजिता जयवर्धिनी॥ —स्कन्दपुराण।

की भुजा में बाँध दिया जाता था। मारीच ने इस वनस्पति को शकुन्तला के पुत्र भरत के हाथ में बाँधा था[१]। 'विक्रमोर्वशीयम्' में अपराजिता का उल्लेख एक विशेष विद्या के रूप में किया गया है[२]। भारतीय वनस्पति विज्ञान में दूर्वा, शेफालिका आदि वनस्पतियों को अपराजिता नाम दिया गया है।

उपयोग—

अपराजिता के पत्ते, बीज और मूल का चिकित्सा में प्रयोग होता है। यह मृदु विरेचक है। परन्तु अधिक मात्रा में लेने से मरोड़ के साथ अतिसार हो जाता है। उदररोग, कफ के विकार और आमवात में यह उपयोगी है। अर्धावभेदक में अपराजिता के मूल का स्वरस देना चाहिये। गर्भधारण और गर्भस्थापन के लिये भी मूल का स्वरस देना चाहिये। रविवार के दिन मूल नक्षत्र में श्वेत अपराजिता के मूल को उखाड़कर उसको घिस कर माथे पर तिलक लगाने से वशीकरण सिद्ध होता है।

३. अरण

संस्कृत नाम—अग्निमन्थ, जय, श्रीपर्णी, गणिकारिका, जया, जयन्ती, तर्कारी, नादेयी, वैजयन्तिका, अरणी[३]।

हिन्दी नाम—अरनी।

अंग्रेजी नाम—Arani trea.

लेटिन नाम—छोटी अरनी—Clerodendrone hhlo. बड़ी अरणी—Premma latibolia Roxb.

कुल—Verbanaceae midisl̈inn.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

वेणीसंहार।

---

१. अपराजिता नागौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता।
—अभिज्ञान० पृ० ४८४।

२. ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशपरिपक्षस्यालंघनीये कृते स्व : —विक्रम द्वितीय अंक।

३. अग्निमन्थो जयः स स्याच्छ्रीपर्णी गणिकारिका।
जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग २३।

वनस्पति का परिचय—

अरणी के वृक्ष हिमालय की तराई के प्रदेशों में, बंगाल, बिहार और पूर्वी-पश्चिमी समुद्र तट के शुष्क प्रदेशों में होते हैं।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में यद्यपि एक ही प्रकार की अरणी का वर्णन है, परन्तु अन्य निघण्टु ग्रन्थों में दो प्रकार की अरणी का वर्णन आया है—क्षुद्र और बृहत। छोटी अरणी के झाड़ (छोटे वृक्ष) होते हैं। पत्ते अण्डाकार, २–५ इंच लम्बे, ५ पत्तियों से युक्त, रोमश होते हैं। इनमें कुछ दुर्गन्ध होती है। छाल धूसर या श्यामवर्ण होती है। श्वेत पुष्प गुच्छों में खिलते हैं। गुठली से युक्त फल करोंदे के बराबर होते हैं।

बडी अरणी का वृक्ष ३०–३५ फीट ऊँचा झाड़दार होता है। तना छोटा ही होता है और कांटेदार टहनियाँ नीचे को झुकी रहती हैं। पत्तियाँ मसलने पर काली हो जाती हैं और दुर्गन्ध आती है।

काव्यात्मक वर्णन—

नाटकों में अरणी का वर्णन अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिये आया है। वेणीसंहार में वर्णन किया गया है कि द्यूतरूपी अरणी से क्रोधरूपी अग्नि उत्पन्न हो रही है। यह युद्ध रूपी यज्ञ के लिये उपयोगी है[१]। कालिदास के अनुसार यज्ञों में अग्नि उत्पन्न करने के लिये अरणी का उपयोग किया जाता था[२]।

उपयोग—

प्राचीन काल में अरणी का उपयोग अग्नि उत्पन्न करने के लिये किया जाता था। दो लकड़ियों को रगड़ने से अग्नि की चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं। अरणी का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह उष्ण और कटु-तिक्त है। दीपन, पाचन और शोफहर है। आयुर्वेद में इसकी गणना पंचमूल और दशमूल में की गई है। अर्श के रोगी को अरणी के क्वाथ में बिठाने से उसकी वेदना शान्त होती है। इसका रस स्थूलता को कम करता है।

४. अर्क

संस्कृत नाम—

श्वेत अर्क—श्वेतार्क, गणरूप, मन्दार, वसुक, श्वेतपुष्प, सदापुष्प, अलर्क, प्रतापस।[३]

१. वेणीसंहार १-२४।
२. उत्पत्तये हविर्भोचतुर्यजमान इवारणिम्। —कुमारसम्भव ६-२८।
३. भाव० गुडूच्यादिवर्ग ६६।

लाल अर्क—रक्तार्क, सूर्यवाची सभी शब्द, अर्कपर्ण, विकीरण, रक्तपुष्प, शुष्कफल, आस्फोट ।[१]

हिन्दी नाम—मदार, आक ।

अंग्रेजी नाम—Mudar.

लैटिन नाम—श्वेत अर्क—Calotrohis gigantia R. Br.

लाल अर्क—Calotrohis hrocera R. Br.

कुल—Asclehiadaceale

वर्ग—गुडूच्यादिवर्ग

नाटकों का उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।

वनस्पति का परिचय—

अर्क (आक) के पौधे प्रायः सारे भारतवर्ष में मिलते हैं। उह उष्ण और सूखे स्थानों पर अकेला या झुण्डों में मिलता है । बंजर स्थानों और नदियों के रेतीले तटों पर ये पौधे प्रायः मिल जाते हैं ।

अर्क झाड़ीनुमा पौधा है तथा ३-९ फीट तक ऊँचा होता है। शाखायें श्वेत-पीताभ होती हैं । कोमल शाखाओं पर रोयें रहते हैं। पत्तियाँ छोटे डन्ठल की २-४ इंच लम्बी, मोटी, आयताकार तथा आगे से नोकीली होती हैं । लाल अर्क की पत्ती अधिक लम्बी होती है । पुष्प गुच्छों में वर्ष भर आते रहते हैं, परन्तु शरद् ऋतु में अधिक आते हैं । पुष्पों के गिरने पर डोडी लगती है, जिसमें रोमों से युक्त बीज रहते हैं । पकने पर डोडी फूट जाती है तथा रेशमी बीज वायुमण्डल में उड़ते रहते हैं । अर्क के पत्तों और कोमल शाखाओं को तोड़ने पर श्वेत दूध निकलता है ।

अर्क का भेद पुष्पों के रंग के कारण है । श्वेत पुष्प वाले को श्वेतार्क और लाल पुष्प वाले को रक्तार्क कहा गया है ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में अर्क का उल्लेख 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में ही हुआ है । सम्भवतः इसको अधिक पवित्र नहीं समझा गया था । कालिदास ने लिखा है कि अर्क जैसी वस्तु पर यदि मालती-पुष्प जैसी कोमल ग्राह्य वस्तु गिर जावे तो भी वह अग्राह्य नहीं है ।[२]

उपयोग—

अर्क-पुष्प को शिव का प्रिय माना गया है, अतः धार्मिक दृष्टि से इसका महत्व है । इसका चिकित्सा में भी प्रयोग होता है । यह उष्ण, कटु-तिक्त और रुक्ष

---

१. भाव० गुडूच्यादिवर्ग ६७ ।

२. अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् । अभि० २-८ ।

है। इसका प्रयोग उदररोगों में होता है तथा इसके लिये पुष्प और मूलत्वक् काम में आते हैं। यह पाचक और श्वासहर भी है। अधिक मात्रा वामक होती है। पत्तों से अर्कलवण बनाते हैं। अर्क का उपयोग गर्भपात के लिये भी करते हैं।

अर्क का व्यावसायिक उपयोग भी है। बीजों की रुई और छाल से धागे बनते हैं। दूध के द्वारा नये चमड़े की गन्ध को दूर करके उसके बाल साफ करते हैं। इससे चमड़ा पीला हो जाता है।

५. अर्जुन

संस्कृत नाम—अर्जुन और उस नाम के पाण्डव के सभी पर्याय, ककुभ, नदीसर्ज, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, वीर, धवल।[१]

हिन्दी नाम—अर्जुन, कोह।

अंग्रेजी नाम—Arjuna Tree

लैटिन नाम—Ternuinalia arjuna WIA.

कुल—Combutaceae

वर्ग—वटादिवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, उत्तररामचरित, मालतीमाधव।

वनस्पति का परिचय—

अर्जुन वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। हिमालय की तराई, मध्यप्रदेश, विन्ध्यवन, महाराष्ट्र और तामिलनाडु के वनों में अधिक होते हैं। इसके लिये भूमि में आर्द्रता आवश्यक है। अतः नदियों, तालाबों आदि के तटों पर अधिक बढ़ते हैं।

अर्जुन के विशाल वृक्ष ६०–८० फीट ऊँचे होते हैं। प्रायः शीत ऋतु में पतझड़ होतो है। वृक्ष की छाल मोटी, बाहर से श्वेताभ और भीतर से हल्की गुलाबी होती है। पत्तियाँ ३–६ इंच लम्बी आगे से नोकीली होती है। श्वेत हल्के रंग के पुष्प अप्रैल से जुलाई तक मञ्जरियों के रूप मे निकलते हैं। फरवरी से मई तक फल आकर पक जाते हैं। ये १–१½ इंच लम्बे कमरख के समान होते हैं। १०० फलों का भार लगभग एक पौण्ड होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

अर्जुन वृक्ष वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में विकसित होते हैं।[२] वर्षा के प्रारम्भ होते ही अर्जुन के श्वेत-पीताभ पुष्पों की सुगन्धि चारों ओर फैल जाती है।[३] भवभूति

---

१. ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्तितः।
इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः। —भाव० वटादिवर्ग २६।

२. मालती० ९-१७। ३. अवि० पृ० १२२।

ने माल्यवान् पर्वत पर इन वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया है।[1] कालिदास वर्णन करते हैं कि वर्षा ऋतु में अर्जुन की मञ्जरियों को युवतियाँ कानों में धारण करती हैं।[2]

उपयोग—

अर्जुन वृक्ष बहुत उपयोगी है। छाया और सौन्दर्य के लिये इसको सड़कों के किनारे तथा वाटिकाओं में लगाया जाता है। कठोर लकड़ी इमारतों, खेती के उपकरणों, गाड़ियों और नावों के बनाने में उपयोगी होती है। इसकी छाल का उपयोग चमड़ा उद्योग में होता है।

अर्जुन का वृक्ष चिकित्सा में भी उपयोगी हैं। हृदय के रोगों में छाल का चूर्ण और क्वाथ दिया जाता है। यह हृदय के लिये बल्य, रक्तस्तम्भक, पित्तशावक और प्रमेहनाशक है।

६. अशोक

संस्कृत नाम—अशोक, हेमपुष्प, वंजुल, ताम्रपल्लव, कङ्केलि, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प, नट।[3]

हिन्दी नाम—अशोक।

अंग्रेजी नाम—Asoka Tree

लैटिन नाम—१. Saraca indica linn. **कुल**—Ceasalhiniacear

कुल—Annonaceal

२. Polyalthia longifolia Benth of Hooh.

वर्ग—पुष्पादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अभिषेकनाटक, प्रतिमानाटक, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्, पद्मप्राभृतक, पादताडितक, कौमुदीमहोत्सव, मृच्छकटिकम्, मालतीमाधव, रत्नावली, नागानन्द, तापसवत्सराज, हनुमन्नाटक, आश्चर्यचूडामणि, रामाभ्युदय, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

---

१. उत्तर० १-३।

२. कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाश्च।

—ऋतु० २-२१।

३. अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलस्ताम्रपल्लवः।
कङ्केलिः पिण्डपुष्पश्च गन्धपुष्पो नटस्तथा॥

—भाव० पुष्पवर्ग ४३-४४।

वनस्पति का परिचय—

अशोक वृक्ष के दो भेद हैं—सराका इन्डिका और पोलीएल्थिया लैटीफोलिया। पहला भेद प्रायः सारे भारत में पाया जाता है। परन्तु मध्य और पूर्वी हिमालय, बंगाल, आसाम और महाराष्ट्र के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में अधिक होता है। दूसरा भेद मूलतः लंका का वृक्ष है। अब यह दक्षिण भारत में भी प्रचुरता से होता है। अशोक की वृद्धि के लिये गरमी तथा आर्द्रता की अधिक आवश्यकता है। इसको अधिक गर्मी और तेज हवाओं से बचाना भी चाहिये सौन्दर्य के निमित्त अशोक को मार्गों के किनारों पर तथा वाटिकाओं में लगाया जाता है। हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में अशोक वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है।[1]

अशोक वृक्ष (सराका इन्डिका) मध्यम आकार के होते हैं। इनकी छाया सघन होती है। छाल चिकनी-भूली-लाल होती है तथा पकाने से पानी लाल हो जाता है। लकड़ी भी हल्की भूरी-लाल होती है। इसके पत्ते ६–९ इंच लम्बे, चिकने और नोकीले होते हैं। नये पत्ते लाल रंग के तथा पतले होते हैं। इस पर सुगन्धित लाल-गुलाबी पुष्प मंजरियों के रूप में होते हैं। इस अशोक को सीता-अशोक भी कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि सीता लंका में इसी अशोक के नीचे रही थीं। इसको असली अशोक भी माना गया है।

दूसरे अशोक (पोलीएल्थिया लैटीफोलिया) के वृक्ष लम्बे और पतले होते हैं। पत्ते लहरियेदार होते हैं, जो सजावट के काम आते हैं। पुष्प हरापन लिये पीले होते हैं।

अशोक वृक्ष वसन्त ऋतु (फरवरी से अप्रैल) में पुष्पित होते हैं तथा फलियाँ जुलाई अगस्त तक पक जाती हैं। फलियों में १ से १½ इंच लम्बे बीज ४ से ८ संख्या में रहते हैं।

काव्य साहित्य में अशोक लतिका का भी उल्लेख है। वाटिकाओं में अशोक वृक्षों की वीथियों और निकुञ्जों की जो रचना हुई, उनको गृहाशोकलतिका कहा गया।[2] सम्भवतः अशोक की शाखाओं की कोमलता के कारण इस प्रकार की भावना हुई हो। अशोक की कोमलता और कमनीयता के कारण कवियों ने मनोरम भावनाओं में भर कर इसमें लता भाव की कल्पना कर ली हो। शाखा का एक पर्याय लता भी है।[3] अतः अधिक सम्भावना यह है कि कोमल शाखाओं को ही अशोकलतिका कहा गया होगा।

काव्यात्मक वर्णन—

भारतीयों को अशोक वृक्ष बहुत प्रिय थे। राजाओं के प्रमदवनों में अशोक

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. तापस० २-१।
३. समे शाखालते। अमरकोष २-४-११।

वृक्ष अवश्य होते थे। केवल अशोक वृक्षों की वाटिकायें भी लगाई जाती थी। रावण की अशोक वाटिका साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इस अशोक वाटिका में अशोक वृक्ष के कोटर में छिप कर ही हनूमान ने रावण और सीता के वार्तालाप को सुना था।[१] भारतीय उद्यानों में अशोक वृक्ष अवश्य ही दृष्टिकोचर होते थे।[२]

अशोक वृक्ष ऋषि-मुनियों को भी अति प्रिय थे। आश्रमों में इनको प्राय: लगाया जाता था। आगन्तुक अशोक की छाया में बैठ कर ऋषियों से मिलने के समय की प्रतीक्षा करते थे। मातलि ने दुष्यन्त से कहा था कि आप अशोक के मूल में बैठ कर मारीच के दर्शनों के लिये अवसर की प्रतीक्षा करें।[३]

कवियों के वर्णनों के अनुसार अशोक वृक्ष वसन्त ऋतु में पुष्पित होते हैं।[४] इस समय ये वृक्ष लाल रंग के नव किसलयों से सज्जित हो जाते हैं।[५] शीघ्र ये पुष्पों से भर जाते हैं।[६] रक्त वर्ण के नव किसलयों और पुष्पों से यह वृक्ष ऐसा प्रतीत होता है कि मानों युद्ध क्षेत्र में कोई रक्त रञ्जित योद्धा हो।[७] इस समय किसलयों और नव मञ्जरियों पर भौंरे मंडराते रहते हैं।[८]

आभूषणों के निमित्त से अशोक को नव युवतियाँ बहुत पसन्द करती थीं। वे इसके पुष्पों को शिरोभूषण के रूप में धारण करती थीं।[९] इसके आभूषण सारे अंगों में पहने जाते थे।[१०] अशोक के पल्लव शीतलता पहुँचाने वाले समझे जाते थे[११], जो आभूषणों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे।[१२] कालिदास ने लाल अशोक के पुष्प-स्तबक को आभूषण बनाने की घटना का वर्णन किया है।[१३]

कवियों ने रक्ताशोक (सीता-अशोक) का प्रचुर वर्णन किया है। यह अधिक अच्छा समझा गया था। वसन्त ऋतु में खिलने पर यह बहुत सुन्दर लगता है।[१४]

---

१. अशोकपादपमारुह्य कोटरान्तरितो भूत्वा दृढं वृत्तान्तं ज्ञास्यामि। —अभिषेक० पृ० ३१।

२. नागा० पृ० ७१।

३. अशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान्। —अभि० पृ० ४७०।

४. रत्ना० १-१४।

५. विद्ध० १-२५, बालरा० ५-४०।

६. पद्म० श्लोक ३६।

७. एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचर्चितः॥ —मृच्छ० ४-३१।

८. हनू० ५-२४।

९. रत्ना० १-१०।

१०. पाद० श्लोक ३६।

११. विद्ध० ४-५।

१२. प्रतिमा० पृ० ११, अभिषेक० ३-१।

१३. विक्रमो० ५-३।

१४. रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति। —विक्रमो० २-७।

कवियों ने सुनहरे अशोक का भी वर्णन किया है। इसको तपनीयाशोक कहा गया था।[१] मधुमास में[२] जब इस वृक्ष पर मञ्जरियाँ आती हैं, तो इसकी शाखायें पिञ्जरित हो जाती हैं।[३]

कवियों ने अशोक वृक्ष की दो मधुर विशेषतायें बताई हैं। पहली तो यह कि यह कामदेव के पाँच बाणों में से एक है।[४] इसके पिंगल-रक्त वर्ण के नव पल्लव मानों कामदेव के चमकते अस्त्र हैं।[५] दूसरी विशेषता यह है कि यह तरुणियों के पादाघात से विकसित होता है।[६] इस निमित्त से समृद्ध जनों के अन्तःपुरों में वसन्त ऋतु में उत्सव आयोजित किये जाते थे तथा सबसे सुन्दर युवती से चरण द्वारा प्रहार कराया जाता था।[७] युवतियों के पादाघातों से अशोक के विकसित होने की कामना को दोहद नाम दिया गया था। पादाघात के पश्चात् अशोक के विकसित होने तक के समय को संक्रान्ति काल कहा गया था। दोहद के पूरा होने के पश्चात् अशोक विकसित होगा, ऐसी आशा की जाती थी।[८] सम्भवतः संक्रान्ति का यह समय ५–६ दिन का होता होगा। परन्तु अनेक बार इस अवधि के पूरा होने से पहले भी अशोक पर पुष्प आ सकते थे।[९] अशोक पर पुष्प आ जाने पर वसन्त के अवतरण की सूचना पूर्ण समझी जाती थी। इस समय अपने इष्ट-मित्रों के घरों पर इन पुष्पों को उपहार के रूप में भेजा जाता था।[१०]

कालिदास ने इस अशोक के दोहद के सम्बन्ध में अति मनोरम कल्पना की है। वसन्त ऋतु का प्रारम्भ होने पर राजा अग्निमित्र की प्रधान रानी धारिणी

---

१. मालविका० पृ० ४६, तपनीयाशोकतरोः। —कौमुदी० पृ० ३।
२. कौमुदी० पृ० १२।
३. कुसुममञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितशाखासहस्र···अशोकवृक्षः।
—कौमुदी० पृ० ५।
४. आश्चर्य० २-२५, कौमुदी० पृ० १२।
५. नैषधीयचरितम् १-१०१।
६. रत्ना० १-१८, तापस० २-२३, हनू० ५-२४, कर्पूर० २-४०, २४३, तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः। विक्रमो० ४-६२, मेघदूत—उत्तरमेघ १८।
७. कर्पूर० पृ० १४२।
८. निवृत्ते दोहदेऽस्मिन् संक्रान्तानीव कुसुमानि। —मालविका० ५-५।
९. अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः सन्नद्धस्तपनीयाशोकः।
—मालविका० पृ० ११७–११८।
१०. वसन्तावसूचकानि रक्ताशोककुसुमान्युपायनं प्रेष्य।
—मालविका० पृ० ५१।

अशोक वृक्ष पर पादाघात के उत्सव का आयोजन किया करती थी। इस वर्ष की अस्वस्थता के कारण वह स्वयं पादप्रहार करने में असमर्थ थी। इस कारण उसने अन्तःपुर की सबसे सुन्दर युवती दासी मालविका को इस कार्य को करने के लिये नियुक्त किया। यदि अशोक पाँच दिन के अन्दर पुष्पित हो जाता है, तो पुरस्कार देने की भी घोषणा की गई। पादाघात करने से पहले मालविका का विविध प्रकार से प्रसाधन किया गया। उसके पैरों में अलक्तक लगाया गया और मधुर स्वर में बजने वाले नूपुर बाँध गये।[1] तदनन्तर अशोक के पल्लव-गुच्छक को कानों में आभूषण के रूप में पहनाया गया।[2] प्रसाधन के पूरा हो जाने पर मालविका ने अति विलासमय गति और भंगिमा से अशोक वृक्ष पर पाद का प्रहार किया।[3]

युवतियों के पादप्रहार से अशोक के वृक्ष के कुसुमित होने की व्याख्या करना कठिन है। कालिदास के विवरणों से विदित होता है कि यह कुसुमोद्गम पादप्रहार के बाद ५–६ दिनों के भीतर होता था। अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वसन्त ऋतु का प्रारम्भ होने पर अशोक के कुसुमित होने के लक्षणों को देख कर उससे ५–६ दिन पहले समारोह करके युवतियों का पादाघात कराया जाता होगा और उसके लिये सबसे सुन्दर यौवनवती रमणी निर्वाचित की जाती थी। तदनन्तर ५–६ दिन में अशोक पर कलियाँ आ जाती थीं। इससे यह प्रसिद्धि हो गई कि अशोक वृक्ष युवतियों के पादाघात से विकसित होते हैं। कवियों ने इस प्रसिद्धि को काव्य का सत्य स्वीकार कर लिया।

कवियों ने अशोक में अति कोमलता की कल्पना की है। युवतियों के हृदय को अशोक के समान कोमल बताया गया है।[4] अशोक वृक्ष को शोक का विनाश करने वाला कल्पित किया गया है। विरह से पीड़ित व्यक्ति अशोक से प्रार्थना करते हैं कि वह उनके शोक को दूर करे। 'रामाभ्युदय' नाटक में कवि ने व्यतिरेक अलंकार द्वारा विरही और अशोक में सादृश्य बताकर उससे शोक को दूर करने की प्रार्थना की गई है।[5]

---

१. सालक्तकं सनूपुरं च करोमि। —**मालविका० पृ० ६१।**

२. अशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छकः। अवतंसयैनम्।

—**मालविका० पृ० ७२।**

३. सलीलमशोकाय पादप्रहारं प्रहिणोति। —**मालविका० पृ० ७३।**

४. **मालती० पृ० ६४।**

५. रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि।
कान्तापादतताहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥—**रामाभ्युदय पृ० २२।**

उपयोग—

अशोक को सौन्दर्य के लिये वाटिकाओं में लगाया जाता है। सघन छाया के कारण यह ग्रीष्म ऋतु में ठंडक पहुँचाता है। इसकी लकड़ी का इमारती प्रयोग हो सकता है। अशोक चिकित्सोपयोगी भी है। छाल का प्रयोग विविध स्त्री-रोगों में किया जाता है। कष्टार्तव, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर और गर्भाशय के विकारों में यह विशेष उपयोगी है। चिकित्सा के लिये सीता-अशोक का प्रयोग होता है।

७. अश्मन्तक

संस्कृत नाम—पाषाणभेदक, अश्मघ्न, गिरिभित्, भिन्नयोजिनी, अश्मभेद।[२]

हिन्दी—पखानभेद।

अंग्रेजी—Asmantaka Grass.

लैटिन—१. Saxifraga ligulata wall. **कुल**—Saxifragaceae.

२. Rotula a quatica lour. **कुल**—Boraginaceae.

वर्ग—हरीतक्यादिवर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

मालतीमाधव।

वनस्पति का परिचय—

अश्मन्तक (पाषाणभेद) नाम से अनेक वनस्पतियाँ कही जाती हैं। अतः यह एक सन्दिग्ध वनस्पति है। 'राजनिघण्टु' में पाषाणभेद के चार भेद कहे गये हैं—पाषाणभेदक, वटपत्री, शिलावल्का और चतुष्पत्री। अश्मन्तक नाम से मुख्तः दो वनस्पतियों को लिया जा सकता है—सैक्सीफ्रागा लिगुलाटा और रोटूला एक्वेटिका।

इन दोनों भेदों में पहला भेद मुख्यतः ऊंचे हिमालय क्षेत्रों में मिलता है। ५००० फीट से ऊंचे पर्वतों में यह काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, कुमायूं, नेपाल आदि में मिलता है। क्षुप जाति की यह वनस्पति बारहों महीने मिलती हैं तथा इसके रक्ताभ एवं १ से $1\frac{1}{2}$ इंच मोटे मूल स्तम्भ पर्वतीय ढलानों पर पत्थरों की दरारों से निकले रहते हैं। इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाये फैली रहती हैं। २–६ इंच लम्बी रोमश हरी पतियां किनारों पर कटी रहती हैं। बैंजनी, गुलाबी और श्वेत रंग के पुष्प लगभग $1\frac{1}{2}$ इंच लम्बे होते हैं। फल छोटे नीलाभ-श्वेत होते हैं। बाजार में इसके मूलस्तम्भ और काण्ड के छोटे-छोटे टुकड़े उपजब्ध होते हैं।

दूसरा भेद प्रायः सभी स्थानों पर मिलता है। नदीं के कछारों में यह विशेष रूप से होता है इसकी छोटी झाड़ियों पर $\frac{1}{2}$ से १ इंच लम्बे रोमश, स्रुवाकार पत्ते होते हैं। छोटे गुलाबी रंग के फूल आते हैं। भवभूति ने अश्मन्तक का उल्लेख दक्षिण

---

२. पाषाणभेदकोऽश्मघ्नो गिरिभिद् भिन्नयोजिनी। अश्मघ्नो……।

—भाव० हरीतक्यादि वर्ग १८४।

वनों में नदियों के तटों पर किया है, अतः उसकी यह अश्मन्तक वनस्पति रोटूला एक्वेटिका हो सकती है।

काव्यात्मक विवरण—

अश्मन्तक वनस्पति का उल्लेख मालतीमाधव नाटक में हुआ है। पद्मावती नगरी के समीप पारा और सिन्धु नामक नदियों के तट पर अश्मन्तक वनस्पति को खाने के लिये पूर्णिका (पवई) नामक चिड़ियां दौड़ रही हैं।[1]

उपयोग—

अश्मन्तक नाम से स्पष्ट है कि यह वनस्पति अश्मरी (पथरी) नामक रोग को नष्ट करती है (अश्मनः अन्तं करोति इति अश्मन्तकः)। अश्मन्तक का उपयोग मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा मूत्राशय के अन्य दोषों में किया जाता है।

८. अश्वत्थ

संस्कृत नाम—बोधिद्रु, पिप्पल, अश्वत्थ, चलपत्र, गजाशन।[2]

हिन्दी—पीपल।

अंग्रेजी—Sacrid Fig.

लैटिन—Ficus religiosa linn. **कुल**—Moraceae.

वर्ग—वटादि वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

उत्तररामचरित, महावीरचरित, हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

पीपल प्रायः सारे भारत में पाया जाता है। हिमालय के वनों से लेकर दक्षिण भारत तक इसके वृक्ष मिलते हैं। उपेक्षित भवनों और अन्य स्थानों पर यह स्वतः उग आता है।

पीपल का विशाल वृक्ष बड़ा होने पर ७०–८० फीट तक ऊँचा हो जाता है और लम्बी शाखायें दूर-दूर तक फैल जाती हैं। पत्ते घने होते हैं। लम्बे डंठलों पर हृदयाकार हरे पत्ते आगे से नोकीले अति सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस पर चैत्र मास में पतझड़ होकर ग्रीष्म में नये पत्ते और फल आ जाते हैं। कच्चे फल हरे तथा पकने पर लाल-बैंगनी हो जाते हैं। स्वाद में मीठे ये फल पक्षियों के प्रिय आहार हैं। पुराने वृक्षों पर लाख आती है। पीपल की पत्तियां हाथियों की प्रिय आहार हैं, अतः इसको गजाशन और कुञ्जराशन भी कहा जाता है। पीपल के पत्तों और फलों को तोड़ने पर श्वेत दूध निकलता है।

---

१. तीराश्मन्तकशिम्बिचुम्बितमुखा धावन्त्यपः पूर्णिकाः। —मालती० ९-७।

२. बोधिद्रुः पिपलोऽश्वत्थश्चलपत्रो गजाशनः। —भाव० वटादिवर्ग ३।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में पीपल का वर्णन प्रायः पवित्र वृक्ष के रूप में किया गया है। इसको काटना अशुभ माना जाता हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार पीपल के दण्ड को ब्रह्मचारी अपने हाथों में रखा करते थे।[1] लकड़ी के मजबूत होने से इसके दण्ड का प्रयोग आयुध के रूप में किया जा सकता है। राजशेखर ने वर्णन किया है कि राम-रावण युद्ध में वानरों ने लंका के वनों से पीपल वृक्षों को उखाड़ कर उसके दण्डों से राक्षसों पर प्रहार किया था।[2]

उपयोग—

पीपल वृक्ष को अति पवित्र माना जाता है तथा इसका काटना पाप है। वर्तमान समय में भारतीय जनता इसका पूजन करती है तथा इससे अभिलषित वस्तु की याचना करती है। भारतीय धार्मिक साहित्य में पीपल को विष्णु देवता का प्रतीक माना गया है। इस रूप में विष्णु-भक्त इसका पूजन करते हैं। 'भगवद्गीता' में कृष्ण कहते हैं कि वे सभी वृक्षों में अश्वत्थ हैं।[3] भारतीय मन्दिरों में अश्वत्थ वृक्ष अवश्य लगाये जाते हैं। भगवान् बुद्ध ने अश्वत्थ वृक्ष के नीचे ही समाधि लगा कर ज्ञान प्राप्त किया था, अतः इसको बोधि वृक्ष कहा गया था।

अश्वत्थ की छाया अति सुखद होती हैं। अतः इसके चारों ओर वेदी बना दी जाती है। छाया के लिये मार्गों के किनारे भी लगाया जाता है।

अश्वत्थ कों चिकित्सा में भी उपयोग हैं। इसकी छाल का क्वाथ शोथहर, वेदनाहर और व्रणविरोपण है। अन्तः प्रयोग करने पर छाल को और फल को रक्त-शोधक, गर्भस्थापक तथा वाजीकरण समझा जाता है। सुश्रुत के अनुसार अश्वत्थ की छाल, मूल, फल और कोंपल को दूध में पका कर मधु तथा शर्करा मिला कर पिलाना चाहिये।

९. असन

संस्कृत नाम—बीजक, पीतसार, पीतशालक, बन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक, असन।[4]

हिन्दी नाम—विजयसार, विजैसार।

अंग्रेजी नाम—Indian Kino Tree.

---

१. उत्तर० ४-२०, महावीर० १-१८, हनू० १-१९।

२. बालरा० पृ० ५२८।

३. अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्। —भगवद्गीता १०-२६।

४. बीजकः पीतसारश्च पीतशालक इत्यपि।
बन्धूकपुष्पः प्रियकः सर्जकश्चासनः स्मृतः। —भाव० वटादिवर्ग २८।

लैटिन नाम— १. Terminalia tomentosa W J A.

कुल—Combretaceae.

२. Ptirocarpusmarsupium Roxb.

कुल—Deguminosae.

वर्ग—वटादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, स्वप्नवासवदत्तम्, हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

असन के वृक्ष प्रायः सभी भारतीय वनों में, विशेष रूप से शुष्क प्रदेशों में पाये जाते हैं । ये दक्षिण भारत, राजस्थान और बिहार में अधिक मिलते हैं ।

सुन्दर विशाल असन वृक्षों की छाल मोटी और पीताभधूसर होती है । लकड़ी अन्दर से गहरी पीली होती है । अण्डाकार, नौकीले, ३–५ इन्च लम्बे पत्ते ५–७ के गुच्छों में लगते हैं । इस पर जनवरी से मई तक पतझड़ रहता है और जून-जुलाई में श्वेत पुष्प मंजरियों में आते हैं । फल फरवरी-मार्च में पकते हैं और पक्षियों को अति प्रिय हैं ।

काव्यात्मक वर्णन—

हनूमन्नाटक में वर्णन है कि दक्षिण वनों में असन वृक्ष प्रचुर होते हैं ।[1] इस पर वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं, जो बहुत सुगन्धित होते हैं ।[2] प्राचीन समय में असन वृक्षों को वाटिकाओं में भी लगाया जाता था । पुष्पों के गिरने पर वाटिका-भूमि रंगबिरंगी हो जाती थी ।[3]

उपयोग—

असन की लकड़ी पीले रंग की अति दृढ़ होती है, अतः इसका उपयोग विविध प्रकार के फर्नीचर बनाने में तथा इमारतों में किया जाता है । यह लकड़ी पानी को बहुत अधिक सहन कर सकती है ।

असन के तने में छेद करने पर विशेष प्रकार का लाल रस निकलता है । सूखने पर यह काला हो जाता है । इसके कड़े लाली लिये काले रंग के क्रिस्टल होते हैं । यह निर्गन्ध तथा कसैला होता है । असन के इस गोंद या नियांस के अनेक उपयोग हैं ।

---

१. हनु० पृ० ६८–७२ ।

२. बकुलसरलसर्जासनार्जुनकदम्बनीपनिचुलप्रभृतीनि मेघकालबल्लभानि परमसुरभीणि । —**अविमारक पृ० १२२ ।**

३. असनकुसुमसिञ्चितं व्याघ्रचर्मावगुण्ठितमिव···शिलापट्टकं गता भवेत् । —**स्वप्न० पृ० ११८ ।**

असन की गोंद और काष्ठसार का प्रयोग चिकित्सा में होता है। यह अतिसार और पेचिश में उपयोगी है। प्रमेह में काष्ठसार अधिक उपयोगी है। असन के पत्तों के लेप शोथ को दूर करता है।

१०. आत्मगुप्त

संस्कृत नाम—कपिकच्छू, आत्मगुप्ता, वृष्या, मर्कटी, अजडा, कण्डुरा, व्यङ्ग्या, दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी, लाङ्गली, शूकशिम्बी।[१]

हिन्दी नाम—कौंच, केवाच।

अंग्रेजी नाम—Crohage, Cowritch.

लैटिन नाम—Mucuna fruriens Beker. **कुल**—Fabaceae.

वर्ग—गुडूच्यादिवर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

पादताडितक।

वनस्पति क परिचय—

आत्मगुप्ता (कौंच) प्रायः सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। हिमालय की तराइयों और मैदानों में अधिक होती है। इसकी खेती भी की जाती है।

कौंच की एकवर्षायु आरोही लतायें होती हैं। ३–८ इंच लम्बी पत्तियां तीन-तीन के समूहों में होती हैं। ये ऊपर से चिकनी और नीचे से रोमश होती हैं। मंजरी के रूप में पुष्प आते हैं। प्रत्येक मंजरी में १०–३० पुष्प होते हैं। फली २–३ इंच लम्बी और ०·७५ इंच चौड़ी चपटी होतीं है। यह प्रायः अगले भाग में आकार में मुड़ी होती हैं। प्रत्येक फली में ४–६ से बीज होते हैं। कौंच की पत्तियों पर घने ०.१ इंच लम्बे दृढ़ रोम होते हैं। शरीर से लग जाने पर ये अत्यधिक खुजली तथा सूजन उत्पन्न करते हैं। अतः इनको कण्डुरा कहा गया है। वनों में बन्दर इस पर कूद कर खुजली से पीड़ित हो जाते हैं, अतः इसको कपिकच्छू कहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

नाटकों में कौंच का अधिक वर्णन नहीं है। इसको हीन कोटि का कष्ट उत्पन्न करने वाला पदार्थ माना गया है। श्यामिलक कहता है कि एक धूर्त वेश्या का धूर्त प्रेमी से मिलन इसी प्रकार का है, जैसा कि कौंच (आत्मगुप्ता) की बैल का खदिर पर आश्रय लेना।[२]

---

१. कपिकच्छूरात्मगुप्ता वृष्या प्रोक्ता च मर्कटी।
अजडा कण्डुरा व्यङ्ग्या दुःस्पर्शा प्रावृषायणी॥
लाङ्गली शूकशम्बी च सैव प्रोक्ता महर्षिभिः।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १३०-१३१।

२. पाद० श्लोक ११६।

उपयोग—

कौंच के बीज बल्य, पौष्टिक, बृहंण, वातशामक और वाजीकर होते हैं। इसके मूल का क्वाथ योनिसंकोच है। कौंच की खेती भी की जाती है तथा इस प्रकार की कौंच की फली पर वन्य लता जैसे लोम नहीं होते। इन फलियों का शाक और अचार भी बनता है।

११. आमलकी

संस्कृत नाम—वयस्या, आमलकी, वृष्या, जातीफलरस, शिव, धात्री, अमृत-फल, तिष्यफला।

हिन्दी नाम—आंवला।

अंग्रेजी नाम—Indian Gooseberry emblic Myrobalan.

लैटिन नाम—Emblica officinalis Gaertn. **कुल**—Euhhorbiaceae.
(Phyllanthus emblica Linn.)

वर्ग———हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

आंवले के वृक्ष भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में पाये जाते हैं। हिमालय की ४५०० फीट की ऊँचाई से लेकर मैदानी प्रदेशों में यह वृक्ष होता है आंवले के वृक्ष वनों में होते हैं। वाटिकाओं में भी इसको लगाया जाता है। यह आंवला अधिक बड़ा तथा कम कसैला होता है। वन्य आंवले का फल छोटा और अधिक कसैला होता है।

आंवले के वृक्ष मध्यम आकार के फैले हुये घने होते हैं। तना सीधा चला जाता है। ऊपर जाकर शाखायें फूटती हैं। नन्हीं-नन्हीं पतियां इमली के समान होती हैं। ये पतली शाखाओं पर दो पंक्तियों के क्रम से रहती हैं। फरवरी से अप्रैल तक पतझड़ रहता है। वसन्त ऋतु (मार्च-मई) में यह वृक्ष नन्हे पीत वर्ण के पुष्पों के घने गुच्छों से ढक जाता है। सर्दियों में फल पकने प्रारम्भ हो जाते हैं। आंवले के फल पर ६ धारियां होती हैं, जो इसको फांकों में विभक्त करती हैं। ऊपर गूदा होता है और अन्दर तीन धारियों वाली गुठली रहती है।

---

१. वयस्यामलकी वृष्या जातीफलरसं शिवम्।
धात्रीफलं श्रीफलं च तथामृतफलं स्मृतम्॥
त्रिष्वामलकं ख्यातं धात्री तिष्यफला स्मृता।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग ३८।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में आमलकी (आंवला) का अधिक वर्णन नहीं हैं। केवल 'हनून्नाटक' में एक स्थान पर लिखा है कि दक्षिण वनों में आमलकी वृक्ष मरे हैं।[1] आमलकी को कवियों ने अति कल्याणकारी माना था और माता के समान आदर दिया था, जिसकी वन्दना करना उचित है।[2]

उपयोग—

आमलकी बहुत उपयोगी है। इसको फलों तथा सौन्दर्य के निमित वाटिकाओं में लगाया जाता है। इसकी लकड़ी लाल रंग की कठोर तथा चीरने योग्य है। अतः विविध उपकरणो और भवनों के निर्माण में उपयोगी है। यह पानी को देर तक सहन करती है। आंवले की छाल, पत्ते और फल चमड़ा उद्योग में उपयोगी हैं।

आमलकी का चिकित्सा में बहुत उपयोग है। यह बल्य, दीपन, रसायन और बुद्धिवर्धक है। आँखों तथा केशों के लिये इसको अति उपयोगी माना गया है। यह शीत वीर्य, कषाय-मधुर रस और त्रिदोषहर हैं। आयुर्वेद की प्रसिद्ध औषधि त्रिफला का यह अनिवार्य घटक है। च्यवनप्राश अवलेह इसी के आश्रय से बनता है। आंवले का मुरब्बा हृद्य, पौष्टिक और शीतल माना गया है। यह विटामिन सी का समृद्ध स्रोत है। प्रति १०० ग्राम आंवले में ६०० से ९०० मिलीग्राम होता है। आंवले के पत्तों को चबाने से मुखव्रण ठीक होते हैं।

१२. आम्र

संस्कृत नाम—आम्र, चूत, रसाल, सहकार, अतिसौरभ, कामाङ्ग, मधुदूत, माकन्द, पिकवल्लभ।[3]

हिन्दी नाम—आम।

अंग्रेजी नाम—Mango.

लैटिन नाम—Mangibra indica Linn. **कुल**—Anacardiceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

चारुदत्त, मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, कौमुदीमहोत्सव, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, मालतीमाधव, रत्नावली, सुभद्राधनञ्जय, हनूमन्नाटक, पादताडितक, पद्मप्राभृतक, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।

२. कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान्।
—नैषध० १-९८।

३. आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः।
कामाङ्गो मधुदूतश्च माकन्दः पिकवल्लभः।—भाव० आम्रादिफलवर्ग १।

वनस्पति का परिचय—

आम के वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। हिमालय की ४००० फीट की ऊँचाई से लेकर यह दक्षिणी समुद्र तक पाया जाता है। वनों में देसी आम के वृक्ष बहुत हैं। परन्तु अब यह वाटिकाओं का प्रिय वृक्ष है। भारतवर्ष में सैंकड़ों प्रकार के आम्र वृक्ष मिलते हैं तथा इन पर निरन्तर शोध हो रहा है।

आम सदा हरित वृक्ष है। इस पर एकान्तर क्रम से तथा डंठल पर गुच्छों के रूप में पत्ते रहते हैं। पत्ते गहरे हरे रंग के ६-१२ इंच लम्बे १-२ इंच चौड़े किनारों पर लहरदार तथा नोकीले होते हैं। नये पत्ते कोमल तथा गुलाबी होते हैं। इनको मसल कर सूंघने से विशेष गन्ध आती है। आम माघ मास में पुष्पित होकर में फाल्गुन मंजरियों से भर जाता है। इसकी विशिष्ट सुगन्धित होती है तथां इससे विशेष चिपचिपा द्रव स्त्रवित होता है। पत्र के प्रारम्भ में बौर झड़ कर छोटे छोटे फल आने प्रारम्भ हो जाते हैं। ग्रीष्म के अन्त तक तथा वर्षा के प्रारम्भ में ये फल पकने लगते हैं। फलों में छिलके के नीचे गूदा तथा उसके अन्दर गुठली होती है। पकने पर फल पीले-सुनहरी रंग का होता है और गुठली कठोर हो जाती है। गुठली के अन्दर मींगी रहती है।

आम के फल का आकार और स्वाद उसके प्रकार पर निर्भर करता है। भारत में सैंकड़ों प्रकार के आम होते है तथा इनको और समुन्नत करने के लिये अनुसन्धान हो रहे हैं। आम के मुख्य रूप से दो भेद हैं—देसी और कलमी। देसी को गुठली द्वारा बोया जाता है तथा कलमी की कलम लगाई जाती है। वर्तमान समय में कलमी आम को ही अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है।

काव्यात्मक वर्णन—

अपने रस भरे मधुर सुगन्धित फलों के कारण आम सदा से भारत का राष्ट्रीय प्रिय फल रहा है। वाटिकाओं में इसको अनिवार्य रूप से लगाया जाता था। इनको सुव्यवस्थित रूप से लगाते थे।[१] तथा वाटिकाओं में आम्र-वीथियाँ होती थी।[२] अन्य पलाश आदि वृक्षों की अपेक्षा आम को लगाना अधिक उपादेय माना गया था।[३] रस से भरे होने के कारण इसको रसाल, चूसे जाने के कारण चूत और प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलन कराने के कारण सहकार सह मेलनं कारयति कहा गया।

आम्र वृक्ष वाटिकाओं में ही नहीं, वनों में भी प्रचुर संख्या में होते थे। यहाँ ये वृक्ष स्वयं उग आते थे। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में प्रचुर आम्र वृक्ष होने का

---

१. आवर फोरेस्ट्स।
२. विद्ध० १-५, सुभद्रा० २-६।
३. मृच्छ० पृ० ३१२।

उल्लेख है ।[१] कालिदास ने आम्रकूट पर्वत का उल्लेख किया है । इसके शिखर आम्र वृक्षों से ढके रहते थे ।[२]

आम की छाया लोगों को अति प्रिय लगती थी और वे इसके नीचे बैठ कर गपशप करते थे ।[३] आम का तेल भी प्रयोग में आता था । यह शीतलता प्रदान करने वाला था । 'कर्पूरमञ्जरी' में ग्रीष्म ऋतु में सहकारतेल प्रयोग करने का उल्लेख है ।[४] सबसे अधिक प्रयोग आम के फल का था । यह फल रस से भरा होता है तथा इसको दबा कर रस निकाला जाता है ।[५] आम का फल मधुर रस वाला है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं हैं कि इसकी गुठली ही खा ली जाये ।[६] आम के रस को दूध आदि में भी मिला कर पिया जा सकता था ।

पादताडितक में में भैंस के दूध में आम का रस मिला कर पीने का उल्लेख है ।[७] एक स्थान पर मदिरा में भी आम के रस को मिला कर पिये जाने का वर्णन है ।[८]

वसन्त ऋतु का आम के साथ विशेष सम्बन्ध कहा गया है । इस ऋतु में आमों पर भ्रमर और कोयल विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । वसन्त में आमों पर मंजरियाँ विससित होती हैं ।[९] इससे यह ऋतु अधिक मंगलकारी हो जाती है ।[१०] इन मंजरियों पर पराग आता है, जो कपिश वर्ण का होता है ।[११] मंजरियों को तोड़ने पर सुगन्धि निकलती है ।[१२] इससे पवन सुगन्धित हो जाता है ।[१३] जब वायु से हिलती मंजरियों पर भौंरे गुंजार करते हैं तो मानों यह आम्र वृक्ष क्रोध से हुंकार करता हुआ वियोगियों क झिड़क रहा होता है ।[१४]

---

१. हनू० पृ० ६८-७० ।
२. मेघदूत-पूर्वमेघ १८ । ३. कौमुदी० पृ० ३१२ ।
४. कर्पूर० ४-५ । ५. विद्ध० पृ० ६ ।
६. अतिमधुरतया आम्रस्य अयोग्यतया अस्थि न भक्ष्यते ।
—चारु० पृ० ९-१० ।
७. पाद० श्लोक १३१ । ८. पाद० श्लोक १३४ ।
९. विद्ध० १-२४, पद्म० श्लोक १, मृच्छ० पृ० २०२ ।
१०. अभिज्ञान० ६-३ ।
११. ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते तवामञ्जरी । —विक्रमो० २-७ ।
१२. चूतप्रसवोऽत्र बन्धनमञ्जुसुरभिः । —अभिज्ञान० पृ० ३९३ ।
१३. चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतः । —मालविका० ३-४ ।
१४. रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुंकृतिः ।
समीरलोलेर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव सर्जनामयम् ।
—नैषध० १-८९ ।

भ्रमरों का आम के प्रति बहुत आकर्षण रहा है। मंजरियों के विकसित होते ही ये इन पर मंडराने लगते हैं।[१] गुंजार करते है।[२] और रस का पान करते है।[३] कालिदास वर्णन करते हैं कि वसन्त ऋतु में अनन्त पुष्पों के होने पर भी भ्रमरों को आमों की मंजरियाँ ही अधिक पसन्द हैं।[४]

आम का कोयल के साथ विशेष सम्बन्ध है। इस कारण आम को पिकवल्लभ कहा गया है। आम की मंजरियाँ विससित होते ही कोयल की कुहक से दिशायें गुंजित होने लगती हैं।[५] वे आम की मंजरियों को देख कर ही अधिक उन्मत्त होकर गाने लगती हैं।[६] आम्र मंजरियों को खाकर उनका स्वर और अधिक मधुर हो जाता है।[७]

कवियों ने आम की गणना कामदेव के पाँच बाणों में की है।[८] ये पाँच बाण है—अरविन्द, अशोक, चूत, नवमल्लिका और नीलोत्पल। वसन्त ऋतु के आने पर कामदेव आम की मंजरी रूप बाणों से वियोगियों पर प्रहार करता है।[९] इसी प्रकार वसन्त का आरम्भ होने पर युवतियाँ आम की मंजरियों द्वारा कामदेव का पूजन किया करती थीं।[१०]

आम के प्रति युवतियों का बहुत अनुराग था। आम से लिपटी लता को देख कर यह कल्पना की जा सकती थी कि जिस प्रकार इस लता को अपने योग्य आश्रय मिल गया है, उनको भी अपने योग्य पति मिल जावे। आम के साथ लिपटी लताओं

---

१. उद्धूतपुष्पं सहकारं मधुकरा उपासते। चारु० पृ० ५५; सहकारपादपं मधुकर्यः सेवन्ते। —मृच्छ० पृ० ७०।

२. मालती० पृ० १३०, रत्नावली पृ० २६।

३. परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्। अभिज्ञान० ५-१।

४. अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।
—कुमारसम्भव १-२७।

५. मालती० पृ० १३० रत्ना० पृ० २६।

६. अभिज्ञान० पृ० ३९२। ७. सुभद्रा० २-९।

८. पञ्चाभ्यधिकः शरो भव। अभिज्ञान० ६-३, प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायकः। —ऋतुसंहार ६-१।

९. मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः।
—अभिज्ञान० ६-८।

१०. चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि—
त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव।
—अभिज्ञान० ६-३

में प्रणयी-प्रणयिनी भाव की अनेक कवियों ने कल्पनायें की हैं। आम के साथ माधवी लता को ऊपर बढ़ाने का उल्लेख विज्जिका ने किया है।[१] कालिदास ने आम्र वृक्ष के साथ आलिंगित नवमालिका लता का नाम वनज्योत्स्ना रखा और उसको आम की स्वयंवर वधू बताया।[२]

युवतियों को आम्र मंजरियों के कारण भी वसन्त ऋतु अधिक प्रिय थी। वे इन मंजरियों को आभूषणों के रूप में धारण करती थीं।[३] आम्र वृक्ष की शाखाओं में वे अपनी प्रिय वस्तुओं को लटका देती थीं। अनसूया ने आम्र वृक्ष की शाखा पर नारियल के सम्पुट में बकुल पुष्पों की माला इसलिये लटकाई थी कि शकुन्तला की विदा के समय काम आवे।[४]

कवियों ने आम को प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलन कराने वाला कहा था, अतः इसको सहकार नाम दिया गया था। वे सहकारलता का भी उल्लेख करते हैं।[५] आम्र की लताओं का वर्णन विचित्र सा प्रतीत होता है, क्योंकि आम के वृक्ष ही देखे जाते हैं। सम्भवतः स्वल्पकाय कोमल आम्र पादपों को सहकारलता कहा गया होगा। शाखा का एक पर्याय लता है, अतः आम की कोमल शाखाओं को सहकार-लता कहा गया होगा। शाखा का एक पर्याय लता है, अतः आम की कोमल शाखाओं को सहकारलता कहा जा सकता है।

आम को मंगलसूचक भी माना जाता था। घर के द्वार के दोनों पार्श्वों में मंगल कलश रख कर उनके मुख पर आम के नव हरित पल्लव रखे जाते थे।[६] द्वारों पर आम के पत्तों की वन्दनवारें लगाई जाती थीं। यह प्रथा वर्तमान काल में भी प्रचलित है। आम की गणना पंच पल्लवों की गई है, जो अति पवित्र हैं। भारतीय धार्मिक साहित्य में आम को ब्रह्मा देवता का प्रतीक बताया गया है। ब्रह्मा के भक्त आम के रूप में अपने देवता का पूजन करते हैं।

उपयोग—

भारतवर्ष में आम का बहुत महत्त्व है। यह फल छाया और लकड़ी की दृष्टि

---

१. कौमुदी० २-२।

२. स्वयंवरवधू सहकारस्य कृतनामधेया वनज्योत्स्ना।
—अभिज्ञान० पृ० १३३।

३. पद्म० श्लोक ३६, चूतप्रसवोऽवतंसयितव्यः। —मालविका० पृ० ७०।

४. चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके… …निक्षिप्ता मया केसरमालिका
—अभिज्ञान० पृ० १६३।

५. सुभद्रा० पृ० १०१।

६. निक्षिप्तसमुल्लसद्धरितचूतपल्लवललामस्फटिकमङ्गलकलशाभिरामोभय-पार्श्वस्य। —मृच्छ० पृ० १७०।

से बहुत उपयोगी है। आम का फल स्वादिस्ट तथा पौष्टिक है। इसमें विटामिन ए, बी, सी और डी प्रचुर होता है। इसकी छाया सुखद और शीतल होती है। आम की लकड़ी का उपयोग फर्नीचर तथा भवनों के निर्माण में किया जाता है। यज्ञ समिधा के लिये आम की लकड़ी विशेष रूप से व्यवहृत होती है।

आम का चिकित्सा में भी उपयोग है। गर्मियों में सन्ताप होने पर आम के पन्ने का प्रयोग करते हैं। इसकी छाल उत्तम संग्राहक है। रक्तार्श और अत्यार्तव में आम की गुठली की गिरि १०-१५ रत्ती देते हैं। आम को पितशामक, रक्तशोधक स्तम्भक और मूत्रसंग्राहक माना जाता है।

१३. आम्रातक

संस्कृत नाम—आम्रातक, पीतन, मर्कटाम्र, कपीतन, आम्रात।[1]

हिन्दी नाम—आमड़ा, अम्बाड़ा।

अंग्रेजी नाम—Indian Hog plum

लैटिन नाम—Spondias mangifra Willd **कुल**—Anacardiaceee

वर्ग—आम्रादिफलवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

आम्रातक वृक्ष हिमालय की घाटियों और तराइयों में प्रचुर होते हैं और ये ३००० फीट तक की ऊँचाइयों में मिलते हैं। दक्षिण भारत के पठार तथा बंगाल में भी ये मिलते हैं।

आम्रातक वृक्ष मध्यम आकार के होते हैं। परन्तु पुराने वृक्ष कुछ अधिक भी बड़े हो जाते हैं। वृक्ष का तना और शाखायें चिकनी होती हैं तथा छाल खाकी रंग की होती है। अन्दर से लकड़ी पीले रंग की होती है। पत्तियाँ १२-१८ इंच लम्बी एकान्तर क्रम से आती हैं। इस पर पतझड़ होता है। अक्टूबर के पश्चात् पत्ते झड़ने लगते हैं और माघ-फाल्गुन में नये आते हैं। आम्रातक पर आम के समान ही मंजरी आती है और तदनन्तर छोटे-छोटे फल लगते हैं। कच्चे फलों का अचार बन सकता है। अक्टूबर में फल पकते है और स्वाद में खट्टे-मीठे आम की ही आकृति के होते हैं। अतः इनको आम्रातक (आम्रम् अतति गच्छति इति आम्रातकः) कहा गया।

आम्रातक वृक्ष के सभी अंगों से विशिष्ट सुगन्धि आती है। पुराने वृक्षों से

---

१. आम्रातकः पीतनश्च मर्कटाम्रः कपीतनः। आम्रातम्……।

—भाव० आम्रादिफलवर्ग १६।

राल के समान गोंद प्रचुर टपकता है[1]। इस वृक्ष को शाखा लगा कर रोपित किया जात्ता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में आम्रातक का विशेष वर्णन नहीं है। केवल 'हनूमन्नाटक' में एक स्थान पर वर्णन है कि दक्षिण वनों में आम्रातक वृक्ष हैं।[1]

उपयोग—

आम्रातक की काष्ठ का इंधन के लिये प्रयोग होता है। इसके तखते भी चीरे जा सकते हैं। कच्चे फल चिकित्सा में उपयोगी हैं। यह संग्राही है तथा रक्तपित्त को शान्त करता है। पित प्रकोप में फलों का रस, अतिसा में छाल का चूर्ण और कर्ण-शूल में पत्तों का रस उपयोगी है।

१४. आरग्वध अमलतास

संस्कृत नाम—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, आरचेत, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, कर्णिकार, दीर्घफल, स्वर्णाङ्ग, स्वर्णभूषण।[2]

हिन्दी नाम—अमलतास।

अंग्रेजी नाम—Pudding pipe Tru, Indian Laburnum, purging Cassia

लैटिन नाम—Cassia bistulaLinn. **कुल**—CeasalPiniaceae

वर्ग—हरीतवयादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

अमलतास के वृक्ष प्राय: सारे भारत में पाये जाते हैं। हिमालय ही तराई तथा विन्ध्य वनों में ये प्रचुर हैं। हिमालय पर ये ४००० फीट तक पाये जाते हैं।

अमलतास वृक्ष मध्यम आकार के २०-३० फीट ऊँचे होते हैं। पत्ते ४–८ इंच लम्बे अण्डाकार होते हैं। आमलतास पर मार्च-अप्रैल में पतझड़ होता है और अप्रैल-मई में नये पत्तों की कोंपलों के साथ पुष्प आ जाते हैं। पीली मंजरियों से सारा वृक्ष भर जाता है। ग्रीष्म के आरम्भ में फलियां आ जाती हैं। ये १–१½ इंच मोटा १२–२४ इंच लम्बी होती हैं। पकने पर काली कठोर हो जाती हैं। अन्दर मीठे स्वाद की माली मज्जा तथा काले चपटे बीज रहते हैं।

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. माव० हरीतक्यादिवर्ग १४८-१४९।

काव्यात्मक वर्णन—

अमलतास का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं है। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में अमलतास (कृतमाल) वृक्षों की उपस्थिति कही गई है।[1] 'मालतीमाधव' में भी दक्षिण वनों में इसकी उपस्थिति कही गई है।

उपयोग—

अमलतास अति सुन्दर पीले रंग के पुष्पों वाला वृक्ष है। सौन्दर्य के निमित्त इसको मार्गों के किनारे तथा वाटिकाओं में लगाया जाता है। इसकी लकड़ी कठोर, दृढ़ और स्थायी होती है। यह खम्बों तथा कृषि के उपकरणों के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। यह अच्छा ईंधन भी है। फलियों का गूदा शीतल, मधुर-तिक्त और मृदुविरेचक होता है। पुष्पों का गुलकन्द भी मृदुविरेचक है।

१५. इक्षु (गन्ना)

संस्कृत नाम—इक्षु, दीर्घच्छद, भूरिरस, गुडमूल, असिपत्र, मधुतृण।[2]

इक्षु के भेद—पोण्ड्रक, भीरुक, वशंक, शतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु काण्डेक्षु, सूचीपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर, कोशकृत्, मनोगुप्ता।

हिन्दी नाम—गन्ना

अंग्रेजी नाम—Sugar Cane

लैटिन नाम—Saccharum obbicinarium Linn.

कुल—Gramineae

वर्ग—इजु वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, वातरामायण।

वनस्पति का परिचय—

गन्ने की खेती की जाती है और यह भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में होता है। इसके लिये गर्मी और पानी की आवश्यकता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में इसकी १३ जातियों का उल्लेख किया गया है।

गन्ने का काण्ड ६-१२ फीट ऊँचा अनेक गांठों से युक्त होता है। ३-४ फीट लम्बे, २-३ इंच चौड़े चपटे पतले पत्ते काण्ड के ऊपर लिपटे रहते हैं। गर्मी के प्रारम्भ में बोया जाकर गन्ना शीत के प्रारम्भ में पक जाता है। वसन्त तक इसको प्रायः

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।

२. इक्षुदीर्घच्छदः प्रोक्तस्तथा भूरिरसोऽपि च।
गुडमूलोऽसिपत्रश्च तथा मधुतृणः स्मृतः। —भाव० इक्षुवर्ग १।

काट लिया जाता है। इससे अधिक समय तक लगा रहने पर इस पर पुष्प आ जाते हैं। गन्ने के काण्ड को निचोड़ने पर प्रभूत मात्रा में मीठा रस निकलता है।

काव्यत्मक वर्णन—

साहित्य में इक्षु का कम ही वर्णन हुआ है। राजशेखर का कहना है कि यह हेमन्त में परिपक्व होता है।[1] चूसने के लिये इसके टुकड़े किये जाते हैं। मातलि द्वारा पकड़े जाने पर विदूषक कहता है कि कोई गन्ने के समान टुकड़े किये दे रहा है।[2] कालिदास ने वर्णन किया है कि शरद् ऋतु में कृषक महिलायें गन्ने की छाया में बैठ कर खेतों की रखवाली करती हुई गीत गाया करती हैं।[3]

भोजन को मधुर बनाने के लिये इक्षु से बने गुड के प्रयोग का वर्णन बहुधा नाटकों में वर्णित है। चावल में गुड डाल कर बनाया गया मीठा भात (गुडौदन) प्रसिद्ध स्वादिष्ट भोजन था।[4] भास का कथन है कि गुड द्वारा भोजन द्रव्यों को मधुर किया जाता है।[5]

उपयोग—

इक्षु का उपयोग मधुर द्रव्य के रूप में होता है। इससे सिरका और मदिरा भी बनते हैं। काण्ड के ऊपर का भाग पशुओं के चारे के लिये उपयोगी है। गन्ने की खोई का उपयोग कागज और गत्ता बनाने के लिये किया जा सकता है। यह अच्छा ईंधन भी है।

गन्ने का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह वातपित और रक्तपित का भी शमन करता है। आसवों के निर्माण में गुड आवश्यक घटक है। पुराना गुड अनेक रोगों में उपयोगी है। इक्षु की गणना पंचतृणमूल में की गई है और यह मूत्रल है।

१६. इङ्गुदी

संस्कृत नाम—इङ्गुद, अङ्गारवृक्ष, तिक्तक, तापसद्रुम।[6]

हिन्दी नाम—हिंगोट, इंगुआ।

अंग्रेजी नाम—Sage plant

लैटिन नाम—Balanites roxlrurghii planch **कुल**—Simarubaceae

---

१. बालरा० ५-३४।

२. इक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति। —अभिज्ञान पृ० ४४२।

३. इक्षुच्छायानिषादिन्यः शालिगोप्यो जगुर्यशः। —रघुवंश ४-२०।

४. मृच्छ० पृ०, ८, १०-२६, चारु० पृ० ४, ७।

५. गुडमधुरससंगतः। अवि० पृ० ४६।

६. इङ्गुदोऽङ्गारवृक्षश्च तिक्तकस्तापसद्रुमः। —भाव० वटादिवर्ग ४१।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित।

वनस्पति का परिचय—

इङ्गुदी वृक्ष सूखे प्रदेशों में अधिक होता है। दक्षिणी पंजाब, राजस्थान, गुजरात और दक्षिण भारत में इसके वन हैं। हिमालय की तराइयों और विन्ध्य वन में भी यह उपलब्ध है।

इंगुदी के वृक्ष छोटे आकार के १०-ˉ० फीट ऊँचे होते हैं। ये गुल्मों के रूप में पाये जाते हैं। शाखाओं तथा पत्तों के पार्श्वों में काटे होते हैं। पत्तियाँ दो दो के जोड़ों में ¾ से १½ लम्बी होती हैं। वसन्त ऋतु में इस पर पीले रंग के पुष्प ४-१० के गुच्छों में आते हैं। तदनन्तर १-२ इंच लम्बे अण्डाकार फल आते हैं। फल के अन्दर की मज्जा मधुर, तिक्त तथा अरुचिकर होती है। इसके अन्दर की गुठली में पाँच धारियाँ तथा मध्य में गढ़ा होता है। गुठली के अन्दर बीज होता है, जिसमें प्रचुर तेल रहता है। तेल पीले सुनहरे वर्ण का स्वाद में फीका होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत साहित्य में इंगुदी का वर्णन तपोवनों में किया गया है। तपस्वियों के साथ सम्बन्ध होने से इसको तापसद्रुम कहा गया है। इससे इसको धार्मिक महत्त्व प्राप्त हुआ। 'रामायण' की कथा के अनुसार राम और गुह का मिलन शृंगवेरपुर में ईगुदी वृक्ष के नीचे हुआ था।[1]

तपस्वी जन ईंगुदी के तेल का प्रचुर प्रयोग करते थे। इंगुदी फलों को पत्थरों से तोड़ कर गिरी निकाल कर यह तेल प्राप्त होता है। इससे पत्थर चिकने हो जाते हैं।[2] तपस्वी जन इस तेल को सिर पर भी मला करते थे।[3] ईंगुदी के तेल से दीपकों के जलाये जाने का भी उल्लेख हुआ है।[4] यह तेल व्रणविरोपण भी माना गया था।[5]

उपयोग—

इंगुदी की लकड़ी जलाने के लिये उपयोगी है, अतः इसको अङ्गारवृक्ष कहा गया था। इसका तेल अनेक कार्यों में प्रयुक्त हो सकता है। दीपक जलाने, सिर में

---

१. उत्तररामचरित १-२१।
२. प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
—अभिज्ञान० १-१४।
३. तपस्विनः इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य। —अभिज्ञान० पृ० २०५।
४. रघुवंश १४-८१।
५. व्रणविरोपणमिङ्गुदीनाम् तैलम्। —अभिज्ञान० ४-१४।

लगाने और घावों पर लगाने का उल्लेख किया जा चुका है। यह केशवर्धक और स्वारोगनाशक भी है। इंगुदी की मज्जा शिरोविरेचक, कफनिस्सारक, विषघ्न और रेचक है।

१७. उदुम्बर

संस्कृत नाम— उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग' हेमदुग्धक।[१]

हिन्दी नाम—गूलर

अंग्रेजी नाम—Clustr Fig, Country Fig

लैटिन नाम—Ficus glimerata Raxb. **कुल**—Moraceae

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, महावीरचरित, बालरामायण।

गूलर के वृक्ष प्राय: सारे भारतवर्ष में होते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में यह ६००० फीट तक की ऊँचाई तक पाया जाता है। वनों में नदियों तथा जलाशयों के तट पर अधिक होता है।

गूलर वृक्ष मध्यम आकार के ३०-६० फीट ऊँचे होते हैं। सदाहरित इन वृक्षों का तना सीधा ऊँचा चला जाता है। काफी ऊँचाई पर शाखायें प्रशाखायें फूटती हैं। तने की छाल खाकी-भूरे रंग की होती है। २½–७ इंच लम्बे १½–२½ चौड़ें पत्ते आगे से नोकदार होते हैं। गूलर पर पुष्प दिखाई नहीं देते, सीधे फल ही दृष्टिगोचर होते हैं। सारे वर्ष फल आते रहते हैं। अत: गूलर को सदाफल भी कहा जाता है। कच्चे फल हरे तथा पकने पर नारंगी-लाल हो जाते हैं। इनके ऊपर बारीक रोयां होता है तथा अन्दर दाने और केसर रहते हैं। इसमें बहुत शीघ्र कीड़े हो जाते हैं। गूलर का बीज बनने के लिये इन कीड़ों का होना अनिवार्य है। गूलर के पत्तों और कोमल शाखाओं को तोड़ने पर सुनहरे रंग का दूध निकलता है, अत: इसको हेमदुग्धक कहा गया है।

काव्यात्मक वर्णन—

'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में उदुम्बर वृक्षों की उपस्थिति वर्णित की गई है।[२] इन पर बन्दर खूब उछलते-कूदते थे। सामान्यत: उदुम्बर के फल को वसन्त में पकने वाला कहा गया है, परन्तु कालिदास इसको वर्षा ऋतु में पकने वाला कहते हैं। वर्षा का शीतल पवन इसको पका देता है।[३] उदुम्बर के अन्दर अंजीर के समान

---

१. उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धक:। —भाव० वटादिवर्ग ८।

२. हनुमन्नाटक पृ० ६८-७०।

३. शीतो वायु: परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्।

—मेघदूत—पूर्वमेघ—४६।

रेशे और दाने होते हैं और इनको खाया जा सकता है।[1] उदुम्बर को अति पवित्र माना गया है। कल्पना की गई थी कि इसमें यम देवता का निवास है। अतः यम को औदुम्बरिक भी कहा गया है।[2]

उपयोग—

गूलर के फल वन्य जन्तुओं के लिये स्वादिष्ट आहार हैं। अतः इसको जन्तुफल कहा गया था। पत्तियाँ पशुओं के चारे के लिये और काष्ठ ईंधन के लिये उपयोगी हैं।

गूलर के छाल, फल, मूल, पत्र और दूध सभी चिकित्सा में उपयोगी हैं। यह वनस्पति शीत, मधुर-कषाय है। कफ-पित को शान्त करती है। छाल के क्वाथ से व्रण धोये जा सकते हैं। दूध स्तम्भक और पौष्टिक होता है। कच्चा फल सब्जी के रूप में खाया जा सकता है। यह संग्राही तथा स्तम्भक है। गूलर का उपयोग मधुमेह तथा बहुमूत्र के लिये हो सकता है। गूलर की जड़ में गड्ढा खोद कर इसमें पात्र रख कर जड़ का सिरा पात्र में डालते हैं। जड़ से पात्र में पानी टपक कर भरता है। यह जल मधुमेह के लिये उपयोगी है।

१८. उलप

संस्कृत नाम—उलप

हिन्दी नाम—उलू

अंग्रेजी नाम—Swat Grass

लैटिन नाम—Inhurata Cplindrica Beanw.

कुल—Granincae.

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

उलप विशेष प्रकार की सुगन्धित घास है। यह उष्ण जलीय प्रदेशों में अधिक होती है। इस घार के विषय में निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। 'अमरकोष' में इस शम्द का पाठ लता के पर्यायों में किया गया है। अनेक शाखाओं से युक्त लता को उलप कहते है।[3] संस्कृत कवियों ने इसका उल्लेख घासीय लात के रूप में

१. महावीर० ५-३२।

२. मदनपारिजात पृ० २९६।

३. अमरकोष २-४-९।

किया है। सम्भवतः यह दर्भ का हीएक भेद इम्पैराटा सिलिन्ड्रिका है। भूमि में जड़ से शाखायें निकल कर फैल जाती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटककारों ने उलप का वर्णन घीसीय लता के रूप में किया है। यह जलीय प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली एक सुगन्धित घास है।[1] यह घासीय लता भूमि पर फैलती चली जाती है। उटजों के बनाने में इसका उपयोग किया जा सकता है।[2] भवभूति ने लवणा नदी के तट पर गायों द्वारा उलप घास को चरने का उल्लेख किया है।[3]

उपयोग—

सामान्यतः प्राचीन वनस्पति साहित्य में उलप नाम का उल्लेख नहीं है। तथापि दर्भ जैसा होने के कारण इसका उपयोग कुटीर छाने, आसन बनाने आदि में किया जाता रहा होगा। गौ आदि पशुओं का भी यह आहार था।

१९. उशीर

संस्कृत नाम—वीरणमूल, उशीर, नलद, अमृणाल, सैव्य, समगन्धिक।[4]

हिन्दी नाम—खरा

अंग्रेजी नाम—Cuscus Grass

लैटिन नाम—Androgen muriatus Ritz.

Vetiveria zifanioides linn. Nash

कुल—Gramineae

वर्ग—कर्पूरादिवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

यह प्रायः सारे भारत में मिलता है। तालाबों और बहती नदियों के किनारे गीली भूमि इसके लिये अच्छी है।

उशीर सुगन्धित वनस्पति है। मूल से सीधा काण्ड २-५ फीट ऊँचाई तक गुच्छों के रूप में उगता है। पत्ते लम्बे सरकण्डे के समान होते हैं। बरसात में पीले-

---

१. बालरा० ६-३५। २. बालरा० ६-३६।

३. गोगर्भिणाप्रियनवोलपम्।—मालती० ९-२।

४. वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत्।
अमृणालं च सेव्यं तत् समगन्धिकमित्यपि।—भाव० कर्पूरादिवर्ग ८८।

लाल पुष्प आते हैं। उशीर की सूत्राकार लम्बी जड़े प्रचुर संख्या में फैल जाती है। इन्हीं का प्रयोग इस के रूप में किया जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कवियों को उशीर बहुत प्रिय था। यह विशेष सुगन्धित तृण है। हवन-सामग्री में इसका प्रयोग किया जाता था तथा इसकी आहुति दी जाती थी।[१] उशीर का प्रभाव शीतल माना गया था, अतः काम-संताप को दूर करने के लिये इसके अनुलेपन का वर्णन है। दाह को दूर करने के कारण इसको अवदाह (अब हीयते दाहः अनेन) भी कहा गया था। शकुन्तला के सन्ताप को दूर करने के लिये उसकी सखियों ने उशीर का लेप किया था।[२] महिलायें प्रसाधन के लिये भी उशीर का प्रयोग करती थीं तथा स्तनों पर इसको घिस कर लगाती थीं।[३]

उपयोग—

शीतलता के लिये उशीर के पदों तथा पखों का प्रयोग करने की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन है। गरमियों में इसको काम में लाते है। इसका चिकित्सा में भी प्रयोग है। यह शीतल और तिक्त-मधुर है। पित का शमन करता है। मूत्रल है। इसके लिये मूल के चूर्ण, अर्क तथा फाण्ट का प्रयोग करते है। सुगन्धित शीतल होने के कारण उशीर को प्रसाधन के रूप है घिस कर लगाया जाता रहा है। यह हवन सामग्री में भी पड़ता है।

२०. एला (स्थूल)

संस्कृत नाम—एला-स्कूला, पृथ्वीका, त्रिपुटा, भद्रैला, वृहदेला, चन्द्रवाला, निष्कुटि, स्थूलिता।[४]

हिन्दी नाम—बड़ी इलायची ;

अंग्रेजी नाम—Greater Cardamum.

लैटिन नाम—Amomum Subulatum Roxb.

कुल—Zingiberaceae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

---

१. हनू० १३-२४।

२. उशीरानुलेपनम्। —अभिज्ञान ० पृ० २४४।

३. स्तनन्यस्तोशीरम्।—अभिज्ञान० ३-६।

४. एला स्थूला च बहुला पृथ्वी का त्रिपुटापि च।
भद्रैला वृहदेला च चन्द्रबाला च निष्कुटिः।
स्थूलला········· ।— भाव कर्पूरादिवर्ग ६०-६१।

नाटकों के उल्लेख—

सूक्ष्म एला (छोटी इलायची) के प्रकरण में देखें।

वनस्पति का परिचय—

बड़ी इलायची मध्य हिमालय में नेपाल, सिक्किम, भूटान और आसाम में अधिक होती है। अन्य क्षेत्रों में भी इसको लगाया जाता है। बंगाल तथा लंका की नमी वाली भूमि में भी यह बोई जाती है। बड़ी इलायची वन्य भी है और इसको खेतों में भी बोया जाता है।

बड़ी इलायची के छोटे क्षुप २ से ४ फीट झाड़ियों के रूप में होते हैं। यह सदा हरित झाड़ी है तथा अनेक वर्षों तक फल देती रहती है। जड़ में कन्द होता है और एक तने से अनेक शाखायें फूटती है। पत्ते १–२ फीट लम्बे ३-४ इंच चौड़े होते हैं। पत्तों को मसलने से बड़ी इलायची की सुगन्धि आती है। इस पर वर्षा ऋतु में पुष्प आते है, जो रक्ताभ श्वेत या पीत लम्बी पुष्पों से भरी मंजरी के रूप में होते है। तदनन्तर फल आकर शरद् ऋतु में पक जाते हैं। फल एक इंच तक लम्बे गुच्छों के रूप में लगते है। मोटे छिलके अन्दर गहरे भूरे रंग के छोटे-छोटे बीज भरे रहते हैं। बीजों में सुगन्धित उड़नशील तेल रहता है। बीजों की शक्ति दो वर्ष तक बनी रहती है।

काव्यात्मक वर्णन—

सूक्ष्म एला के प्रकरण में देखें।

उपयोग—

बड़ी इलायची का उपयोग मसाले के रूप में किया जाता हैं। यह चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह दीपक, पाचक और उत्तेजक है तथा वात का अनुलोमन करती है। पाचन संस्थान के विकारों में बीजों का चर्ण देते है। खरबूजों के बीजों के साथ दिये जाने पर यह मूत्रल है।

२१. एला (सूक्ष्म)

संस्कृत नाम—सूक्ष्मा, उपकुञ्चिका, तुत्था, कोरङ्गी, द्राविडी, त्रुटि, एला सूक्ष्मा।[1]

हिन्दी नाम—छोटी इलायची।

अंग्रेजी नाम—Lesser Cardamum.

लैटिन नाम—Elettaria cardamomum maton.

कुल—*Ziugibaraceae.*

---

१. सूक्ष्मोपकुञ्चिका तुत्था कोरङ्गी द्राविडी त्रुटिः। एला सूक्ष्मा··· । भाव० कर्पूरादिवर्ग ६३।

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अनर्घराघव, हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

छोटी इलायची दक्षिणी तथा पश्चिमी भारतवर्ष के पर्वतीय वनों में प्राकृतिक रूप में होती है। इसकी खेती भी की जाती है। लंका और बर्मा में भी यह मिलती है।

छोटी इलायची के ४-९ फीट ऊँचे झाड़ सदा हरे रहते है। ये लगभग १२ वर्ष तक फसल देते हैं। जड़ कन्द के रूप में होती है तथा इसमें पत्रवेष्टित तना निकलता है। पत्तियाँ १-२ फीट लम्बी और ३ इंच चौड़ी आयताकार-मालाकार होती है। चैत्र-वैशाख में श्वेतलाल रंग के फूल लम्बी मंजरियों के रूप में आते हैं। तदनन्तर घने गुच्छों में फल लगते हैं। ये कार्तिक में तैयार हो जाते है। फल में ऊपर श्वेताभ छिलका तथा अन्दर पाण्डुर बीज होते है। बीजों में मनोहर गन्ध होती है तथा सुगन्धित तेल निकलता है। अनेक बार अर्क खींची गई छोटी इलायची बाजार में आती है। इलायची के पत्तों और पुष्पों को मसलने से गन्ध आती है।

काव्यात्मक वर्णन—

अपनी मनोरम सुगन्ध और सौष्ठव के कारण इलायची भारतीयों को अति प्रिय रही है। कवियों ने इसके मनोरम वर्णन किये है। यह दक्षिण भारत में प्रचुर होती है।[१] समुद्रतटवर्ती भूमियों में एला के झाड़ बहुतायत से लगाये जाते हैं।[२] मलय पर्वत के क्षेत्र एला से भरे हुये है।[३] मुरारि ने वर्णन किया है कि पम्पा सरोवर की पार्श्ववर्ती भूमियाँ इलायची की गन्ध से सुगन्धित रहती हैं।[४]

संस्कृत नाटकों के इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि कवियों ने एला शब्द से छोटी इलायची को ग्रहण किया है। यह दक्षिण भारत में मलय आदि भूमियों में प्रचुर होती है, जबकि बड़ी इलायची विन्ध्य और हिमालय के वनों में अधिक है। निघण्टु ग्रन्थों और 'अमरकोष' में केवल एला पद बड़ी इलायची को बताता है, जब कि छोटी इलायची के लिये सूक्ष्मैला, त्रुटि आदि पद हैं।[५]

उपयोग—

छोटी इलायची का प्रयोग अतिथि-सत्कार के निमित्त से भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। इसका मसालों में प्रयोग होता है। यह चिकित्सा में

---

१. हनू० पृ० ६८-७०, बालरा० ७-९५।
२. बालरा० २-२३। ३. बालरा० १०-५४।
४. पम्पानिलविदलदेलासुरभयः।—अनर्घ० ५-२८।
५. अमरकोष २-४-१२५।

भी उपयोगी है। यह दीपन, पाचन, रोचन, मूत्रल, उत्तेजक और वातानुलोमक है। पाचन के विकारों में इसको दिया जाता है। मूत्रकृच्छ्र में इसको खरबूजे के बीज के साथ खिलाते हैं। नेत्र रोगों में इसके बारीक चूर्ण को बकरी के दूध में मिला कर लगाते हैं। हृदय रोग, गुल्म, नाडीशूल आदि में इसको विविध अनुपानों के साथ देते हैं।

२२. ऐरण्ड

संस्कृत नाम—शुक्ल एरण्ड—आमण्ड, चित्र, गन्धर्वहस्तक, पञ्चांगुल, वर्धमान, दीर्घदण्ड, व्यडम्बक, वातारि, तरुण, रूबूक।[1]

रक्त एरण्ड—रूबूक, उरुबूक, रुबु, व्याघ्रपुच्छ, वातारि, चञ्चु, उत्तानपद्मक।[2]

हिन्दी नाम—अरंड, अंडी।

अंग्रेजी नाम—Castor Oil Plant.

लैटिन नाम—Ricinus Communis Linn.

कुल—Euhobiaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मत्तविलास प्रहसन।

वनस्पति का परिचय—

प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में एरण्ड दो प्रकार का कहा गया है शुक्ल और रक्त। दोनों के गुण एक से ही हैं। एरण्ड प्रायः सभी प्रान्तों में मिलता है। ऊंचे पर्वतीय प्रदेशों से लेकर (५००० फीट) नीचे मैदानों में यह उत्पन्न होता है। इसकी बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र और गुजरात में खेती की जाती है। यह स्वयं भी पड़तीं और बंजर भूमियों में उगा हुआ पाया जा सकता है।

एरण्ड का लाल भेद बहुवर्षायु है। इसके फल कड़े तथा बीज लाल होते हैं। शुक्ल भेद एकवर्षायु है। अधिकतर इसी की खेती होती है। इसके बीज छोटे, भूरे और चित्तीदार होते हैं। चिकित्सा में प्रायः शुक्ल ऐरण्ड होता है।

---

१. शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रों गन्धर्वहस्तकः।
पञ्चाङ्गुलो वर्धमानो दीर्घण्डो व्यडम्बकः॥
वातारिस्तरुणश्चापि रुबूकश्च निगद्यते॥—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ६०-५१

२. रक्तोऽपरो रुबूकः स्यादुरुबुको रुबुस्तथा।
व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः।
—भाव० गुड्च्यादिवर्ग ६१-६२।

ऐरण्ड वृक्ष ८-१५ फीट ऊँचा पतले, लम्बे और कोमत काण्ड का होता है। तने तथा शाखाओं पर रोयें होते हैं। पत्ते चौड़े १०-१४ इंच के तथा पांच से सात भार्गो में विभक्त रहते है। वसन्त के प्रारम्भ में पुष्प आते है। बेंगनी रंग के इन पुष्पों में पीले रंग का केसर होता है। तदनन्तर फल आते हैं। इनका ऊपर काआवरण काटेदार होता है। प्रत्येक फल में तीन बीज होते है। बीज पर कठोर आवरण होता है। अन्दर श्वेत कोमल मज्जा होती है। इसमें ४५ प्रतिशत तक तेल रहता है।

काव्यात्मक वर्णन--

नाटकों में एरण्ड का उल्लेख अधिक नहीं है। 'मत्तविलास' में इसका संकेत है, जबकि कपाली एरण्ड को सम्बोधित करके कुछ कहता है।[१] 'यशस्तिलकचम्पू' में ऐरण्ड की गणना फल-सब्जियों में की गई।[२] एरण्ड की लकड़ी ठोस नहीं होती और यह ऊपर भूमियों में भी उग आता है। अतः यह कहावत प्रसिद्ध हो गई कि जहाँ वृक्ष नहीं है, वहाँ एरण्ड को भी लोग वृक्ष मान लेते हैं।[३]

उपयोग—

एरण्ड का व्यवसायगत और चिकित्सागत प्रयोग भारत में बहुत प्राचीन है। इसके तेल को साबुन बनाने' मशानों को चिकना करने और चर्म उद्योग में काम में लाते हैं। इससे उत्तम केशतेल बनाये जाते हैं। चिकित्सा में यह तेल उष्ण और स्निग्ध माना गया है। यह मृदु विरेचक और वातनाशक है। वात की वेदनाओं एरण्ड के मूल को सोंठ के साथ देना चाहिये तथा इसके तेल की मालिश करनी चाहिके। बाह्य सूजन और वेदना के लिये एरण्ड के पत्ते बाँधे जाने चाहिये।

२३. कङ्कत

संस्कृत नाम—अतिबला, ऋष्यप्रोक्ता, कङ्कतिका।[४]

हिन्दी नाम—कंधी, कगही।

अंग्रेजी नाम—Indian mallow.

लैटिन नाम—Abuliton indicum (Iinn) s w.

कुल—Maluaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

---

१. अपि एरण्ड वृक्ष······।—मत्त० पृ० ३४।

२. यशस्तिलकचम्पू पृ० ४०५।

३. निरस्तपादपे देशें एरण्डोऽपि द्रुमायते।

४. ततोऽन्याऽतिबला ऋष्यप्रोक्ता कङ्कतिका च सा।

—भाव० गुडूच्यादि वर्ग १४२।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

कंकत वनस्पति की पहचान कुछ कठिन है। दक्षिण वनों की वनस्पतियों में इसका उल्लेख किया गया है। आम के एक भेद को कंकत कहा गया है, अतः सम्भव है कि इसीं के लिये कंकत कहा गया हो। विकंकत नाम के एक अन्य काटेदार वृक्ष का भी वर्णन मिलता हैं। इसकी गांठदार लकड़ी होती है। कंकत पद से पहले वि उपसर्ग लगाने से विकंकत पद बनता हैं। परन्तु संस्कृत नाटकों में वैकंकत नाम की वनस्पति का भी उल्लेख है। अतः विकंकत और वैकंकत को एक मान कर कंकत वनस्पति मानना अचित होगा। प्राचीन वनस्पति शास्त्र में कंकतिका नामक वनस्पति का उल्लेख है, जिसको हिन्दी में कंघी कहते है। अतः कंकतिका को कंकत मानकर इसे कंघी माना जा सकता है।

कंकत वनस्पति भारत के सभी प्रान्तों में होती है। उष्ण जलवायु इसके लिये अधिक अनुकूल है। सामान्यतः इसके क्षुप ४-५ फीट ऊचें होते है, परन्तु अधिक पुराने ६-८ फीट हो जाते हैं। यह बरसात में खूब बढ़ता हैं। शरद् ऋृतु में इस एक इंच व्याय के ४-५ पंखुड़ी वाले पीले रंग के पुष्प आते हैं। तदनन्तर कमरख के आकार के फल लगते हैं। फलों के अन्दर काले चपटे बीज होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कंकत का उल्लेख नाटकों में कम ही है। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में इसकी उपस्थिति मात्र ही बताई है।[1]

उपयोग—

कंकत (कंघी) का चिकित्सा में उपयोग होता है। इसका पंचांग व्यवहार आता है। जड़ और छाल मूत्रल, स्नेहन और देदनाहर है। बीज सूजाक और वस्ती के रोगों में उपयोगी है। सूत्रकृमि (Thread Worm) को नष्ट करने के लिये गुदा में इन बीजों का धुआ देना चाहिये।

२४. कङ्केति

संस्कृत नाम—चविका, चव्य, ऊषण।[2]

हिन्दी नाम—चव्य, चब, मराठी-कंकल, बंगला-कंकाला।

---

१. हनू० पृ० ६८–७०।

२. भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा।

—भा०प्र० गुडूच्यादि वर्ग ६७।

अंग्रेजी नाम—Chab.

लैटिन नाम—Piper Chaba Hunter. **कुल**—Pihiraceae.

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

कंकेलि वनस्पति की पहचान कुछ कठिन है। निघण्टु ग्रन्थों में अशोक का एक पर्याय कंकेलि है।[1] परन्तु राजशेखर ने जिस प्रसंग में इस वनस्पति का वर्णन किया है, उससे यह अशोक प्रतीत नहीं होती। बंगला भाषा में कंकाला और मराठी में कंकल नामक वनस्पति कही गई है। राजशेखर मूलतः महाराष्ट्र के थे, अतः उन्होंने सम्भवतः कंकल को कंकेलि कहा होगा। संस्कृत में कंकल को चव्य कहते हैं।

ककैलि (चव्य) भारत के अनेक प्रान्तों में पाई जाती है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि दक्षिण-पूर्वी देशों में यह प्रचुर होती है।

कंकेलि की लतायें होती हैं और समीपस्थ वृक्षों से लिपटी हुई ये खूब बढ जाती हैं। पत्ते ७-७ इंच लम्बे, २–२½ चौड़े आयताकार कुछ नौकीले होते हैं। वसन्त में इस पर लाल रंग के पुष्पों के गुच्छे लगते हैं। फूल १–२ इंच लम्बे और ¼ इंच मोटे होते हैं। तदनन्तर नन्हें-नन्हें फल आते हैं। ये सुगन्धित और कटु होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

ककैलि का अधिक वर्णन नाटकों में नहीं है। राजशेखर ने भी केवल एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है कि यह वनस्पति वसन्त ऋतु में पुष्पित होती है।[2]

उपयोग—

कंकेलि (चव्य) का फल चिकित्सा में उपयोगी है। यह पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और नागर) का एक घटक है। चव्य का फल उत्तेजक और पाचक है। शूल, आध्मान, कास, प्रतिश्याय आदि में यह उपयोगी है। अपस्मार में इसका नस्य देना चाहिये।

२५. कक्कोल

संस्कृत नाम—कक्कोल, कोलक, कोषफल।[3]

---

१. भावप्रकाशनिघण्टु–पुष्पादिवर्ग ४७।

२. बालरा० पृ० २६४।

३. कक्कोलं (कङ्कोलं) कोललं प्रोक्तं तथा कोषफलं स्मृतम्।
—भाव० कर्पूरादिवर्ग ११६।

हिन्दी नाम—कंकोल, कबाबचीनी, शीतलचीनी।
अंग्रेजी नाम—Cubebs, Tailed Pepper.
लैटिन नाम—Piper cubeba Linn. **कुल**—Piperaceae.
वर्ग—कर्पूरादिवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

कक्कोल मुख्य रूप से जावा, सुमात्रा, मलाया आदि दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में होता है। लंका और दक्षिण भारत में भी इसकी खेती की जाती है।

लता जाति की कक्कोल वनस्पति समीपस्थ वृक्षों के आश्रय से बढ़ती है। इसका काण्ड कोमल, चिकना और गांठदार होता है। पत्तियां हृदय के आकार की, आगे से नोकदार होती है। मंजरियों के रूप में पुष्प आते हैं। फल काली मिर्च के समान छोटे, श्यामल, और झुर्रीदार होते हैं। इसमें उड़नशील तेल रहता है, जिसको आसवन की क्रिया से प्राप्त किया जाता है। फलों को पूरा पकने से पहले ही संग्रहीत कर लिया जाता है और धूप में सुखाया जाता है। इनको मसलने से मसाले के समान विशिष्ट गन्ध आती है।

काव्यात्मक वर्णन--

संस्कृत कवियों ने दक्षिण भारत के वनों में कक्कोल का वर्णन किया है।[२] इसको वाटिकाओं में भी लगाया जाता था, जहां इसके फल को पक्षी प्रेम से खाते थे।[१] मलय पर्वत की वनस्पतियों में कक्कोल का वर्णन हैं।[३] राजशेखर के अनुसार कक्कोल की लता होती है, जिसको वसन्त का वायु प्रकम्पित करता है।[४]

उपयोग--

कक्कोल के फल को मुखशुद्धि के लिये पान में लेते हैं। यह मसालों में भी काम आता है और चिकित्सा के लिये भी उपयोगी है। कक्कोल का फल उष्ण, वात-पितनाशक, उत्तेजक और पाचक है। यह मूत्रल है और मूत्रमार्ग का शोधन करता है। इसको वाजीकरण और आर्तवप्रवर्तक भी कहा जाता है।

२६. कदम्ब

संस्कृत नाम—कदम्ब, प्रियक, नीप, वृत्तपुष्प, हलिप्रिय।[५]

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।
२. मालती० ६-१९।
३. बालरा० १०-५४।
४. कर्पूर० १-१७।
५. कदम्बः प्रियको नीपो वृत्तपुष्पो हलिप्रियः। —भाव० पुष्पवर्ग।

हिन्दी नाम—कदम्ब, कदम।
अंग्रेजी नाम—Kadamba Tree.
लैटिन नाम—Anthocephalus cadamba Miq. कुल—Rubiaceae.
वर्ग—पुष्पवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, अविमारक, धुर्तविटसंवाद, हनूमन्नाटक, चण्डकौशिक, अनर्घराघव, उत्तररामचरित, महावीरचरित, मालतीमाधव, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

कदम्ब के वृक्ष हिमालय की तराई, बंगाल, आसाम, छोटा नागपुर, उत्तर कर्नाटक, पश्चिमी घाट और केरल में प्रचुर होते हैं। भारत के अनेक भागों में इसको उगाया जाता है।

कदम्ब के ऊँचे वृक्ष (४०–६० फीट) घने छायादार होते हैं। इसकी शाखायें दूर तक फैली रहती हैं। ४–९ इंच लम्बे पत्ते लम्बाई लिये अण्डाकार, आगे से नोकीले और चिकने होते हैं। भूरी रंग की छाल फटी-सी होती है। ग्रीष्म में पत्ते गिर जाते हैं और उसके बाद १-२ इंच व्यास के गोलाकार नारंगी रंग के पुष्प मई-जुलाई में आते हैं। इन पर चारों और पिंगल वर्ण के केसर होते हैं। तदनन्तर फल आते हैं। ये कच्चे होने पर हरे तथा पकने पर पीले-नारंगी होते हैं। जनवरी-फरवरी में फल पक कर गिर जाते हैं। वन्य जन्तुओं के ये आहार हैं। यह वृक्ष छोटी आयु में पुष्पित और फलित होने लगता हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कदम्ब वृक्ष संस्कृत कवियों को बहुत प्रिय रहा था। अनेक नाटकों में इसका वर्णन प्राचीन समय में वनों में कदम्ब वृक्ष खूब होते थे।[1] पुष्पित हो जाने पर वे अनुपम सौन्दर्य से भर जाते थे।[2] माल्यवान् पर्वत पर बहुत से कदम्ब वृक्ष थे और पुष्पित होने पर उन पर भौंरें मंडराने लगते थे।[3] कदम्ब वृक्ष ऊँचे और मजबूत होते हैं, जिसके तने पर हाथी भी सूँड टिका कर आराम कर सकते हैं।[4]

कवियों के अनुसार वर्षा में कदम्ब पर पुष्प खिलते हैं।[5] पूर्वी पवन के प्रवा-

---

१. मालती० पृ० ३८०, चण्ड० २-१४, हनू० पृ० ६८-७०।
२. जृम्भाजर्जरडिम्बडम्बरघनश्रीमत्कदम्बद्रुमाः। मालती० ९-१६।
३. मिलितमलिभिः संभुज्यन्ते कदम्बविभूतयः। —अनर्घ० ५-२१
४. नीपस्कन्धहस्तनिषण्णः······नागराजः। —विक्रम० पृ० २२६।
५. धुर्त० श्लोक ५।

हित होते ही पुष्पों का विकास प्रारम्भ हो जाता है[१] और नवीन कलियां प्रस्फुटित होने लगती हैं ।[२] इस समय इनकी तीव्र मादक गन्ध वनों में सभी ओर विकसित एवं प्रसारित होती है ।[३] वन प्रदेशों में विकसित कदम्ब पुष्पों की सुरभि से मन आप्यायित होता है ।[४] वर्षा के प्रारम्भ होते ही अधखिले केसरों से हरे-पीले कदम्ब बहुत सुन्दर लगते हैं ।[५] कदम्ब वृक्षों पर पुष्प आना प्रारम्भ होने का अभिप्राय यही है कि ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई है ।[६] परन्तु एक स्थान पर राजशेखर ग्रीष्म ऋतु में भी कदम्ब वृक्षों के पुष्पित होने का वर्णन करते हैं ।[७] सम्भवतः यह समय ग्रीष्म के अन्त और वर्षा के प्रारम्भ होने का रहा होगा ।

कदम्ब पुष्पों का आकार गोल होता है । ये पिंगल वर्ण के अति मनोहारी होते हैं । पीति स्वर्णिम कदम्ब कुसुमों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती है, कि मानों दीपकों की ज्वाला हो ।[८] इन पुष्पों पर सभी ओर केसर के सूत्र उभरे रहते हैं, जो रोमांच के समान प्रतीत होते हैं ।[९]

कदम्ब पुष्पों का आभूषणों के रूप में प्रयोग करने का बहुधा उल्लेख है । युवतियां इसको कानों में लटका लेती थीं ।[१०] अनेक युवतियां कदम्ब पुष्पों को अपने जूड़ें में भी बांध लेती थीं ।[११] सीमन्त में भी इसको लटकाया जाता था ।[१२]

कदम्ब वृक्षों को मयूरों का अति प्रिय कहा गया है । वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने पर विकसित कदम्ब वृक्षों पर मयूर जा बैठते हैं तथा प्रसन्नता से नाचने लगते हैं ।[१३]

संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य की अभिव्यंजना के लिये कदम्ब का

---

१. महावीर० पृ० १६० । —अविमारक पृ० १२२ ।
२. उत्तर० ३-४२, मालती० ३-७ ।
३. अविमारक पृ० १८२ ।
४. फुल्लकदम्बनीपसुरभौ । —मृच्छ० ५-४७ ।
५. नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरुढैः । —मेघदूत-पूर्वमेघ २२ ।
६. धर्मान्तर्शंसि । —विक्रमो० ४-६१ ।
७. बालरामायण ३-२६ ।
८. समदनो नीपः प्रदीपायते । —मृच्छ० ५-१४ ।
पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः । —पूर्वमेघ २७ ।
९. मृच्छ० ५-४७ । १०. बालरा० ३-४५ ।
११. रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तिशंसि यस्यैकम् ।
कुसुमसम केसरविषयमपि कृतं शिखाभरणम् ॥ —विक्रमो० ४-६६ ।
१२. सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् । —उत्तरमेघ-२ ।
१३. उत्तर० पृ० ८२ ।

उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है। शृंगार की लज्जा से सुशोभित तरुणियों का मुख कदम्ब पुष्प के सदृश होता हैं।[१] रोमांचित शरीर से कदम्ब पुष्प की उपमा अनेकशः दी गई है।[२]

प्राचीन समय में सुरा को बनाने तथा सुगन्धित करने के लिये कदम्ब का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसी सुरा कदम्ब या कादम्बरी कहलाती थी। यह सुरा बलराम को अति प्रिय थी। अतः कदम्ब का एक नाम हलिप्रिय भी है।[३]

उपयोग—

कदम्ब के पुष्पों के सौन्दर्य के कारण इसको वाटिकाओं में तथा मार्गों के किनारे लगाया जाता है। कदम्ब की लकड़ी कोमल, हलकी, पीली-श्वेत होती है और इसका उपयोग दियासलाई की तीलियां तथा बक्से बनाने में किया जाता है।

कदम्ब का उपयोग चिकित्सा में भी है। यह रुक्ष, कटु-तिक्त और शीत वीर्य है। स्तम्भक होने से वमन और अतिसार में उपयोगी है। मुख के छालों में इसके पत्तों के काढे का कुल्ला करते हैं।

२७. कदली

संस्कृत नाम—कदली, वारणा, मोचा, अम्बुसारा, अंशुमतीफला।[४]
हिन्दी नाम—केला।
अंग्रेजी नाम—Plantain, Banana.
लैटिन नाम—Musa sapientum Linn. **कुल**—Musaceae.
वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

पञ्चरात्र, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द, उत्तररामःचरित, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

केला भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता हैं और इसकी खेती की

---

१. मालती० ७-१, विद्ध० २-१।
२. संस्पर्शरोमाञ्चितजातसङ्गं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्।
—मृच्छ० ५-४७।
३. अमरकोष २-४-४२।
४. कदली वारणा मोचाऽम्बुसारांऽशुमतीफला।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ३३।

जाती है। एक बार फल आ जाने पर दोबारा फल नहीं आते और इसको काट देना पड़ता है। पुरानी जड़ के समीप कन्द के नये अंकुर निकल कर नये वृक्ष तैयार हो जाते हैं।

केले के वृक्ष प्रायः १०–१२ फीट ऊँचे होते हैं। इनमें काण्ड में काष्ठ नहीं होता। इसके पत्ते ४-५ फीट लम्बे और एक फुट चौड़े कोमल होते हैं। प्रायः सभी ऋतुओं में इसके फल आते रहते हैं। फूल आकर फलों के गुच्छे लटक जाते हैं तथा एक गुच्छे में ३०–४० तक फल होते हैं।

भारतवर्ष में अनेक जाति के केले होते हैं। 'भावप्रकानिघण्टु' में चार प्रकार के केले कहे गये हैं—माणिक्य-कदली, मर्त्य-कदली, अमृत-कदली और चम्पक-कदली।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन भारत में केला लोकप्रिय पौधा था। भारतीय उद्यानों में इनको प्रचुर संख्या में लगाया जाता था। इनके झुण्ड होते थे और एक झुण्ड में काफी संख्या में पौधे होते थे।[1] इनको इस प्रकार से व्यवस्थित रूप से भी लगाया जाता था कि एक मंडप सा बन जावे और उसके भीतर विश्राम किया जा सके। इस मण्डप में पाषाणफलक आदि बिछाये जाते थे। ऐसी रचना को कदलीगृह या कदली-मण्डप कहा गया है।[2] कदलीमण्डप शीतल होते थे। राजकीय अन्तःपुरों की वाटिकाओं में इनका बहुधा उल्लेख है। राजा विद्याधरमल्ल के प्रमदोद्यान में बनाये गये कदली-वृक्ष का नाम तुषारपुञ्ज रखा गया था।[3]

कदली के पौधे न केवल वाटिकाओं में ही उगाये जाते थे। वे भारतीय वनों में प्रचुरता से उपलब्ध थे।[4] वनों में रहने वाले व्यक्ति कदली के कुंजों को मण्डप के रूप में भी बना लेते थे और विश्राम करने के लिये उनमें शिलातल रखते थे।[5] तपोवनों की वाटिकाओं में कदली वृक्ष प्रचुरता से लगाये जाते थे।[6]

कदली का फल अति स्वादिष्ट और पौष्टिक माना जाता था। राजशेखर ने इसका ग्रीष्म ऋतु में पकने का उल्लेख किया है।[7] परन्तु कदली अन्य ऋतुओं में प्राप्त होता है। इसको पाल की ऊष्मा से पकाया जाता है। सम्भवतः इसी कारण राजशेखर ने ऐसा लिखा होगा। वृक्ष पर जब कदली स्वयं पक जाता है तो नीचे गिर जाता है।[8]

---

१. बालरा० १-६३। २. रत्ना० पृ० ४२, प्रिय० पृ० २७।
३. विद्ध० पृ० ३७। ४. हनू० पृ० ६८-७०।
५. उत्तर० ३-२१। ६. नागा० पृ० ५६।
७. विद्ध० ४-२।
८. कदल्या विप्लुष्टं पतति परिणामादिव फलम्। —पञ्चरात्र १-१६।

कदली के लिये रम्भा शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उत्तम जाति का केला राजरम्भा कहलाता था।[१] राजशेखर ने वर्णन किया है कि समुद्र के तट पर राजरम्भा प्रचुर परिमाण में होते हैं।[२]

कवियों को कदलीवृक्ष का सौन्दर्य अति रमणीय लगा था। उन्होंने इसको नारी के सौन्दर्य का उपमान बनाया। सुन्दर तरुणियों की जाघें कदली के तनों के समान चिकनी और गौर वर्ण होती हैं।[३] कदली के तने के अन्दर का भाग अति गौर, कोमल और चिकना होता है। तरुणी के अंग उसके समान हो सकते हैं।[४] तरुणियों के लिये रम्भोरु पद का प्रयोग कवियों ने प्राय: किया है।[५] कालिदास ने एक स्थान पर पार्वती की जांघों को कदली से भी अधिक सौन्दर्यशाली कहा हैं।[६] वह यक्षिणी के उरु को सरस कदली के समान गौर बताता है।[७]

उपयोग—

केले का उपयोग सामान्यत: फलों के रूप में है। ये फल शर्करा, विटामिन बी और सी तथा अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों से समृद्ध होने के कारण पौष्टिक होते हैं। केले का पौधा पवित्र और शुभ माना जाता है। विविध संस्कारों और समारोहों में इसके मण्डप और द्वार बनाये जाते हैं। केले के पत्ते पत्तल के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

केले का प्रयोग चिकित्सा में भी हैं। फल पोषण करने वाला है तथा अतिसार आदि में उत्तम पथ्य है। केले की जड़ कृमिघ्न है। काण्ड को काटने से निकलने वाले जल को शीतलता के लिये देते हैं। हैजे की प्यास को रोकने के लिये यह उत्तम है। अत्यातंव में फूलों के रस को दही के साथ देना चाहिये। केले का शरबत पुरानी खांसी में उपयोगी है।

२८. कन्दली

संस्कृत नाम—कन्दली।
हिन्दी नाम—बिसकूनरी।
अंग्रेजी नाम—Plantain Grass.
लैटिन नाम—Ginum defixum Ker-Gawl. **कुल**—Amaryllidaceal.

१. विद्ध० ४-२। २. बालरा० २-२३।
३. हनू० १०-१२। ४. मालती० २-३।
५. रम्भोरु। —मालविका० ३-१०।
६. एकान्तशैत्यात्कदलीविशेषा:······जातस्तिदूर्वोरूपमानबाह्याः। —कुमारसम्भव १-३६।
७. ऊरु: सरसकदलीस्तम्भगौरः। —उत्तरमेघ ३८।

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, धूर्तविटसंवाद, मालतीमाधव, आश्चर्यचूडामणि, हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

कदली का पौधा नदियों और तालाबों के किनारे गीली भूमि में प्रचुर होता है । वर्षा में यह फलता-फूलता है और इसके क्षुप होते हैं । वर्षा प्रारम्भ होते ही इस पर पुष्प आ जाते हैं । जड़ में कन्द होने के कारण इसे कन्दली कहा गया है । वनस्पतिज्ञों के अनुसार यह आयुर्वेद की प्रसिद्ध वनस्पति सुदर्शन का एक भेद है । किन्तु इसका कन्द विषैला होता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों को कन्दली नामक पौधा बहुत अच्छा लगा था । इसकी जड़ में एक कन्द होता है, अतः इसको कन्दली कहा गया ।[1] इसके हरे-भरे पत्ते अति सुन्दर प्रतीत होते हैं ।[2] नदियों के गीले तटों पर कन्दली के पौधे प्रचुर मिलते हैं ।[3]

कन्दली पर वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं । कालिदास ने वर्णन किया है कि वर्षा ऋतु आने पर नदियों के कच्छ प्रदेशों में बहुतायत से होने वाले कन्दली पौधों पर कलियां प्रकट हो जाती हैं ।[4] कन्दली के पौधे ग्रीष्म ऋतु में सूख जाते हैं तथा बाहर से प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होते । वर्षा ऋतु में ये पुनः हरे-भरे होकर पुष्पित हो जाते हैं ।[5] कन्दली का पुष्प रक्त वर्ण होता है । नवीन कन्दली पुष्पों के उद्गम से चारों ओर लाल-लाल पंक्तियां बन जाती हैं ।[6]

उपयोग—

कन्दली वन्य पौधा है । इसके पत्तों के धुयें से मच्छर नष्ट हो जाते हैं और पत्तियां घर में रखने से घर के कीड़े नष्ट हो जाते हैं । पत्तों के रस से बना तेल चर्म रोगों को नष्ट करता है । कन्द को पीस कर लगाने से फोड़े पक कर फूट जाते हैं ।

२९. कपित्थ

संस्कृत नाम— कपित्थ, दधित्थ, पुष्पफल, कपिप्रिय, दधिफल, दन्तशठ,[7]

---

१. हनू० ५-४३ । २. आश्चर्य० ६- २ ।

३. उद्यत्कन्दलकान्तकेतकभृतः कच्छाः सरित्स्रोतसाम् । —मालती० ९-१६ ।

४. आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् । —पूर्वमेघ २२ ।

५. धूर्त० पृ० ६३ ।

६. आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीगर्भनिभैः । —विक्रमो० ४-१५ ।

७. कपित्थस्तु दधित्थः स्यात्तथा पुष्पफलः स्मृतः ।
कपिप्रियो दधिफलस्तथा दन्तशठोऽपि च ॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ५८ ।

हिन्दी नाम—कैथ ।
अंग्रेजी नाम—Wood Apple, Elephant Apple.
लैटिन नाम—Feronia elephantum Carrea. **कुल**—Rutaceae.
वर्ग—आम्रादिफलवर्ग ।

नाटकों का उल्लेख—

मृच्छकटिक, रत्नावली, हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

कपित्थ के वृक्ष प्रायः सारे भारत में मिलते हैं । शुष्क प्रदेशों में यह अधिक होता है । दक्षिण के बनों में ये बहुत अधिक होते हैं ।

कपित्थ वृक्ष मध्यम आकार के ३०-४० फीट ऊँचे होते हैं और इस पर सीधे काटे रहते हैं । सर्दियों के अन्त में इस पर पतझड़ होता है तथा यह वसन्त के अन्त में पुनः पल्लवित हो जाता है । पत्ते छोटे, चिकने तथा आगे से नोकीले होते हैं । एक पत्ते में ३–६ पत्तियाँ होती हैं । इनको मसलने से सौंफ के समान विशिष्ट गन्ध आती है । ग्रीष्म ऋतु के अन्त तक वर्षा के प्रारम्भ में हलके लाल रंग के छोटे-छोटे पुष्प मंजरियों के रूप में निकलते हैं । तदनन्तर फल आते हैं, जो वर्षा के अन्त तक पक जाते हैं । फलों पर बेल के समान कठोर छिलका होता है और अन्दर खट्टा-मीठा गूदा होता है । इसमें विशेष सुगन्धि होती है । प्रत्येक फल में बहुत अधिक संख्या में बारीक बीज (५०० तक) भरे रहते हैं । कपित्थ की शाखाओं पर चीरा लगाने से गोंद निकलता है । वर्षा के अन्त में अधिक गोंद आता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

कपित्थ वृक्ष सामान्यतः आरण्य वृक्ष है । इसके फल को वन्य जन्तु शौक से खाते हैं । 'हनूमन्नाटक' में इन वृक्षों को दक्षिण वनों में दिखाया गया है ।[1] कपित्थ फल को गणेश देवता का प्रिय आहार माना गया था ।[2] संस्कृत कवियों ने बस्तियों और वाटिकाओं में भी कपित्थ वृक्ष लगाये जाने के उल्लेख किये हैं ।[3]

शूद्रक ने कपित्थ फल का मनोरंजन वर्णन किया है । कठोर आवरण होने के कारण इसको किवाड़ों के मध्य फंसा कर तोड़ा जाता था ।[4] प्राकार से परिवेष्टित वाटिकाओं में स्थित कपित्थ वृक्षों के फलों को शरारती बच्चे ढेले मार कर तोड़ते हैं ।[5]

---

१. हनू० पृ० ६८-७० ।
२. कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् । —गणेशस्तोत्र ।
३. रत्ना० पृ० ५८ ।
४. कवाटप्रविष्टकपित्थगुलिकमिव । —मृच्छ० पृ० ५४ ।
५. प्राकारवेष्टिमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति । —मृच्छ० पृ० १९८ ।

उपयोग—

कपित्थ के फल, गोंद तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है। इसकी लकड़ी ईंधन के रूप में काम आती है। फल को खाया जा सकता है। यह बेल के समान पौष्टिक और गुणों वाला है। फलों के गूदे का शरबत भी बनाया जा सकता है।

कपित्थ का चिकित्सा में भी उपयोग है। फल को अतिसार तथा पेचिश में दिया जा सकता है। पेट की मरोड़ में इसका गोंद उपयोगी है। इसके पत्ते बच्चों के अजीर्ण में उपयोगी हैं।

३०, ३१. कमल और कुमुद

संस्कृत नाम—

कमल—नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, शतपत्र, कुशेशय, पङ्केरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, विसप्रसून, राजीव, पुष्कर, अम्भोरुह।[1]

कुमुद—श्वेत कुवलय, कुमुद, कैरव।[2]

श्वेत कमल—पुण्डरीक, लाल कमल-कोकनद, नीला कमल-इन्दीवर।

अंग्रेजी नाम—कमल—Lotus. कुमुद—Water Lily.

लैटिन नाम—कमल—Nelnmbo mncifera Gaert. (पुराना नाम)
Nelumbium speciasum willd. (नया नाम)
कुमुद—Nymphaea alba Linn.

कुल—Nymphaceae.

नाटकों का उल्लेख—

मध्यम व्यायोग, स्वप्नवासवदत्तम्, चारुदत्त, मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, कौमुदीमहोत्सव, मुद्राराक्षस, धूर्तविटसंवाद, रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द, वेणीसंहार, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, आश्चर्यचूडामणि, रामाभ्युदय, अनर्घराघव, तापसवत्सराज, सुभद्राधनञ्जय, हनूमन्नाटक, चण्डकौशिक, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

कमल और कुमुद भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में मिलते हैं। यह तालाबों

---

१. वा पुंसि पद्म नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।
सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्॥
पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्।
विसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च॥ —भाव० पुष्पवर्ग १-२।

२. श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा। —भाव० पुष्पवर्ग १५।

में फैलने वाली वनस्पति है। इसकी जड़ कीचड़ में फैली है। इसके विकास के लिये उष्णता वांछनीय है।

कमल के पत्ते १-३ फीट व्यास के गोलाकार, चिकने, चमकीले, जल के स्तर पर तैरते रहते हैं। इनकी डंठल जल में नीचे गहराई तक चली जाती है, जहां यह मृणालमे जुड़ी रहती है। मृणाल में लम्बी नालियां होती हैं। कुमुद के पत्ते कमल के पत्तों से छोटे होते हैं। पुष्प बसन्त और शरद् में खिलते हैं। ये श्वेत, लाल, पीले, नीले हो सकते हैं। ये जल से ऊपर ऊँचे पुष्पनाल से निकलते हैं। पुष्प छोटे या बड़े हो सकते हैं, परन्तु इनमें पंखुड़ियों की संख्या अधिक (२०-७०) होती है। मध्य में केसर से भरा बीजकोष होता है। इसमें ८-१० बीज रहते हैं। पंखुड़ियों के झड़ने पर यह कमलगट्टे के रूप में बाजार में बिकता है।

कमल का ही एक भेद स्थल कमच है। यह शुष्क भूमि पर होता है। कवियों ने स्थल कमल और कमलिनी का बहुधा उल्लेख किया है। वनस्पनिविज्ञान की दृष्टि से स्थल कमल आयानीडियम सफ्रूटिकोसन (Ionidium suffruticosum) है और इसका कुल वायोलेसी (Violaceae) है। ये क्षुप मैदानी गरम प्रदेशों में अधिक होते हैं और इन पर लाल रंग के पुष्प आते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

भारतीय जनों के लिये कमल अति लोकप्रिय पुष्प रहा। इसको देवपूजन के निमित्त भी पवित्र माना जाता रहा। संस्कृत कवियों ने इसके मनोरम वर्णन किये हैं। जलाशयों में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में सबसे अधिक सौन्दर्य कमलों और कुमुदों में देखा गया था। कमलों से सुशोभित जलाशय रूपकों में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त हुये हैं। इसका दर्शन अति शुभ माना गया था। प्राचीन काल के मार्ग जलाशयों में खिलने वाले कमलों से सुशोभित होते थे। पति गृह के लिये प्रस्थान करती हुई शकुन्तला को कण्व ने आर्शीवाद दिया था कि तुम्हारा मार्ग कमलिनियों से भरे सरोवरों से रम्य हो।[1]

कमल जातीय वनस्पतियों के सामान्यत: दो भेद किये गये हैं--कमल और कुमुद में स्त्री-पुरुष भाव की कल्पना करके पुन: दो-दो भेद किये गये--कमल और कमलिनी तथा कुमुद और कुमुदिनी। परन्तु शब्दकोषों में स्त्रीलिंग कमलिनी आदि पदों का व्यवहार समूह अर्थ में भी किया गया है। अत: साहित्य में भी कमल और कमलिनी एक ही अर्थ में व्यवहृत हैं। चन्द्र और सूर्य की प्रेयसी के रूप में कुमुदिनी और कमलिनी कह कर नारी भाव की कल्पना हो सकती है।

साहित्यिक वर्णनों और कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार कमल और कमलिनी का

---

१. रम्यान्तर: कमलिनीहरितैः सरोभि:। —अभिज्ञान० ४-११।

का विकास सूर्योदय होने पर होता है।[१] सूर्य कमलों को ही विकसित करता है।[२] इसके विकसित होने का समय रात्रि का अन्त ही है।[३] सूर्य से तिरोहित होने पर कमल और कमलिनी मुरझा जाते हैं।[४] चन्द्रमा के उदय होने पर कमल विकसित नहीं रह सकते।[५]

कुमुद और कुमुदिनियों का विकास चन्द्रमा के उदित होने पर रात्रि में होता है।[६] कैरव भी कुमुद का पर्याय है, जो चन्द्रमा के उदय होने पर खिलता है।[७] कालिदास ने वर्णन किया है कि कुमुदों को चन्द्रमा ही विकसित करता है।[८] चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदिनी विकसित होती है और उसके अस्त होने पर मुद्रित और शोभाहीन हो जाती है।[९] दिन का प्रारम्भ कुमुदिनियों को मुरझा देता है।[१०]

साहित्य में इस प्रकार की कवि-प्रसिद्धियों का वर्णन होने पर भी सूर्य और चन्द्रमा के साथ कमलों और कुमुदों का यह सम्बन्ध विचारणीय है।

रंग की दृष्टि से भी कमलों के भेद किये गये हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध श्वेत कमल है। इसको अरविन्द या पुण्डरीक भी कहते हैं। यह अति लोकप्रिय रहा था तथा विष्णु की आंखों का उपमान बनाया जाने के कारण उनका नाम ही पुण्डरीकाक्ष हो गया। इसके प्रति सहृदय जनों का अत्यधिक स्नेह रहा।[११] कुमुदों का वर्ण भी श्वेत कहा गया हैं।[१२]

लाल कमल को तामरस[१३] और कोकनद नाम दिया गया। मानव त्वचा, विशेष रूप से युवतियों की त्वचा की लालिमा के ये उपमान रहे। युवतियों की हथेलियों को रक्त कुवलय की पंखुड़ियों के समान कहा गया है।[१४] सुन्दर रमणियों के पैर भी लाल कमलों के समान लुभावने होते हैं।[१५] लाल कमल जब खिलते हैं, तो यह

---

१. अनर्घ० १-१, १-४, १-५।
२. सविता बोधयति पङ्कजान्येव। —अभिज्ञान० ५-२८।
३. निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्। —विक्रमो० १-६।
४. चण्ड० १-१६, सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्। —उत्तरमेघ २०।
५. हनू० २-४। ६. मुद्रा० ३-७। ७. हनू० २-४।
८. कुमुदान्येव शशाङ्कः। —अभिज्ञान० ५-२८।
९. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा। —अभिज्ञान० ४-३।
१०. ग्लपयति कुमुद्वतीं दिवसः। —अभिज्ञान० १-१९।
११. तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन्। —विक्रमो० ४-४२।
१२. वेणी० पृ० १२। १३. धूर्त पृ० ६३।
१४. रक्तकुवलयपल्लवशोभिना अग्रहस्तेन। —अभिज्ञान० पृ० २२८।
१५. मृच्छ० १-२०।

दृश्य अति रमणीय होता है। उनसे जलाशयों का दृश्य सन्ध्याकाल के समान प्रतीत होता है।[१] कह्लार भी लाल कमल है।[२] यह अधिक गहरी लालिमा लिये होता है। लाल कमल भी सूर्य की किरणों के स्पर्श से खिलते हैं।[३]

साहित्य में नीले कमलों का भी बहुधा उल्लेख है। इनको इन्दीवर[४], कुवलय[५] आदि नाम दिये गये हैं। नील कमल भी इनको कहा गया था।[६] इन्दीवर का नील-श्याम वर्ण कवियों को बहुत पसन्द आया। विष्णु को "इन्दीवरश्यामल-कोमलाङ्ग" कहा गया है। भास ने विष्णु को कुवलय और खड्ग के समान स्वच्छ नील वर्ण का कहा है।[७] नील कमल कोमलता का भी मानदण्ड माना गया था। कालिदास कहते हैं कि शकुन्तला को आश्रम के कार्यों में लगाना ऐसा ही है, जैसे नील कमलों की पंखुड़ियों के किनारे से शमी वृक्ष को काटना।[८] भाव यह है कि शकुन्तला नील कमल की पंखुड़ियों के समान कोमल है।

कमलों का एक भेद स्वर्ण कमल भी माना गया है। इसका रंग पीत-रक्त होता है। इसको हेमाम्भोज नाम दिया था। मानसरोवर में स्वर्ण कमल प्रचुर होते हैं।[९] हंसों का इनमें निवास करना अति प्रिय माना गया था।[१०] अलकापुरी की अंगनायें स्वर्ण कमलों की पंखुड़ियों को कानों में पहना करती थीं।[११]

कमलों की उत्पत्ति उनके मूल से होती है। यह मूल एक कन्द के रूप में होता है। इससे पौधा अंकुरित होता है।[१२] कमल के कन्द से कमल की नाल बाहर निकलती है। इसको मृणाल या बिस भी कहा जाता है। इसके ऊपर डंठल से लगे पत्ते पानी में तैरते रहते हैं। परन्तु ये पत्ते जल से भीगे प्रतीत नहीं होते। जल इन पर ठहरता नहीं और चाँदी या मोती की बूँदों के समान चमकता है। पत्तों के मध्य से कमल की कली विकसित होती है तथा खिलकर पंखुड़ियाँ चारों ओर फैल जाती है। पंखुड़ियों के मध्य में कमल का कोष होता है। इसमें मधु भरा होता है। इस कोष से किञ्जल्क (कमलकेसर) बाहर निकले रहते हैं। इनमें पराग भरा रहता

१. मृच्छ० पृ० १८४।   २. आश्चर्य ३-२८।
३. सूर्यकरस्पर्शविकसितामरसे। —विक्रमो० ४-१।
४. चण्ड० १-१३।   ५. प्रिय० २-८।
६. धूर्त० पृ० ६३, विद्ध० पृ० १२।
७. कुवलयामलखड्गनील:। —मध्यम० १-१।
८. ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।
—अभिज्ञान० १-१८।
९. हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददान:। —पूर्वमेघ ११।
१०. नागा० ५-३७।
११. पत्रच्छेदै: कनककमलै: कर्णविभ्रंशिभिश्च। —उत्तरमेघ ११।
१२. मृच्छ० पृ० १९४।

है। कमल पुष्प के पुराना हो जाने पर बीजकोष (कमलगट्टा) बनता है। इसमें अनेक बीज भरे रहते हैं। इनको कमलबीज या पुष्करबीज कहा जाता है। गरमियों में ये सूख जाते हैं।[१] इन बीजों को विशेष विधि से भूनकर मखाने बनाये जाते हैं।

कमलों के लिये प्रसिद्ध है कि ये वर्षा ऋतु में समाप्त हो जाते हैं। वर्षा की तीव्र बौछारें कमल पुष्पों पर तीव्र आघात करती हैं। परन्तु वर्षा के समाप्त हो जाने पर तथा शरद् ऋतु के आने पर जलाशयों का सौन्दर्य विकसित कमलों से पूर्ण हो जाता है।[२] अतः 'धूर्तविटसंवाद' में कवि ने वर्षा ऋतु में कमल, कुमुद, कह्लार और कुवलयों के विकसित सौन्दर्य का जो वर्णन किया है[३], वह समुचित प्रतीत नहीं होता। हेमन्त और शिशिर को भी कमलों के लिये हानिप्रद कहा गया है। इस समय तुषार पड़ने से पद्मिनियाँ उपहत होती है।[४]

कमलों तथा कमलिनियों के सौन्दर्य के साथ कवियों ने भ्रमरों का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। वे कमलों के मधु के अत्यधिक लोभी होते हैं। उनको प्रेमिका के समान मान कर उनमें निवास करके परम शान्ति प्राप्त करते हैं।[५] कमलों की सुरभि कवियों को अति कमनीय लगी। इस उन्मादक गन्ध को ग्रहण करने के लिये वायु भी सदा उद्यत रहता है।[६]

कवियों ने मानव-जीवन तथा उसकी भावनाओं के साथ कमलों का गहन सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार की अवस्था में इसमें और भी अधिक तादात्म्य अभिव्यक्त किया गया है। विरह के सन्ताप को शान्त करने के लिये कमलों का प्रयोग किया जाता था। कमल के किसलयों तथा मृणालों का इसके लिये विशेष प्रयोग था।[७] कमल-पत्रों तथा पुष्प-दलों की शय्या बना कर उस पर विरहिणी को शयन कराया जाता था।[८]

विरहिणी को मृणाल की मालायें, कंकण आदि पहनाने और उसके शरीर को कमल के किसलयों से ढ़कने का कवियों ने वर्णन किया है। विरहिणी सागरिका के लिये उसकी सखी ने कमल के किसलयों की व्यवस्था की थी तथा मृणालों का हार पहनाया था।[९] कालिदास कमल-पत्रों को शीतलता प्रदान करने वाला कहते

---

१. मृच्छ० पृ० ६। २. तापस० १-१६।
३. धूर्त० पृ० ६३।
४. पद्मिनीं हिमहतामिव। स्वप्न० ५-१, शिशिरमथितां पद्मिनी वा।
—उत्तरमेघ २३।
५. कमलवसतिमात्रनिर्वृतः। —अभिज्ञान० ५-१।
६. प्रिय० पृ० २२। ७. रत्ना० पृ० ४८।
८. रत्ना० २-१३-१६। ९. अभिज्ञान० ३-२३।

हैं। कमल के पत्तों की शय्या[१] कमल के पत्तों से पंखा करना और मृणाओं के आभूषण[२] विशेष शीतलतादायक हैं। विरह से पीड़ित शकुन्तला को कमलिनी के पत्तों से पंखा किया जाता है[३]। उसके स्तनों पर कमल के पत्तों का आवरण बनाया जाता है।[४]

विलासी तथा शौकीन जनों द्वारा कमल के आभूषणों के प्रयोग करने का बहुधा उल्लेख किया गया है। वे घरों से बाहर घूमते समय कमल पुष्पों को हाथों में पकड़े रहते थे।[५] कमल के पुष्पों की मालाओं को कामिनियाँ मेखला के रूप में बाँधती थीं।[६] वे इनको वेणी में भी बाँधती थीं। नीलोत्पल तथा पुण्डरीक की मालायें बनाती थीं।[७] क्रीडा करती हुई युवतियाँ नील कमलों से एक दूसरे पर प्रहार करती थीं। कमल के मृणालों का हार वक्ष पर धारण किया जाता था।[८] कवियों ने कमलपत्तों की विशेष प्रशंसा की है। इस पर जल की बूँदे नहीं ठहरतीं तथा वे चमकती हुई स्थिर रहती हैं।[९] कमलिनी के पत्ते के दोने बना कर उनसे जल पिलाने का भी कवियों ने वर्णन किया है।[१०]

कमल की उत्पत्ति जल में होती है। यह जलमिश्रित मिट्टी में उत्पन्न होकर बढ़ता है। अत: जलाशयों में कमलों की उपस्थिति सामान्यत: रहती है। इसी कारण कमल को सरसिज और पंकज कहा गया है। जलाशयों में ये अति सुन्दर प्रतीत होते हैं। यहाँ इनके चारों ओर सिवार (शैवल) भी लिपटा हो सकता है। परन्तु इससे इनका सौन्दर्य कम न होकर और भी अधिक बढ़ जाता है।[११] नदियों में भी कमलों की उत्पत्ति हो सकती है। प्रात:काल इनके विकसित होने पर पवन भी सुगन्धित हो जाता है।[१२]

घरों की वाटिकाओं और सार्वजनिक उद्यानों में जलाशय बनवा कर उनमें

---

१. मृणालैकवलयम्। अभिज्ञान० -६, विसाभरणम्। अभिज्ञान० ३-२३।
२. अभिज्ञान० ३-२३।
३. अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः। **अभिज्ञान० पृ० २३१।**
किं शीतलः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्।
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः॥ **—अभिज्ञान० ३-१८।**
४. मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे। **—अभिज्ञान० ६-१८।**
५. हस्ते लीलाकमलम्। उत्तरमेघ २, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपंकजम्।
—नैषध० १-६५।
६. कर्पूर० ४-७।
७. मालती ३-१६।
८. कर्पूर० :-३।
९. चारु० पृ० २।
१०. कमलिनीपत्रभाजनगतमुदकम्। **—अभिज्ञान० पृ० ३६३।**
११. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्। **—अभिज्ञान० १-१९।**
१२. प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः। **—पूर्वमेघ :३।**

कमल उगाने की परम्परा बहुत प्रचलित थी। राजकीय वाटिकाओं में तो इस प्रकार के जलाशय तथा वापियाँ अनिवार्य रूप से हुआ करते थे। इनको कमल-दीर्घिका भी कहा गया है।[१] वन्य जलाशय भी कमलों से भरपूर रहते थे। हनूमन्नाटक में कमलों, कुमुदों, कुमुदिनियों तथा कह्लारों की शोभा का वर्णन कवि ने किया है।[२] भवभूति ने पम्पा सरोवर में पुण्डराकों तथा कुवलयों के विकास के सौन्दर्य का अवलोकन किया था।[३] शकुन्तला का हस्तिनापुर का मार्ग कमलिनियों से हरे भरे जलाशयों से रम्य था।[४] शरद् ऋतु में सरोवरों में कुमुद, पुण्डरीक आदि भरपूर दृष्टिगोचर होते थे।[५]

कवियों ने कमलों में मानवीय सौन्दर्य के भी दर्शन किये थे। स्वयं विष्णु भगवान् पुण्डरीकाक्ष और कुवलयनीलश्याम हैं। मानव अंगों के, विशेष रूप से कामिनियों के अंगों के सौन्दर्य का वर्णन करने में कवियों ने कमलों को प्रायः उपमान बनाया है। मुख और हाथों की उपमा सरोज से दी गई है।[६] आँखों को नील कमल के समान बताया गया है।[७] चरणों का सादृश्य तामरस (लाल कमल) में देखा गया है।[८] शरीर के गौर वर्ण की उपमा कमलों के पराग से दी गई है।[९]

कवियों ने स्थल कमल का भी वर्णन किया है। उसका पुष्प लाल रंग का होता है। सुन्दर युवतियों के भूमि पर रखे गये चरण की उपमा स्थलकमल से दी गई है।[१०] कालिदास ने पार्वती के चरणों के निक्षेप में भी स्थल कमल की शोभा की मधुर कल्पना की है।[११]

उपयोग—

कमल बहुत उपयोगी वनस्पति है। इसको अति पवित्र माना गया है। अतः

---

१. रत्ना० पृ० २८। २. हनू० पृ० ६८-७०।

३. उत्तर० १-३१।

४. रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिः। —**अभिज्ञान० ४-११।**

५. वेणी० पृ० १२। ६. तापस० १-१६।

७. चण्ड० १-१३, कर्पूर० २-४२, तापस० १-१६, कौमुदी २-१४,
यत् त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिलं मग्नं तदिन्दीवरम्।
—**रामाभ्युदय पृ० २०।**

८. आश्चर्य० ३-३८।

९. उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते। नागा० १-४।

१०. सुभद्रा० १-१४।

११. अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद् रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजहतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥
—**कुमारसम्भव १-३३।**

यह देवताओं के पूजन में प्रयुक्त होता है। शिव को यह अति प्रिय है। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि विष्णु ने एक हजार स्वर्ण कमलों से शिव का पूजन करने का संकल्प किया था। ९९९ कमलों से पूजन के उपरान्त हजारवां कमल उपलब्ध न होने पर उन्होंने अपना कमल रूप नेत्र ही अर्पित कर दिया। प्रसन्न शिव ने नेत्र को वापिस करके विष्णु को सुदर्शन चक्र प्रदान किया।

कमलों का सौन्दर्य-प्रसिद्ध है। इस हेतु से इसको वाटिकाओं के जलाशयों में उगाया जाता है। कमलपत्रों, पुष्पों तथा मृणाल से युवतियाँ शृंगार करती हैं। कमल का खाद्य के रूप में भी प्रयोग होता है। मृणाल की सब्जी बनती है और बीजों को भून कर मखाना बनाया जाता है।

कमल का चिकित्सा में भी उपयोग है। कमल की पंखुड़ियाँ शीतल और हृद्य हैं। रक्त-पित्त, ज्वर, मूत्रकृच्छ्र और अतिसार में यह उपयोगी है। नवीन पत्ते भी इसी प्रकार का गुण रखते हैं। कमल के बीज पौष्टिक, मधुर, संग्राही और गर्भस्थापक होते हैं। वे प्रदर का नाश करते हैं। वमन और हिचकी में भी लाभदायक हैं। कमल का केसर ग्राही और शीतल है। यह रक्त प्रदर, रक्तपित्त तथा रक्तार्श में उपयोगी है। कमल की नाल (मृणाल) शीतल, वृष्य, संग्राही और दुग्धवर्धक है। अतिसार के रोगी के लिये यह पथ्य है। दुर्बल तथा क्षय से ग्रस्त बच्चों के लिये कमल का प्रयोग उत्तम रहता है। कुमुद के भी ये ही गुण है।

३२: काम्पिल्ल

संस्कृत नाम—काम्पिल्ल, कर्कश, चन्द्र, रक्ताङ्ग, रोचन।[१]

हिन्दी नाम—कमीला

अंग्रेजी नाम--Monhey-bace Tree, Kamila

लैटिन नाम—Mallotus Philihhiensis Mull Arg.

कुल—Euhhorbiaceae

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव

वनस्पति का परिचय—

काम्पिल्ल हिमालय के क्षेत्रों में ५००० फीट की ऊँचाई तक होता है। गढवाल, नेपाल और कुमायूँ के तराई क्षेत्रों में इसके वृक्ष प्रचुर हैं।

काम्पिल्ल वृक्ष सदा हरित होते हैं। ये मध्यम आकार (२५–३० फीट

१. काम्पिल्लः कर्कशश्चन्द्रो रक्ताङ्गो रोचनो पि च।

—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १४७।

ऊँचे) के होते हैं। पत्ते ३-९ इंच लम्बे आगे से नोकीले होते हैं। इनका ऊपर का पृष्ठ चिकना तथा पीछे का खुरदरा रक्ताभ होता है। काम्पिल्ल पर कार्तिक से पौष तक भूरे लाल रंग की पुष्पमंजरियाँ लगती हैं। तदनन्तर गुच्छों में फल आते हैं। ग्रीष्म तक ये पक जाते हैं। कच्चे फल हरे और पकने पर लाल होकर दानेदार रोमों से आवृत हो जाते हैं। यह रक्त वर्ण का पदार्थ ही काम्पिल्ल (कमीला) के नाम से प्रयोग में आता है। फल त्रिदल होते हैं तथा अन्दर काले रंग के बीज रहते हैं। पके फलों को चलनी में आलोडित करके कमीले को पृथक् करना चाहिये।

काव्यात्मक वर्णन--

काम्पिल्ल का नाटकों में वर्णन कम ही है। केवल एक स्थान पर भवभूति ने वर्णन किया है कि काम्पिल्ल के पुष्पों का पराग पाटल वर्ण का होता है।[1]

उपयोग—

काम्पिल्ल की काष्ठ का ईंधन के रूप में प्रयोग होता है। इसका चिकित्सा में उपयोग है। कमीला विरेचक, गुल्मनाशक और कृमिघ्न है। बच्चों के उदरकृमि में इसे विशेष लाभदायक कहा गया है। यह अश्मरी को तोड़ता है। गर्भनिरोध के लिये इसको उपयोगी पाया गया है। बाह्य प्रयोग में त्वग् रोग में लाभप्रद है।

३३. करञ्ज

संस्कृत नाम—करञ्ज, नक्तमाल, करज, चिरबिल्वक।[2]

हिन्दी नाम—करञ्ज, करउनी

अंग्रेजी नाम—Indian Beech

लैटिन नाम—Pongamia hinnata Lim
(Pongamia glabra Vent.)

कुल—Hamiaceae

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

यह वृक्ष मध्य और पूर्वी हिमालय में होता है। दक्षिणी भारत में और लंका के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में यह वृक्ष प्रचुर होता है।

करञ्ज वृक्ष ऊँचे (५०–६० फीट), बहुशाखी और छायादार होते हैं। तने

---

१. मालतीमाधव।

२. करञ्जो नक्तमालश्च करजश्चिरबिल्वकः।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ११९।

की छाल चिकनी और विचित्र चिह्नों से भरी होती हैं। पत्ते बहुत चिकने, गहरे रंग के तथा स्वाद में कड़वे होते हैं। चैत्र में पतझड़ होकर ग्रीष्म में नये पत्ते तथा पुष्प आते हैं। बैंगनी रंग के पुष्प गुच्छों में आते हैं। तदनन्तर १½–२ इंच लम्बी और एक इंच लम्बी फलियाँ आती हैं। प्रत्येक फली में बड़ी मटर के समान बीज की गिरि में तेल रहता है। इसका स्वाद तीखा होता है। दिसम्बर-जनवरी में फल पक जाते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में करंज का वर्णन कम ही है। केवल 'हनूमन्नाटक' में कहा गया है कि दक्षिण वनों में करंज के वृक्ष हैं।[1]

उपयोग—

करञ्ज के दो भेद कहे गये हैं—कण्टककरञ्ज और घृतकरञ्ज। इनके गुण समान ही हैं। इसका चिकित्सा में उपयोग होता है। करञ्ज के बीज उष्ण तथा कटु-तिक्त होते हैं। ये बात-कफ नाशक, रक्तशोधक तथा व्रणरोपण हैं। बीजों का तेल कृमिघ्न, जीवाणु नाशक और व्रणरोपण है त्वचा के रोगों में इसमें समान मात्रा में नीबू का रस मिला कर लगाना चाहिये। तेल का उपयोग जलाने के लिये भी होता है।

करञ्ज को छाया और सौन्दर्य के लिये भी लगाया जाता है। इसकी लकड़ी अच्छा ईंधन है।

३४. करन्दिका

संस्कृत नाम—करन्दिका
हिन्दी नाम—करन्दी, करन्दिका
अंग्रेजी नाम—Karandica
लैटिन नाम—Cryhtolihsis buchanani Raen & Schult
कुल—Asclepiadaceal
वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

करन्दिका की पहचान करना कठिन ही है, तथापि कृष्णसारिवा के एक भेद क्रिप्टोलेप्सिस बोकानानी (Cryptolapsis buchoanani) को करन्दिका माना जा

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७० ।

सकता है। यह लता जाति की वनस्पति प्रायः सारे भारत में होती है। हिमालय के प्रदेशों, तराइयों और दक्षिण भारत में अधिक होती है। करन्दिका की लतायें समीपस्थ वृक्षों पर चढ़ जाती हैं। शाखायें सुरमई रंग की होती है। पत्ते दो-तीन इंच लम्बे, $\frac{3}{2}$-$\frac{1}{2}$ इंच चौड़े होते हैं। तोड़ने से श्वेत दूध निकलता है। शरद् ऋतु में पुष्प-मञ्जरियाँ आती हैं। इसमें १-३ इंच लम्बे पुष्प रहते हैं। पुष्प झड़ने पर फलियाँ लगती हैं। इनमें रोमगुच्छों से युक्त नालीदार चपटे बीज होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन--

कन्दलिका का वर्णन संस्कृत नाटकों में कम ही है। राजशेखर ने इसका उल्लेख किया है। यह सुन्दर पुष्पों वाला पौधा है। शरद् ऋतु में इस पर कलियाँ और पुष्प आते हैं।[1]

उपयोग—

करन्दिका को यदि कृष्ण सारिवा का भेद माना जावे तो चिकित्सा में इसका उपयोग मूत्र मार्ग को खोलने, रक्त का शोधन करने, उपदेश और सूजाक में किया जा सकता है। व्रणों पर इसके मूल का लेप करते हैं। दुःखती आँखों में इसका दूध डालते हैं।

३५. करवीर

संस्कृत नाम—श्वेत करवीर–श्वेत पुष्प, शतकुम्भ, अश्वमारक।[2]

रक्त करवीर—रक्तपुष्प, चण्डात, लगुड।[3]

हिन्दी नाम—कनेर, कनेल।

अंग्रेजी नाम—Oleander, Rovsebury shurge.

लैटिन नाम—श्वेत कनेर—Nerium in dicum Mill.

रक्त कनेर—Nerium odorvm Soland.

पीत कनेर—Theuitia nerrifolia Luss.

कुल—Ahocyanaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, तपतीसंवरण।

---

१. बालरा० पृ० २५७।

२. करवीरः श्वेतपुष्पः शतकुम्भोऽश्वमारकः। —भाव० गुडूच्यादिवर्ग ८२।

१. द्वितीयो रक्तपुष्पश्च चण्डाको लगुडस्तया।—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ८२।

वनस्पति का परिचय—

कनेर प्रायः सारे भारत में होता है। इसके श्वेत, लाल और पीला तीनों भेदों को वाटिकाओं और मन्दिरों के प्रांगड़ों में लगाया जाता है। वनों में यह प्राकृतिक रूप से भी होता है।

कनेर मध्यम आकार का छोटा सदाहरित वृक्ष है। इसमें तीन-तीन के समूह में चार छः इंच लम्बी, आधे-एक इंच चौड़ी गहरे हरे रंग की पत्तियाँ होती है। ये ऊपर से चिकनी और नीचे से खुरदारी होती हैं। इस पर घण्टी की आकृती के श्वेत, लाल या पीले पुष्प आते है। पुष्पों के रंग के भेद से कनेर के भी तीन भेद हो गये है—श्वेत, रक्त और पीत। पुष्प झड़ने के बाद फल आते हैं, श्वेत और लाल कनेर के फल ६-७ इंच लम्बे, चौड़े और कड़े होते हैं। इनमें रोमों से आवृत खाकी रंग के अनेक बीच होते हैं। पीले कनेर के फल आध-दो इंच व्यास के होते है। इनमें एक ही कड़ा बीज होता है। कनेर के पुष्प और पत्तों को तोड़ने से पीता दूध निकलता है। यह स्वाद में कड़वा होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कनेर कवियों को अति प्रिय रहा था। साहित्य में इसका प्रचुर वर्णन हुआ है। इसके पुष्प पवित्र माने जाते थे तथा देवपूजन में प्रयुक्त होते थे। कुलशेखर वर्मन् ने करवीर पुष्पों द्वारा सूर्य के पूजन का उल्लेख किया है :[1]

कोष-ग्रन्थों में करवीर का एक पर्याय कुशेशय भी है। कुशेशय कमल को भी कहते है। कालिदास ने वर्णन किया है कि शकुन्तला का मार्ग कुशेशय के पराग से कोमल को।[2] अतः उसने यहाँ कुशेशय के लिये कनेर का व्यवहार किया होगा, क्योंकि इस श्लोक के पहले चरण में वह पहले कपलिनी का वर्णन कर चुका है। कण्व के आश्रम से हस्तिनापुर जाने वाले मार्ग के दोनों ओर कनेर के वृक्ष होंगे उनके पुष्पों का पराग चारों और बिखरता रहता होगा।

पुष्पों के रंग के आधार पर कनेर के अनेक भेद किये गये थे। इनमें तीन मुख्य भेद रहे—श्वेत, रक्त और पीत। रक्त कनेर को क्रोध तथा वध का चिह्न माना गया था। जिस व्यक्ति को वध का दण्ड दिया जाता था, उसके गले में लाल कनेर के पुष्पों की मालायें डाल कर नगर में घुमाया जाता था।[3]

वाटिकाओं में, विशेष रूप से शिवमन्दिरों के साथ की वाटिकाओं में कनेर के पौधे खूब लगाये जाते थे। ये वनों में भी खूब होते थे।

---

१. तपतोसंवरण २-१२।

२. भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः।—अभिज्ञान० ४. ११।

३. मृच्छ० १०-१।

उपयोग—

कनेर को पवित्र माना जाने के कारण इसको मन्दिरों की वाटिकाओं में अवश्य लगाया जाता है, विशेषतः शिव-मन्दिरों की वाटिकाओं में। शिव का यह अति प्रिय माना जाता है। परन्तु अन्य देवताओं का भी इससे पूजन किया जाता है।

प्राचीन वैज्ञानिक साहित्य में कनेर की गणना विषों में की गई है। यह उपविष है। पीत कनेर अधिक विषैला होता है। कनेर का चिकित्सा में भी प्रयोग होता है। यह तीव्र मूत्रल तथा हृदय के लिये बल्य है। त्वचा है रोगों में यह कृमिघ्न है। सर्पदेश में कनेर की छाल को १-२ रत्ती की मात्रा में थोड़े थोड़े अन्तर से देने से वमन और अतिसार होकर विष का वेग कम हो जाता है।

३६. करु

संस्कृत नाम—त्रायमाण, करु।
हिन्दी नाम—करु।
अंग्रेजी नाम—Indian Gention.
लैटिन नाम—Gentiana hussoo Rayb.
कुल—Gentianaceae.
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

प्राचीन वनस्पतिशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों में करु नाम से किसी वनस्पति का वर्णन नहीं है। हिन्दी तथा बंगला भाषा में करु नाम से एक वनस्पति का वर्णन है। इसका लैटिन नाम जेन्शियाना—करु है। बम्बई में इसको पाषाणभेद कहते है। यह कटुकी के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार में आता है। विदेशी ओषधि जेन्शियाना का यह अच्छा विकल्प समझा जाता है।

करु के छोटे क्षुप हिमालय की ५०००-१०००० फीट की ऊँचाइयों पर होते है। इस पर नीले-श्वेत चकतों वाले पुष्प आते है। मूल हल्का पीले रंग का होता है। चिकित्सा में मूल का व्यवहार होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

करु का उल्लेख नाटकों में कम ही है। केवल 'हनूमन्नाटक' में यह वर्णन किया गया है कि यह वनस्पति दक्षिण वनों में होती है।[1] यह लता है, वृक्ष है, क्षुप है, इस सम्बन्ध में नाटककार कुछ नहीं कहता। ऊपर जिस करु का वर्णन है,

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।

वह ऊँचे हिमालय पर होता है, अतः नाटककार का उसी से अभिप्राय है, यह कहना कठिन है। करुज को हिन्दी में करउनी भी कहा जाता है। सम्भव है कि नाटककार ने करञ्ज के लिये ही करु कहा हो। उसका वर्णन पहले हो चुका है। परन्तु 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वन की वनस्पतियों में करंज के साथ में करु का भी पाठ है, अतः करु और करज को भिन्न ही होना चाहिये।

उपयोग—

करू का उपयोग चिकित्सा में है। मूल कटु तथा बल्य है। यह पाचन, दीपन तथा मूत्र रोगों में हितकर है। अधिक मात्रा में देने से विरेचन करता है। घोड़ों को मोटा करने के लिये भी इसको दिया जाता है।

३७. कर्णिकार

संस्कृत नाम—कर्णिकार, परिव्याध, पादपोत्पल।[१]

हिन्दी नाम—कर्णिकार।

अंग्रेजी नाम—Karvihar.

लैटिक नाम—Ptiroshermum a cerifoligm Willd.

कुल—Stirculiaceae.

वर्ग—पुष्पवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीयम्

वनस्पति का परिचय—

कर्णिकार की पहचान के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। 'धन्वन्तरीय निघण्टु' में इसको आरावध का एक भेद माना हैं। मराठी में इसको पांगारा कहा गया है। 'भावप्रकाश निघण्टु' में हरीतक्यादि वर्ग में पठित आरग्वध का नेक पर्याय कर्णिकार भी है। कुछ विद्वान् उलटकम्बल को, कुछ कनकचम्पा को और कुछ मुचुकुन्द को कर्णिकार कहते है। परन्तु कर्णिकार इन सबसे कुछ भिन्न ही वृक्ष प्रतीत होता है।

कर्णिकार बाह्य हिमालय के क्षेत्रों में, कर्नाटक और महाराष्ट्र में मिलते है। यह एक ऊँचा बड़ा वृक्ष है। इसकी छाल पतली और भूरी होती है। पत्ते ६-१२ इंच लम्बे ५-१० ऊँच चौड़े गालाई लिये होते है। पुष्प पीले रंग के मंजरियों के रूप में वसन्त में खिलते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कालिदास ने कर्णिकार का सुन्दर वर्णन किया है। इसके वृक्ष विशेष रूप से पर्वतीय ढलानों पर प्रचुर होते है।[२] ये वसन्त में पुष्पित होते हैं तथा इस पर विविध

---

१. कर्णिकारः परिव्याधः पादपोत्पल इत्यापि। —**भाव० पष्पु वर्ग ४०।**

२. अनुतटं पुष्पितकर्णिकारयष्टिः।—**विक्रमो० ३-१।**

रंगों के पुष्प आते हैं। इन भ्रमर मंडराते रहते है।[1] कालिदास का कथन है कि कि कर्णिकार पुष्प देखने में तो सुन्दर होता है, परन्तु इसमें सुगन्धि नहीं होती।[2] यह सुनहरे रंग का भी होता है।[3] युवत्तियाँ इसको अलकों में गूंथ कर शृंगार करती हैं।[4]

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य के कारण ही कर्णिकार कवियों को अच्छा लगा होगा। इसके पुष्प सजावट के काम आते हैं। कर्णिकार का चिकित्सा में भी उपयोग है। पुष्पों का प्रयोग वल्य ओषधि के रूप में किया जाता है। पुष्प तथा पत्तों का बारीक चूर्ण चेचक के दानों पर छिड़कते है। चोट पर लगाने से यह रक्त का अवरोध करता है।

३८. कर्पूर

संस्कृत नाम—कर्पूर, सितास्र, हिमबालुक, घनसार, चन्द्र के सभी पर्याय, हिम के सभी पर्याय।[5]

हिन्दी नाम—कपूर।

अंग्रेजी नाम—Camphor.

लैटिन नाम—१. Cinnamomum Camhhora Linn. कुल—Lauraceae

२. Dryobalanohs Camphora Coebr. **कुल**—Dihtirocarhaceal

३.Blumea balsamifira Dc **कुल**—Astiraceal

४. Ocimum bilimandschariom **कुल**—Lobialae

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नल्टकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

कर्पूर विविध स्रोतों से प्राप्त किया जाता है। भारतवर्ष में यह कम ही

---

१. निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।—**विक्रमो० २-२२।**

२. बर्णप्रकर्षे सति कर्णिकार दुनोति निर्गन्धतया स्म चेत।

—कुमारसम्भव ३-२८।

३. हेमद्युति कर्णिकारम्।—**कुमारसम्भव ३-५३।**

४. कुमारसम्भव ३-६२।

५. पुंसि क्लीवे च कर्पूरः सिताभ्रो हिमबमलुकः।
घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामाऽपि स स्मृतः।—**भाव कर्पूर० १।**

होता है। अधिकांश रूप में इसका आयात किया जाता है। इसको प्राप्त करने के निम्न स्रोत है—

१. कर्पूर वृक्ष, जिनमें ड्रायोपेलेनोप्स कैम्फोरा प्रधान है, दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूहों में प्रचुर होते है। पुराने वृक्षों पर चीरा लगाने से रस निकल कर जम जाता है। यह खुला रखने से अधिक नही उड़ता। भारी होने से जल में डूब जाता है। इसको भीमसेनी कपूर भी कहते हैं। भारत में इसके पौधे लगाने के प्रयत्न हो रहे हैं।

२. कपूर के दूसरे वृक्ष सिनोमोमम कैम्फोरा चीन, जापान, फार्मोसा में अधिक होते है। इसकी लकड़ी के ऊर्ध्वपातन (distllotion) से कपूर प्राप्त किया जाता है। इसके रंगहीन या श्वेत पारदशन क्रिष्टल होते है। यह वृक्ष भारतवर्ष में देहरादून, कलकता, मैसूर और नीलगिरी पर लगाये गये है।

३. भारतवर्ष में तुलसी की अनेक णनस्पतियाँ ब्लूमेरा बालसेनीफेरा, ओसियम किलिमैन्डशेरीकम आदि पाई जाती है। इनके ऊर्ध्वपालन से कपूर प्राप्त होता है। परन्तु इसका दोहन कम ही किया गया है। इस पर अधिक प्रयास होना आवश्यक है।

४. कर्पूर को कृत्रिम विधियों द्वारा भी प्राप्त किया गया है (सिन्थेटिक केम्फर)। यह अधिक सस्ता होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

राजशेखर के वर्णनों के अनुसार कर्पूर वृक्ष की शाखाओं को गोद देने से रस बहता है। इससे सूखा लेते हैं।[१] कपूर वृक्षों के पुष्पों का पराग भी कपूर कहलाता है। यह अति शीतल होता हैं। अतः इसको चन्द्र या घनसार भी कहते हैं।[२] अति शुभ्र होने से इसको सिताभ्र और हिमबालुका कहा गया है।

श्वेत रंग के चुर्ण या दानों के रूप में कपूर उपलब्ध होता है।[३] इसकी गणना अति शुभ्र पदार्थों में की गई हैं। वसन्त ऋतु मे कपूर के पराग के स्पर्श से वायु सुगन्धित हो जाती है।[४] इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि कपूर के पुष्प वसन्त में विकसित होते हैं।

कपूर को शीतल द्रव्य माना गया था। सन्ताप होने पर शीतलता पहुँचाने के लिये कपूर का लेप किया जाता था।[५] कपूर को पान में डाल कर भी खाया जाता था।[६]

---

१. बालरा० ८-६३। २. विद्ध० पृ० १०४।
३. बालरा० पृ० १८१। ४. कर्पूर० १-१७।
५. कर्पूर० ३-२८। ६. दीयते सकर्पूरं ताम्बूतम्।
—मृच्छ० पृ० १७।

कपूर की अति स्वच्छता के कारण कवियों ने इसको गौर वर्ण का उपमान बनाया है। अति गौर शरीर को कर्पूरगौर कहा जाता है। शिव कर्पूर गौर थे।[1] राजशेखर ने स्वच्छ दृष्टि की उपमा कर्पूर से दी है।[2] लाट देश की युवतियों के वर्ण को कर्पूर के समान गौर कहा गया हैं।[3]

उपयोग—

कर्पूर का उपयोग अनेक उद्योगों में होता है। शेलूलायड आदि पदार्थ बनाने में यह प्रयोग में आता हैं।

चिकित्सा में कर्पूर का प्रचुर प्रयोग हैं। यह शीतल, तिक्त-कटु और तीक्ष्ण है। हृदय को यह बल देकर उत्तेजित करता है। कपूर में मेन्थोल राल पिपरमेन्ट और थाइमोल) सत अजवायन मिलाने से तीनों का द्रव बन जाता है। इसका उपयोग अनेक रोगों में होता है।

३६. कर्मरंग

संस्कृत नाम—कर्मरंग, शिराल, कारुक, शुकप्रिय।[4]

हिन्दी नाम—कमरख।

अंग्रेजी नाम—Carambola.

लैटिन नाम—Abcrhoa carambola Linn.

कुल—Oxalidacese.

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

कर्मरंग के वृक्ष मध्यम आकार के (२०-३० फीट) फैले हुये छायादार होते हैं और प्रायः सारे भारत में पाये जाते हैं। गरम प्रदेशों में अधिक होते हैं। पत्ते अण्डाकार छोटे, नोकीले, फूल छोटे कुछ लालिमा लिये श्वेत होते हैं। फल २-३ इंच लम्बे पांच कोने वाले गूदेदार और सुन्धित होते हैं। कच्चे फल हरे होते हैं और पकने पर पीले पड़ जाते हैं। कच्चा होने पर यह कसैला होता है, परन्तु पकने पर कुछ मीठापन लिये खट्टा होता है। कर्मरंग पर वर्षा के अन्त में पुष्प आकर सर्दियों में फल आ जाते हैं।

---

१. कर्पूरगौरं करुणावतारम्।—शिवस्तोत्र।

२. कर्पूर० १-२६। ३. विद्ध० पृ० १०४।

४. कर्मरङ्ग शिरालं च कारुकं च शुकप्रियम्।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १४०।

काव्यात्मक वर्णन —

कर्मरंग का उल्लेख संस्कृत नाटकों में कम ही है। केवल 'हनुमन्नाटक में एक स्थान पर वर्णन है कि दक्षिण वनों में कर्मरंग प्रचुर होते है।[१]

उपयोग—

कर्मरंग के फल का उपयोग किया जाता है। खट्टा और गूदेदार होने से चटनी, अचार, शरबत और सब्जी बनाने में इसका उपयोग होता है। इसको फल के रूप में भी खाया जाता है। इसमें विटामिन ए और सी प्रचुर होते हैं। लोहे की जंग के दाग को छुड़ाने में यह उपयोगी है।

कमरख का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह स्कर्वीरोधक है। फल को शीतल, रोचक और रक्तशोधक माना गया है। इसका शरबत तृष्णा को शान्त करता है।

४०. कलम

संस्कृत नाम—कलम।
हिन्दी नाम—कलम (चावल का भेद विशेष)।
अंग्रेजी नाम—A hind of rice.
लैटिन नाम—Oryza Satvp Linn.
कुल—Gramineae.
वर्ग—धान्यवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, कौमुदीमहोत्सव, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

कलम एक विशेष प्रकार का धान्य है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में कलम को शालि का एक विशेष भेद कहा गया है।[२] आप्टे महोदय का कथन है कि कलम विशेष प्रकार का चावल है। यह मई-जून में बोया जाता है और दिसम्बर-जनवरी में पक जाता है।[३]

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में कलम की गणना उत्तम कोटि के चावलों में की गई है। इसका बना भात अति श्वेत होता है। इसको श्वेत द्रव्यों का उपमान भी बनाया गया है। कलम धान्य के पक जाने पर इसकी मंजरियाँ पिंगल हो जाती हैं। कलम

---

१. हनू० पृ० ८।७०।
२. रक्तशालि सकलमः पान्डुकः शकुलाहुतः।—**भाव धान्यवर्ग ४**।
३ कलमाग्रपिङ्गलाः। **कुमारसम्भव ५-४७**।

की मंजरियों को कृषक बालायें आभूषणों के समान कानों में पहन लेती थीं ।[1] 'मृच्छकटिक' में कलम धान्य के खेतों को उत्तम कोटि की वस्तुओं का उपमान बनाया गया है ।[2]

उपयोग—

कलम के उत्तम कोटि का धान होने से यह भोजन में विशेष उपयोगी था। इसकी मंजरी को कृषक बालायें आभूषण रूप में कानों में धारण कर सकती हैं।

४१. कलमकूर

संस्कृत नाम—कलमकूर, स्थलपद्म, स्थलकमल ।
हिन्दी नाम—रतनपुरुष ।
अंग्रेजी नाम—Land Latus
लैटिन नाम—Gonidium Suffruti cosum Ging. **कुल**—Violaceae
वर्ग—पुष्पवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

कमलकूर का वनस्पति की यथार्थ पहचान करना कठिन है । तथापि इसकी पहचान स्थलकमल से की जा सकती है, जो विशेष रूप से वसन्त ऋतु में विकसित होता है। कलमकूर (स्थलकमल) के पौधे व्रजभूमि, बुन्देलखण्ड, दक्षिण और पश्चिम भारत में अधिकांशतः पाये जाते हैं। इसके छोटे क्षुप अनेक वर्ष की आयु के हो जाते हैं। पत्ते लम्बे तथा घने नोकदार होते हैं। पुष्प एकाकी गुलाबी रंग के पाँच पंखुड़ियों वाले होते हैं। मध्य में लम्बे केसर होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

नाटकों में कलमकूर का अधिक वर्णन नहीं है। केवल राजशेखर ने इसका उल्लेख किया है। कलमकूर के सुन्दर पुष्प होते हैं और यह वसन्त ऋतु में विकसित होता है ।[3]

उपयोग—

आयुर्वेद ग्रन्थों में कलमकूर (स्थलकमल) को चिकित्सा में उपयोगी कहा गया है। यह शीतल और स्नेहन है। मूत्रल भी है। इसका पञ्चाङ्ग मधुमेह में उपयोगी है।

---

१. कृषीवलविशोरिका·········धते कलममञ्जरीम् । —**कौमुदी० १-३ ।**
२. कलमकेदारो इव । मृच्छ० पृ० ६० ।
३. कर्पूर० १-१९ ।

४२. कलाय

संस्कृत नाम—कलाय, वर्तुल, सतीनक, हरेणुक ।[१]

हिन्दी नाम—मटर

अंग्रेजी नाम—Gardeu pea, Field pea

लैटिन नाम—Pisum Satierum Linn. **कुल**—Fabaceae

वर्ग—धान्य वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिमानाटक

वनस्पति का परिचय—

कलाय (मटर) प्रायः सारे भारत में होती है। यह एकवर्षायु बेल के रूप में होती है। अक्टूबर-नवम्बर के महीने में इसको बोया जाता है तथा दिसम्बर-जनवरी में शाक के योग्य फलियाँ हो जाती है। अप्रैल में मटर के दाने पूरे परिपक्व हो जाते हैं। मटर की फली लम्बी, पतली तथा आगे से मुड़ी नोकदार होती है। इसमें अनेक बीज होते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में मटर ग्रीष्म में भी आती है। कई विद्वान् कलाय को विशेष प्रकार की दाल कहते हैं। और भाक्षा में खसारी दाल कहा जाता है। यह भारत के पूर्वी प्रान्तों—पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में अधिक होती है। इसके खाने से कलायखंजता (विशेष प्रकार का लकवा) रोग उत्पन्न होता है। खसारी दाल को लैटिन में लैथीरस ओडोरेटस (Lathyrus odoratus) कहते हैं। इसका कुल लेगूमिनोसी (Lguminosae) है।

कावयात्मक वर्णन—

कलाय का संस्कृत रूपकों में अधिक वर्णन नहीं है, केवल भास ने इसका एक एक स्थल पर उल्लेख किया है कि शाकों में यह उत्तम है। इसको श्राद्ध के अवसर पर वितरित किया जा रहा है।[२]

उपयोग—

कलाय (मटर) का शाक के रूप में उपयोग तो है ही, यह दाल के रूप में भी प्रयुक्त होता है। इसमें प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त है। कहा जाता है कि मटर को अधिक खाने से हार्मोन निष्क्रिय होकर पौरुषहीनता और वन्ध्यत्व होते हैं।

---

१. कलायो वर्तुलः प्रोक्तः सतीनश्च हरेणुकः। —भाव० धान्यवर्ग ५०।

२. कलायं शाकेषु। प्रतिमा० पृ० १३५–१३६।

४३. कशेरुक

संस्कृत नाम—कशेरुक, कसेरुक, कसेरु

हिन्दी नाम—कसेरू

अंग्रेजी नाम—Water chestnut

लैटिन नाम—Scirhus hysoor Roxb. **कुल**—Cyheraceae

वर्ग—शाकवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

चण्डकौशिक

वनस्पति का परिचय—

कसेरु तालाबों के किनारे तथा कुछ कम गहरे भागों मे होते हैं। इसके लिये कुछ गरम जलवायु का होना आवश्यक है।

कसेरु के पौधे का काण्ड तीन पहल का ४-६ फीट ऊँचा होता है। पत्ते काण्ड के साथ ही लम्बे, किन्तु केवल एक इंच चौड़े होते हैं। इस पर तीन फीट लम्बी पुष्पमंजरी आती है। तदनन्तर काले-धूसर रंग के छोटे फल आते हैं। कसेरु का कन्द उपयोगी है। यह लगभग $\frac{3}{4}$–१ इंच व्यास का गोल होता है। बाहर काला छिलका और उस पर काले बाल होते हैं। अन्दर श्वेत गूदा होता है। इसका स्वाद कुछ मधुर होता है और इसमें विशेष सुगन्धित होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

कसेरु का नाटकों में विशेष वर्णन नहीं है। 'चण्डकोशिक' नाटक में उल्लेख है कि वनों में जलाशयों के किनारे कसेरु होते हैं। ये सूअरों को पसन्द हैं और वे इसको खोद कर खाते रहते हैं।[1]

उपयोग—

कसेरु का उत्तम खाद्य के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। यह विशिष्ट सुगन्धित से युक्त मधुर होता है। छिलका हटा कर अन्दर के श्वेत भाग को खाया जा सकता है। इसमें कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन प्रचुर होते हैं।

कसेरु का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह शीतल, ग्राही, शुक्रवर्धक, और दुग्धवर्धक है। गर्भपात की सम्भावना होने पर कसेरु उपयोगी होता है। प्रसूता को देने से दूध को बढाता है। अतिसार और हैजे में गुलाब के जल में पीस कर पिलाने से प्यास शान्त होती है, दस्त और वमन कम होता है और हृदय को बल मिलता है।

---

१. चण्ड० पृ० ३७।

४४ काञ्चनार

संस्कृत नाम—काञ्चनार, काञ्चनक, गण्डारि, शोणपुष्पक, कोविदार, मरिक, कुछाल, युग्मपत्रक, कुण्डली, ताम्रपुष्प, अश्मन्तक, स्वल्पकेशरी।[1]

हिन्दी नाम—कचनार, कचनाल

अंग्रेजी नाम—Mountain Ebony

लैटिन नाम—१. श्वेत कचनार—Bauhimia variegata Linn.

२. लाल कचनार—Bauhimia hurhurea Linn.

३. पीत कचनार—Bauhimia tomertaoa Linn.

कुल—Ceasalhiniaceae

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों का उल्लेख—

उत्तररामचरित, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

काञ्चनार वन्य वृक्ष है। ये वृक्ष हिमालय के निचले क्षेत्रों में काश्मीर से आसाम तक पाये जाते हैं।

काञ्चार वृक्ष मध्यम आकार के २०-३० फीट तक के होते हैं। वनों में ये स्वतः ही उगते हैं, तथापि सौन्दर्य के लिये इनको लगाया भी जाता है। कचनार की छाल बाहर से धूसर और अन्दर से श्वेत होती है। लकड़ी बादामी रंग की होती है। पत्ते ३-६ इंच लम्बे चौड़े तथा युग्मों में होते हैं। दो पत्ते काफी दूर तक जुड़े रहते हैं, अतः इसको युग्मपत्रक कहा गया है। वसन्त में पतझड़ होता है। तदनन्तर ५-६ के गुच्छों में श्वेत-लाल रंग के या पीले और सुगन्धित पुष्प आते हैं। पुष्प झड़ने पर फली लगती है। यह ६-१० इंच लम्बी और एक इंच चौड़ी तथा चपटी होती है। इसमें १०–१५ बीज होते हैं।

पुष्पों के रंग के आधार पर कचनार के तीन भेद किये गये हैं—श्वेत, लाल पीला। वनस्पतिशास्त्रियों ने इस आधार पर कचनार के तीन भेद कर दिये हैं। लाल कचनार को संस्कृत में कोविदार भी कहा गया है। संस्कृत रूपकों में इसका काफी वर्णन है। इसकी ध्वजा इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का चिह्न थी। पीला कचनार लंका में अधिक होता है।

---

१. काञ्चनारः काञ्चनको गण्डारिः शोणपुष्पकः।
कोविदारश्च मरिकः कुछालो युग्मपत्रकः।
कुण्डली ताम्रपुष्पश्चाश्मन्तकः स्वल्पकेशरी।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १०१–१०२।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन साहित्य में काञ्चनार (कोविदार) की गणना पवित्र वृक्षों में की गई है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार कोविदार स्वर्गीय वृक्ष है।[1] इसकी शाखायें नाजुक होती हैं। कचनार वसन्त ऋतु में पुष्पित होता है। पुष्प झड़ने पर फलियां आती हैं, जो पकने पर लाल हो जाती हैं।[2] इसके अन्दर दाने होते हैं। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के रथ की ध्वजा पर इस वृक्ष के चिह्नत होने से उनके रथ को कोविदार-केतु कहा गया था।[3] 'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण वनों में कोविदार के वृक्ष प्रचुर थे।[4]

उपयोग—

काञ्चनार को पवित्र माना जाने से इसका धार्मिक महत्व था। पत्तों के बड़ा होने से इनका उपयोग पतलों और दोनों के वनाने में किया जाता है। कचनार की फली विशेष उपयोगी है। कच्ची फली का शाक बनता है। वन्य जन्तु इन फलियों को शौक से खाते हैं। कचनार के पुष्पों का गुलकन्द भी बनता है।

कचनार का चिकित्सा में भी उपयोग है। अश्मरी, गलगण्ड और गण्डमाला में यह विशेष उपयोगी है। अतः इसका नाम अश्मन्तक और गण्डारि प्रसिद्ध हुआ। गलगण्ड और गण्डमाला में इसकी छाल और फली को गुग्गुलु के साथ देते हैं। कचनार की छाल का उपयोग व्रणप्रक्षालन और व्रणविरोपण के लिये किया जाता है।

४५. कारवेल्ली

संस्कृत नाम—कारवेल्ल, कठिल्ल, कारवेल्ली।[5]
हिन्दी नाम—करेला
अंग्रेजी नाम—Bitter Gourd
लैटिन नाम—Momordica charantia Linn.
कुल—Cueubitaceae
वर्ग—शाकवर्ग

---

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ५-३-१०६ पर मगुाभाष्य।
२. बालरा० पृ० ६२६।
३. उत्तर० ५-१, कालिदास का भारत—प्रथम भाग पृ० ७३।
४. हनू० पृ० ६८-७०।
५. कावेल्लं कडिल्लं स्यात् कारवेल्ली ततो लघुः।
—भाव० शाकवर्ग ६३।

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

करेला प्रायः सारे भारत में मिलता है। इसको वाटिकाओं और खेतों में सब्जी के निमित्त उगाते हैं और वर्षा से पहले बोते हैं। वनों में इसकी लतायें मिलती हैं।

करेले की लता मृदु और रोमश होती है। वृक्षों का आश्रय लेकर यह ऊपर को बढती है। खेतों में बांस या अन्य डण्डे लगा कर इसको बढ़ाया जाता है। करेले के पत्ते १-५ इंच के घेरे में कटे किनारों में ५-७ भागों में बटे रहते हैं। इस पर वर्षा ऋतु में चमकीले पुष्प आते हैं और पुष्पों के झड़ने पर फल लगते हैं। फल लगते हैं। फल लम्बे, बीच में मोटे और किनारों पर पतले होते हैं। फलों का ऊपर का पृष्ठ ऊबड़खाबड़ होता है। कच्चे फल हरे तथा पकने पर पीले होते हैं। फलों के अन्दर प्रभूत संख्या में बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में करेले का अधिक वर्णन नहीं है। नाटककारों ने करेले को कड़वा कहा है। नीम का आश्रय लेने से यह और भी कड़वा हो जाता है।[1]

उपयोग—

करेले का फल शाक के लिये अच्छा माना गया है। करेले के नाम से इसके फल को ग्रहण किया जाता है। चिकित्सा में भी इसका उपयोग है। यह उष्ण, वामक और विरेचक है। यह मूत्रल भी है। अल्प मात्रा में देने से इससे भूख बढ़ती है तथा शौच स्वच्छ होता है। यह अधिक मात्रा में देने वमन और विरेचन करता है।

४६. कार्पास

संस्कृत नाम—कार्पासी, तुण्डकेशी, समुद्रान्ता।[2]

हिन्दी नाम—कपास, रुई

अंग्रेजी नाम—Cotton plant.

लैटिन नाम—Gassyhium herbaceum Linn. **कुल**—Maluaceal

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

तापसवत्सराज, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

कपास का पौधा बहुत प्रसिद्ध है। इसका उपयोग वस्त्र बनाने के लिये अति

१. विद्ध० पृ० १४६, पाद० श्लोक ११६।

२. कार्पासी तुण्डकेशी च समुद्रान्ता च कथ्यते।—भाव० गुडूच्यादि वर्ग ११६।

प्राचीन काल से होता आया है। मिश्र, अमेरिका आदि अनेक देश कपास के लिये प्रसिद्ध हैं। भारतवर्ष में पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और गुजरात में इसकी खेती अधिक होती है। अन्य स्थानों पर भी यह न्यूनाधिक होती है।

कपास गुल्म जाति की वनस्पति है। इसको वर्षा से पहले बोया जाता है और शरद् में इससे रुई प्राप्त होने लगती है। कपास का क्षुप ४-५ फीट ऊँचा होता है। पत्ते कटे हुये हाथ के पंजे के समान होते हैं। घंटे की आकृति के पीले रंग के पुष्प होते हैं। इनका मध्य भाग बैंगनी होता है। फल या डोरी गोलाकार होती है, जिसमें रुई से लिपटे चार-पाँच काले रंग के बीज मटर के बराबर होते हैं। इनके अन्दर श्वेत मज्जा होती है। कपास की मूल एक फीट तक लम्बी बाहर से पीली और अन्दर से लाल होती है। स्वाद तीखा कसैला होता है। वन्य कपास भी होती है। कपास के पौधे बहुवर्षायु जाति के भी होते हैं, परन्तु अधिकांश में खेती की जाने वाली कपास के पौधे एकवर्षायु होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कपास से वस्त्रों की रचना अति प्राचीन काल से होती रही है। सिन्धु घाटी सभ्यता में भी इसके प्रमाण मिले हैं। साहित्य में कपास के वस्त्रों के प्रयोग का उल्लेख बहुधा है। वस्त्रों की रचना का उपादान होने से ही इसको कार्पास कहा गया था (क्रियते पाम वस्त्रमनेन इति कार्पासम्)। अनङ्गहर्ष[1] और राजशेखर[2] ने कपास से बने वस्त्रों का उल्लेख किया है।

उपयोग—

कपास (रुई) का उपयोग मुख्य रूप से वस्त्रों के उपादान के रूप में होता है। शीत का निवारण करने के लिये वस्त्रों के अन्दर रुई को भरा जाता है। रुई का उपयोग शल्यक्रिया में भी होता है।

कपास के पौधे के अन्य अंग भी उपयोगी हैं। कपास के बीज बिनौला कहलाते हैं। इनमें प्रचुर तेल होता है, जो खाद्य के रूप में प्रयुक्त होता है। बिनौला पालतू पशुओं के लिये पौष्टिक खाद्य है। बिनौले की गिरी उष्ण, मधुर और पौष्टिक है। प्रसूता स्त्रियों को इसकी खीर खिलाने से उनके स्तनों में दूध बढता है।

कपास के मूल का चिकित्सा में उपयोग है। इसकी छाल आर्तवजनक और गर्भस्रावक है। प्रसव होने पर गर्भाशय के शोधन के लिये मूलत्वक् का क्वाथ दिया जा सकता है।

---

१. नग्नक्षपणकः कार्पासवाटिकां रक्षन् पृच्छति। —तापस० पृ० १२।
२. बालरा० पृ० ४६५।

४७ काश्मरी

संस्कृत नाम—गम्भारी, भद्रपर्णी, श्रीपर्णी, मधुपणिका, काश्मीरी, काश्मरी, हीरा, काश्मर्य, पीतरोहिणी, कृष्णवृन्ता, मधुरसा, महाकुसुमिका।[१]

हिन्दी नाम—गम्भारी

अंग्रेजी नाम—Gambhari

लैटिन नाम—Gmelina arborea Linn. **लकु**—Verbanaceae

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

काश्मरी वृक्ष भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में होते हैं। दक्षिण भारत, मध्य-भारत, पश्चिमोत्तर भारत, चटगांव, पूर्वी बिहार और बंगाल में ये वृक्ष पाये जाते हैं।

काश्मरी के विशाल ऊँचे वृक्ष (४०-६० फीट) होते हैं। शाखाओं की छाल श्वेत तथा रोयेंदार होती हैं। पत्तियाँ आमने-सामने ४-६ इंच लम्बी, २-४ इंच चौड़ी पान के आकार की होती हैं। वसन्त में ३-८ इंच लम्बी मंजरियों के रूप में रक्ताभ या पीले रंग के पुष्य आते हैं। पुष्य डेढ से दो इंज लम्बा होता है। पुष्प झड़ने पर फल आते हैं, जो ग्रीष्म में पकते हैं। बहेड़े के समान एक इंच कुछ लम्बे फलों पर कठोर छिलका और अन्दर मधुर-कसैला गूदा होता है और उसके अन्दर एक या दो बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

काश्मरी के पुष्पों का सौन्दर्य कवियों को अच्छा लगा था। पुष्पों की चमक के कारण ही इसको काश्मरी कहा गया (काशृ दीप्तौ)। इस वृक्ष में जलीय अंश के अधिक होने के कारण गम्भारी नाम हुआ (गं जलं बिभर्ति)। इस 'मालतीमाधव'[२] और 'हनूमन्नाटक'[३] में इस वनस्पति का वर्णन दक्षिण वनों में किया गया है।

उपयोग—

चिकित्सा की दृष्टि से काश्मरी की अधिक उपयोगिता हैं। इसकी गणना

---

१. गम्भारी भद्रपर्णी च श्रीपर्णी मधुर्पणिका।
काश्मीरी काश्मरी हीरा काश्मर्यः पीतरोहिणी।
कृष्णवृन्ता मधुरसा महाकुसुमिकापि च।
—भाव० गुडच्यादिवर्ग १४-१५।

२. मालती० ९.७। ३. हनू० पृ० ६८-७०।

बृहत्पञ्चमूल और दशमूल में की गई है। गम्भारी को तृषाशामक, दीपक, अनुलोमन और रक्तपित्तशामक माना गया है। यह मूत्रल है। कोमल पत्तों के रस को दूध के देने से सूजाक में लाभ होता है। यह हृदय के लिये बल्य है। बाह्य उपयोग में छाल का क्वाथ शोथहर और कृमिनाशक है।

काश्मरी का फल भोजन के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। यह स्निग्ध और बलवर्धक है।

४८. कास (काश)

संस्कृत नाम—कास, कासेक्षु, इक्षुरस, इक्ष्वालिका इक्षुगन्धा, पोटगल।[1]
हिन्दी नाम—कांसीघास, कांस
अंग्रेजी नाम—Tatch Grass, wild sugar cane
लैटिन नाम—Saccharum Shontaneum Linn.
कुल—Gramineae
वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

स्वप्नवासवदत्तम्, पञ्चरात्र, प्रतिमानाटक, पादताड़ितक, वेणीसंहार, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

कास लगभग सारे भारतवर्ष में होता है। गरम प्रदेशों में अधिक होने पर भी हिमालय पर ६००० फीट तक मिल जाता है। नदियों और जलाशयों के आर्द्र तटों पर यह स्वतः ही बहुतायत से उग आता है।

कास तृणजातीय पौधा है। सामान्यतः ५-८ फीट ऊँचा होने पर भी कभी-कभी इससे भी अधिक ऊँचा हो जाता है। काण्ड ठोस, कोमल और बांस के समान गांठदार होता है। ऊपर के हिस्से में चारों और पत्तियाँ लिपटी रहती हैं। काण्ड पर शाखायें नहीं होती। काण्ड के ऊपर का छिलका कुछ कठोर श्वेत तथा अन्दर श्वेत कोमल गूदा रहता है। शरद् ऋतु में इस पर आधे से दो फीट लम्बा पुष्पदण्ड विकसित होता है। इस पर मंजरीनुमा छोटे-छोटे श्वेत रंग के पुष्प होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कास पर शरद् ऋतु में पुष्प आने प्रारम्भ हो जाते हैं[2] और हेमन्त में इसकी

---

१. कासः कासेक्षुरुद्दिष्टः स स्यादिक्षुरसस्तथा।
इक्ष्वालिवेक्षु गन्धा च तथा पोटगलः स्मृतः।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १६१।

२. वेणीसंहार पृ० १२।

शोभा अनुपम होती है।[१] कवियों ने कल्पना की है कि नदियों के सैकत प्रदेश पर विचरण करती हुई हंसी ऐसी प्रतीत होती है, मानों उसने कास के वस्त्र पहन रखे हों।[२]

कास के पुष्प श्वेत होते हैं।[३] कवियों ने श्वेत वर्ण के सौन्दर्य को अभिव्यंजित करने के लिये कास पुष्पों को उपमान बनाया है। वृद्ध जनों के श्वेत केशों की उपमा कास के पुष्पों से दी गई है।[४]

कास कुसुमों में सुगन्धि भी होती है। पुष्प खिलने पर चारों ओर इतन सुगन्धि और शोभा विसरित हो जाती है कि मानों दिशायें ही विकसित हो गई हों।[५] कवियों को कास कुसुमों का पराग भी बहुत प्रिय रहा था। इस पराग के आँखों में गिर जाने पर आंसू बहने लगते हैं।[६]

उपयोग—

कास उपयोगी पदार्थ है। काण्ड का प्रयोग झोंपड़ी आदि बनाने में किया जाता है। चिकित्सा में इसकी जड़ उपयोगी है। वह वात और पित का शमन करती है, मूत्रल है और अश्मरीभेदक है। यह दुग्ध को भी बढ़ाती है। कास की गणना पञ्चतृणमूल में की गई है।

४९: कुङ्कुम (केसर)

संस्कृत नाम—कुङ्कुम, घुसृण, रक्त, काश्मीर, पीतक, वर, सङ्कोच, पिशुन, धीर, बाहुलीक, शोणित (खून के सभी पर्याय)।[७]

हिन्दी नाम—केसर

अंग्रेजी नाम—Saffron

---

१. बालरा० ५-३५।

२. चरति पुलिनेषु हंसी कासांशुकवासिनी। —प्रतिभा० १-२।

३. पाद० पृ० १६६, वेणी० पृ० १२।

४. पाद० पृ० १६६।

५. प्रनुसुमितकाशा इव दिशः। —पञ्चरात्र १-३।

६. काशकुसुमरेणुना पतितेन सोदका मे दृष्टिः। स्वप्न० पृ० १३२,
काशकुसुमरेणुना अक्षिपतितेन साश्रुपातम्। स्वप्न० पृ० १५३,
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम। — स्वप्न० ४-७।

७. कुङ्कुमं घुसृणं रक्तं काश्मीरं पीतकं वरम्।
सङ्कोचं पिशुनं धीरं बाहुलीकं शोणिताभिधम्॥
—भाव० कर्पूरादिवर्ग ७२।

कुङ्कुम (केसर)

लैटिन नाम—Gocus sativus Linn.
कुल—Iridaceal
वर्ग—कर्पूरादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख--

मृच्छकटिक, रत्नावली, अनर्घराघव, बालभारत, कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय--

विश्व में अनेक स्थानों पर केसर मिलती है। यूरोप में स्पेन, फ्रांस और इटली में इसको बोया जाता है। ईरान और चीन में भी यह स्वल्प मात्रा में होता है। भारतवर्ष में इसकी खेती जम्मू-काश्मीर में होती है। जम्मू में किश्तवाड़ और काश्मीर में पामपुर में केसर के प्रसिद्ध खेत हैं।

केसर के क्षुप अनेक वर्षों तक जीवित रहते हैं। जड़ कन्द के रूप में होती है और उसमें से घास के समान लम्बी पत्तियाँ निकलती हैं। ये पीछे को मुड़ी रहती हैं। एक बार बोया जाकर प्रतिवर्ष उसी कन्द से पत्तियाँ और पुष्प निकलते रहते हैं। यह क्रम अनेक वर्षों (प्रायः १०–१२) तक बना रहता है। शरद्-ऋतु में बैंजनी रंग के पुष्प गुच्छों में आते हैं। पुष्पों में दो प्रकार के केसर होते हैं—पुंकेसर और स्त्रीकेसर। स्त्रीकेसर के ऊपर सूत्राकार छत्र (योनिछत्र) रहता है। स्त्रीकेसर ही व्यावसायिक और व्यावहारिक केसर है। पुष्प के अनन्तर फल आता है। प्रत्येक फल में तीन कोष्ठ होते हैं, जिनमें अनेक बीज भरे होते हैं। प्राचीन वनस्पतिज्ञों ने काश्मीर के केसर को सर्वोत्तम माना है।

काव्यात्मक वर्णन—

केसर का उपयोग भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से होता है। यह अति पवित्र माना गया था। देवपूजन में इसका प्रयोग होता है। कामदेव के पूजन में केसर के थप्पे अशोक वृक्ष पर लगाये जाते थे।[१]

केसर का वर्ण लाल-पीला (पिंगल) चमकदार होता है।[२] इसमें मधुर सुगन्धि भी होती है। कवियों ने कुङ्कुम के वर्ण की उपमा प्रातःकालीन और सायंकालीन सन्ध्या से दी है।[३] इसका रंग अग्नि की ज्वाला के समान होने से इसको अग्निशिख भी कहा गया।[४]

प्राचीन समय में सामान्य व्यवहार में कुङ्कुम का काफी प्रयोग होता था। इसको भिगो कर पत्थरों पर फैला कर सुखाते थे। इससे वे प्रस्तरफलक भी सुगन्धित

---

१. भाव० कर्पूरादिवर्ग ७५।
२. रत्ना० पृ० ३२।   ३. बालभा० १-५०।
४. अनर्घ० पृ० १०५।

हो जाते थे ।[1] कवियों ने वर्णन किया है कि वसन्त-ऋतु में वसन्तोत्सव में केसर-चूर्ण को एक-दूसरे पर फैंका जाता था ।[2] प्रसाधन के रूप में भी इसका उपयोग था । मुख को गोरा करने के लिये इसका लेप करते थे । विशेष रूप वसन्त में युवतियाँ इसको लगाती थीं ।[3]

उपयोग—

केसर अति उपयोगी और मँहगा पदार्थ है, अतः बाजार में मिलने वाले केसर में प्रायः मिलावट की जाती है । इसमें केसर के पुष्प के अन्य भागों—पराग-कोष आदि का मिश्रण किया जाता है । अन्य पुष्पों—गैंदा, कुसुम्भ आदि के कुंकुमों को भी मिलाया जा सकता है । अत: केसर को लेते समय इसकी शुद्धता की परीक्षा आवश्यक है ।

केसर का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता है । भगवान् का इससे पूजन करते हैं और माथे इसका टीका लगाते हैं । प्रसाधन के लिये केसर को पीसकर विविध अंगों में विलेपन करते हैं । भोज्य पदार्थों को पीला और सुगन्धित करने के लिये केसर पीसकर डाली जाती है ।

चिकित्सा में केसर का विशेष उपयोग है । यह उष्ण और कटु है । वात और पित्त को शान्त करता है । केसर का उपयोग अतिसार, शूल, मूत्र का कष्ट से आना, आर्तव के विकार, कास, श्वास; यकृत के विकार, नाड़ीशूल और शिरोरोगों में किया जाता है । यह वाजीकरण भी है और इसको पान के साथ खाना चाहिये । यह शरीर की सभी क्रियाओं को सम करता है । केसर और शर्करा को घी में भून देने से सभी प्रकार के शिर.शूल शान्त होते हैं । केसर और इससे सिद्ध तेल को लगाने से त्वचा के विकार ठीक होते हैं ।

५०. कुटज

संस्कृत नाम—कुटज, कूटज, कौट, वत्सक, गिरिमल्लिका, कालिङ्ग, शक्र-शाखी, मल्लिकापुष्प, इन्द्र के पर्यायवाची सभी शब्द, यवफल, वृक्षक, पाण्डुरद्रुम ।[4]

हिन्दी नाम—कुटज, कुड़ा

---

१. शोष्यन्ते आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः । —**मृच्छ० पृ० १७८ ।**

२. रत्ना० १-१० । ३. कर्पूर० १-१६ ।

४. कुटजः कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका ।
कालिङ्गः शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि ॥
इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः ॥
—**भाव० गुडूच्यादिवर्ग ११६-११७ ।**

अंग्रेजी नाम— Kurchi

लैटिन नाम—श्वेत कुटज— Holarrhena antidy senterica wall

काला कुटज—Wrightea tinctoria R. Br.

मीठा कुटज—Wrightia tomentosa Roem & Schult

कुल— Ahocyanacae

वर्ग—गुडूच्यादिवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

धूर्तविटसंवाद, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

कुटज वृक्ष भारत के प्राय: सभी भागों में मिलते हैं। अधिक आर्द्र स्थानों पर यह प्राय: नहीं होता। हिमालय में यह ४००० फीट की ऊँचाई तक मिलता है। देहरादून और सहारनपुर के वनों में कुटज वृक्ष बहुत हैं। दक्षिण वनों में, विशेषत: महाराष्ट्र में कुटज बहुत है और यहाँ काला कुटज अधिक होता है।

कुटज के मुख्य रूप से तीन भेद कहे जा सकते हैं—श्वेत, काला और मीठा। श्वेत कुटज के बड़े गुल्म या झाड़ होते हैं। ६–१० इंच लम्बी और १½–५ इंच चौड़ी पत्तियाँ दो कतारों में आमने-सामने होती हैं। वसन्त में पुष्प खिलकर वर्षा तक खिले रहते हैं। ये श्वेत, सुगन्धित तथा गुच्छों में होते हैं। पुष्प झड़ने पर बीजों से भरी हुई पतली लम्बी फलियाँ लगती हैं। पकने पर इनमें से आधे इंच लम्बे यव के समान दाने निकलते हैं। इनको इन्द्रयव कहा जाता है। पुष्पों के श्वेत कुटज कहा जाता है।

काले कुटज के छोटे १०–१२ फीट ऊँचे वृक्ष होते हैं। शाखायें पतली और रोयेंदार होती हैं। पत्तियाँ अण्डाकार, रोयेंदार तथा आगे से नोकीली होती हैं। पुष्प हरित-नारङ्गी होते हैं। फलियाँ लम्बी-पतली ६–१२ इंच होती हैं। इनमें बीज भरे रहते हैं। पुष्पों के श्वेत न होने से इसको काला कुटज कहते हैं। श्वेत और काले कुटज के दाने कटु होते हैं।

कुटज के एक भेद की फली के दाने मीठे होते हैं। इसको मीठा कुटज कहा जाता है। अनेक विद्वानों का विचार है कि यह असली कुटज नहीं है, अपितु कुटज का प्रतिनिधि है।

कुटज वृक्ष पर्वतीय भागों में अधिक होते हैं, अत: इसको यह नाम दिया गया (कूटे पर्वतेश्रृङ्गे जायते इति)। मल्लिका के समान सुन्दर पुष्प होने के कारण इसको गिरिमल्लिका और मल्लिकापुष्प कहा गया।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में दक्षिण वनों में कुटज वृक्षों का वर्णन किया गया है।[१] संस्कृत कवियों को कुटज के पुष्प बहुत प्रिय लगे थे। उनके विकास का बर्णन कवियों ने विभिन्न ऋतुओं में किया है। नाटकों में वसन्त[२], ग्रीष्म[३] और प्रावृट्[४] में इसके पुष्पित होने का वर्णन है। सम्भव है कि कुटज पुष्प वसन्त-ऋतु में खिलना प्रारम्भ करके ग्रीष्म में पूर्ण विकसित होते हों तथा प्रावृट् में भी खिलते रहते हों। कालिदास ने वर्णन किया है कि कुटज कुसुम आषाढ के आरम्भ में मिलते हैं।[५]

उपयोग—

कुटज कुसुम अपने सौन्दर्य के लिये साहित्य में प्रसिद्ध हैं, अतः प्राचीन काल में सौन्दर्य के निमित्त इनको वाटिकाओं में लगाया जाता था। इसका चिकित्सा में भी काफी प्रयोग होता है। छाल तथा बीजों का व्यवहार किया जाता है। यह रूक्ष, कटु तथा शीतल है। अतिसारनाशक, दीपन और ज्वरनाशक भी है। इसका विशेष प्रयोग अतिसार और प्रवाहिका में किया जाता है। इस गुण के कारण यह वनस्पति अंग्रेजी दवा एमेटिन के समान कार्य करती हैं। जीर्ण ज्वर में कुटज काढा अति लाभदायक है। इसका कुल्ला करने से दन्तशूल भी ठीक होता है। हरी फली तथा कोमल पत्तों की सब्जी बच्चों के उदरकृमि को नष्ट करती है।

५१. कुन्द

संस्कृत नाम—कुन्द, माध्य, सदापुष्प।[६]
हिन्दी नाम—कुन्द, मोगरा
अंग्रेजी नाम—Kunda Flower
लैटिन नाम—१. Jasminum hubescens willd.
२. Jasminum multiflawer Andr.
कुल—Obaceal
वर्ग—पुष्पवर्ग

---

१. मालती० १-१५, हनू० पृ० ६८-७०।
२. बालरा० पृ० २६४।
३. उन्मीलत्कुटजप्रहासिषु। —मालती० ९-१५।
४. धूर्त० पृ० ६३।
५. स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः। —मेघदूत-पूर्वमेघ ४।
६. कुन्द तु कथितं माध्यं सदापुष्पं च तत् स्मृतम्।
—भाव० पुष्पवर्ग ५७।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, पद्मप्राभृतक, वेणी-संहार, मालतीमाधव, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

कुन्द लता जाति की वनस्पति है। यह सभी स्थानों पर होती है। वाटिकाओं में पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि के लिये इसको लगाया जाता है। वनों में भी यह होती है।

कुन्द वनस्पति आरोही लताओं के रूप में फैलती है। कोमल शाखाओं पर रोम होते हैं। पत्तियाँ छोटी अण्डाकार आगे से नोकीली होती हैं। इस पर छोटे, श्वेत, सुगन्धित पुष्प आते हैं। प्रत्येक पुष्प में ६ पखुड़ियाँ होती हैं। पुष्प प्रायः सारे वर्ष आते रहते हैं, अतः यह सदापुष्प है। किन्तु माघ में अधिक पुष्प आने के कारण माध्य भी कहाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कुन्द भारतीयों को सदा से प्रिय रहा है। यह शिव को भी अति प्रिय है। अतः उनकी अर्चना कुन्द कुसुमों से की जाती है। कुन्द की श्वेत कलियाँ बहुत सुन्दर लगती हैं। सुन्दर दान्तों की उपमा कुन्द की कलियों और पुष्पों से दी जाती है।

माघ मास में कुन्द पुष्पों का अधिक विकास होता है। इस समय अत्यधिक शीत के कारण प्रातः इनमें तुषार भर जाता है।[1] अन्य ऋतुओं में इनके विकास का वर्णन है। 'वेणीसंहार' में शरद्-ऋतु में,[2] 'पद्मप्राभृतक' में ग्रीष्म-ऋतु में[3] और 'मालतीमाधव' में वसन्त-ऋतु में[4] इनके खिलने का उल्लेख है। वसन्त में कुन्द पुष्पों का स्पर्श करती हुई मादक पवन बहती है। कालिदास ने वर्णन किया है कि वसन्त में पवन द्वारा हिलाई और नचाई जाती हुई कुन्द लताओं का सौन्दर्य अति मनोहारी और आकर्षक होता है।[5] रात्रि भर इसके पुष्प झरते रहते हैं, जो प्रातः भूमि पर बिखरे बहुत सुन्दर लगते हैं।[6] परन्तु वसन्त में यह लता मुरझा भी सकती है। इसके पत्ते पीले पड़ जाते हैं और पुष्प कम हो जाते हैं।[7]

कुन्द पुष्पों में बहुत अधिक सुगन्धि तथा रस होता है। इस पर भ्रमर मँडराते

---

१. कुन्दमन्तस्तुषारम्। —अभिज्ञान० ५-१९।

२. वेणी० पृ० ५२। ३. पद्म० पृ० ५।

४. मालती० पृ० १५७। ५. विक्रमो० ३-४।

६. उत्तरमेघ ५६।

७. माधवीपरिणतपत्राकतिपयकुसुमेवं कुन्दलता। —मालविका० ३ ८।

रहते हैं।[१] सौन्दर्य और सुगन्धि के आकर्षण के कारण युवतियाँ कुन्द-पुष्पों के आभूषण बनवा कर शौक से पहनती हैं।[२]

उपयोग—

कुन्द कुसुमों के सौन्दर्य और सुरभि के कारण इसको शृङ्गार-प्रसाधन के उपयोग में लाया जाता है। यह शिव का प्रिय होने से देवपूजन में उपयोगी है। कुन्द का प्रयोग चिकित्सा में भी किया जाता है। कुन्द के पत्तों की पुलटिस फोड़ों को जल्दी से पकाकर फोड़ देती है और इससे पुराने व्रण भर जाते हैं। पिप्पली और कुन्द-कुसुमों को तण्डुल के पानी को देने से श्वास रोग में लाभ होता है। कुन्द की जड़ सर्पविष में उपयोगी है।

५२. कुम्भी

संस्कृत नाम—वारिपर्णी, कुम्भिका, वारिमूली, खमूलिका।[३]
हिन्दी नाम—कुम्भी, जलकुम्भी
अंग्रेजी नाम—Water Lettuce
लैटिन नाम—Eichhomia crassipes solms.
कुल—Pontaderiaceal
वर्ग—पुष्पवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण

वनस्पति का परिचय –

कुम्भी की पहचान विवादास्पद है। नाटकों के वर्णन के अनुसार यह एक लता है, जिसके पत्तों के दाने बनाये जा सकते हैं। प्राचीन वनस्पतिशास्त्र में तीन द्रव्यों को कुम्भी या कुम्भिका नाम से कहा गया है—

१. कट्फल (कायफल)—(Myrica Nagi Thumb.)
२. द्रोणपुष्पी—(Leucas Cehhalotes Shreng.)
३. जलकुम्भी—

कट्फल के मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष हिमालय पर ३०००–६००० फीट की ऊँचाई पर होते हैं। अतः यह नाटकों के वर्णन की कुम्भी नहीं है। द्रोण-

---

१. विद्ध० १-४। २. पद्म० श्लोक १६।
३. वारिपर्णी कुम्भिका स्याद् वारिमूली खमूलिका।
—भाव० पुष्पवर्ग १९।

पुष्पी (गूमा) के छोटे क्षुप हिमालय की ४००० फीट की ऊँचाई से लेकर सारे भारत में पाये जाते हैं। यह क्षुप है तथा बहुत छोटे पत्तों वाला है। अतः इसको भी राजशेखर द्वारा कथित कुम्भी नहीं माना जा सकता है।

भारतीय ग्रामों में जलाशयों में विशेष प्रकार की चौड़े पत्तों वाली लतायें फैली दृष्टिगोचर होती हैं। ये जलाशय की अन्य सभी वनस्पतियों को नष्ट कर देती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—पिस्टिया स्ट्रैटिओट्स और ईछोर्निया क्रेसेपिस। इनमें पहली लता के पत्ते १–३ इंच लम्बे गुच्छों में होते हैं और श्वेत-पीले पुष्प आते हैं। दूसरी प्रकार की वनस्पति जल में तैरती रहती है। लम्बी रेशेदार जड़ें नीचे की कीचड़ में जम जाती हैं। ३–८ इंच व्यास के गोल पत्ते गुच्छों में होते हैं। सुन्दर नीलाभ-बैंजनी पुष्प होते हैं। तदनन्तर प्रचुर बीजों से युक्त फल आते हैं। ये दोनों ही वनस्पति कुम्भी कहलाती हैं। पहली को छोटी और दूसरी को बड़ी कुम्भी कहा जाता है। बड़े पत्तों के दोने बनाये जा सकने के कारण बड़ी कुम्भी को ही राजशेखर द्वारा वर्णित कुम्भी माना जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कुम्भी का वर्णन नाटकों में कम ही है। केवल एक स्थान पर राजशेखर ने इस वनस्पति का वर्णन किया है। लता जाति की इस वनस्पति के पत्ते बड़े आकार के होते हैं और इसके दोने बनाये जा सकते हैं।[1]

उपयोग—

कुम्भी के उपयोगों के विषय में अधिक नहीं कहा गया है। राजशेखर के अनुसार इसके पत्तों के दोने बनाये जा सकते हैं। अपने सुन्दर पुष्पों के कारण यह वनस्पति सहृदयों को आकृष्ट करती है।

बड़ी कुम्भी के पुष्पों को घोड़ों के चर्म रोगों में उपयोगी कहा जाता है। छोटी कुम्भी शीतल और मूत्रल है। पत्तों का क्वाथ पिलाने और पेड़ पर बाँधने से मूत्र खुलकर आता है। अर्श पर बाँधने से वेदना कम होती है। लता की भस्म को गोमूत्र के साथ देने पर गलगण्ड में लाभ होता है।

५३. कुरबक

संस्कृत नाम—कुरबक।
हिन्दी नाम—लाल कटसरैया, लाल पियाबांसा।
अंग्रेजी नाम—Kurabaka Tree
लेटिन नाम—Barleria Vistata Linn.

---

१. बालरा० ६-५२।

कुल—Acanthaceae
वर्ग—पुष्पवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, पद्मप्राभृतक, तापसवत्सराज।

वनस्पति का परिचय—

कुरबक की सही पहचान विवादास्पद हो सकती है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में सैरेयक पुष्प का वर्णन है। यह चार प्रकार का होता है—सैरेय, कुरण्टक, कुरबक और बाणा। इनमें सैरेय पुष्पों का रंग श्वेत, कुरण्टक पुष्पों का पीला, कुरबक पुष्पों का लाल और बाणा पुष्पों का नीला होता है।[1] इन सभी के चिकित्सा गुण समान हैं। परन्तु पाश्चात्य वनस्पतिज्ञों ने इन सबका कुल एक होने पर भी लैटिन नाम अलग हैं। कुरबक को बर्लेरिया क्रिस्टीना लिन कहा जाता है।

कुरबक के पौधे काँटेदार झाड़ियों के रूप में २–५ फीट ऊँचे होते हैं। पत्ते १–४ इंच के अण्डाकार, नोकीले तथा काँटेदार होते हैं। वसन्त में लाल रंग के पुष्प आते हैं। तदनन्तर दो, चपटे बीजों वाली डोडी आती है। नाटकों के कतिपय वर्णनों से यह भी अनुमान होता है कि कुरबक के छोटे आकार के वृक्ष भी होते होंगे।

कालिदास ने कुरबक के तीन रंग के पुष्पों का वर्णन किया है—श्यामल, श्वेत और लाल।[2] सम्भवतः उसने सैरेय और बाणा को भी कुरबक ही माना है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवि कुरबक के लाल सौन्दर्य से बहुत प्रभावित हुये थे। भारतीय वाटिकाओं में इसके लगाये जाने का बहुधा वर्णन हुआ है। कुरबक को वसन्त-ऋतु में खिलने वाला कहा गया है। दुष्यन्त का कंचुकी वसन्त के आगमन पर कहता है कि यद्यपि कुरबक खिलने के लिये उद्यत है, तथापि अभी कली की अवस्था में है।[3] वसन्त में मलय पवन इस पुष्प में पराग भर देता है[4] और ऋतु के टलने तक इसमें फल आ जाते हैं।[5]

कुरबक ने अपने लाल चमकीले रंग से कवियों को आकृष्ट किया था।

---

१. भाव० पुष्पवर्ग ५१-५२।
२. कुरबकं श्यामपवदातारुणम्। —मालविका० ३-६।
३. सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
—अभिज्ञान० ६-४।
४. वोढा कुरबकरजसां·········मलयवातः। —मालविका० ३-६।
५. मालविका० ४-५।

'मेदिनीकोष' में इसको अम्लान शोणरक्त बताया गया है। कालिदास के अनुसार कुरबक पुष्प आगे से लाल और पार्श्वों में गहरा हरा श्यामल होता है। इसकी लालिमा युवतियों के नखों के समान श्यामल होती है।[1] ये पुष्प मंजरियों के रूप में खिलते हैं।[2]

कालिदास ने वर्णन किया है कि वाटिकाओं में कुरबक की काँटेदार शाखायें खूब फैली रहती थीं और समीप से चलने वाले व्यक्तियों के वस्त्र इनमें अटक सकते थे। इसी कारण दुष्यन्त के समीप से अनिच्छापूर्वक जाने वाली शकुन्तला को कुरबक की शाखा में अपने वल्कल के अटकने का बहाना करके कुछ क्षण और ठहरने तथा दुष्यन्त को पुनः देखने का बहाना मिल गया।[3]

संस्कृत कवियों ने कुरबक के सम्बन्ध में अनेक मधुर कल्पनायें की हैं। इसके लाल रंग के पुष्पों को युवतियाँ शौक से आभूषणों के रूप में धारण किया करती थीं।[4] इसको जूड़े में भी बाँधा जा सकता था।[5] कवियों ने वर्णन किया है कि कुरबक में पुष्पों का आविर्भाव तभी होता है, जब कोई युवती इसका आलिंगन करती है।[6]

उपयोग—

कुरबक के पुष्प अपने सौन्दर्य के कारण युवतियों के शृङ्गार-प्रसाधन के लिये उपयोगी रहे। अतः इनको वाटिकाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसका चिकित्सा में भी उपयोग है। यह उष्ण, अम्ल, कफनिस्सारक, विषनाशक और केशरंजक है। चूहे के विष में कुरबक के मूल को मधु और चावल के पानी के साथ देना चाहिये। कुष्ठ रोग में इसका बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

५४. कुलत्थ

संस्कृत नाम—कुलत्थिका, कुलत्थ।[7]

हिन्दी नाम—कुलथी, गहत

अंग्रेजी नाम—Horse-gram

---

१. अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः।
—विक्रमो० २-७, माअविका० ३-६।

२. कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।

३. कुरबकशाखापरिलग्नं च वल्कलम्। **—अभिज्ञान० पृ० १८२।**

४. पद्म० श्लोक ३६।

५. चूडापाशे नवकुरबकम्। **—उत्तरमेघ २।**

६. कर्पूर० २-४३-४५, कुरबकतरुर्गाढाश्लेषम्। **—तापस० २-२३।**

७. कुलत्थिका कुलत्थश्च। **—भाव० धान्यवर्ग० ६०।**

लैटिन नाम—Dolichosbflarus Linn.

कुल—Papilionaceae

वर्ग—धान्य वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

कुलत्थ प्रायः सारे भारत में होता है। पर्वतीय प्रदेशों में ३००० फीट की ऊँचाई तक यह प्राकृतिक रूप में भी मिलता है। हिमालय के क्षेत्रों में इसकी खेती की जाती है।

कुलत्थ वनस्पति झाड़ीदार लताओं के रूप में होती है। यह उड़द के समान भूमि पर फैली रहती है। शाखायें, पतली धूसर और रोमश होती हैं। तीन के समूह में पत्ते वृन्त से जुड़े रहते हैं। पीले रंग के १/२–३/४ इंच के पुष्प आते हैं। पुष्प झड़ने पर फलियाँ आती हैं। पकने पर ये दो इंच लम्बी, चपटी तथा आगे से मुड़ी होती हैं। इनमें ५–६ दाने निकलते हैं। ये वृक्काकार दाने कुछ खाकी-लाल-भूरे होते हैं।

कुलत्थ वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ में बोये जाते हैं और शरद् के अन्त तक फसल तैयार हो जाती है। विभिन्न स्थानों पर जलवायु के अनुसार इसके बोने के समय में अन्तर होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कुलत्थ का वर्णन 'मृच्छकटिक' में ही एक स्थान पर हुआ है। कहा गया है कि भिक्षुओं के चीवरों का रंग कुलत्थ के यूष के समान होता है।[1]

उपयोग—

कुलत्थ के दानों का उपयोग भोजन में दाल के रूप में किया जा सकता है। पकाने पर इसका पानी काषाय-लाल होता है। पर्वतों तथा अन्य स्थानों पर यह निर्धन वर्ग का खाद्य है। दक्षिण भारत में कुलत्थ को घोड़ों को खिलाया जाता है।

कुलत्थ का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह उष्ण, मूत्रल और अश्मरीनाशक है। इसके लिये कुलत्थ की दाल तथा यूष दिया जाता है। श्वेत प्रदर में भी यह उपयोगी है।

---

१. कुलत्थयूपसवर्णानि चीवराणि : —मृच्छ० पृ० २८०।

५५. कुरण्टक

संस्कृत नाम—कुरण्टक।
हिन्दी नाम—पीला कटसरैया, पीला पियाबांसा
अंग्रेजी नाम—Kuranta
लैटिन नाम—Barleria prionitis Linn.
कुल—Acanthaceae
वर्ग—पुष्प वर्ग

नाटकों के उल्लेख—
पादताडितक, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—
कुरबक के परिचय में कहा जा चुका है कि **सैरेयक (पियाबांसा) चार** प्रकार का होता है। इनमें पीले पुष्प का सैरेयक ही कुरण्टक है।

काव्यात्मक वर्णन—
कुरण्टक के पौधे वनों में प्रचुर मात्रा में होते थे। इनको वाटिकाओं में भी लगाया जाता था। राजशेखर ने पीले पुष्पों वाले कुरण्टक का उल्लेख किया है।[१] यह पुष्प युवतियों को अति प्रिय था और वे इसको कानों में लटका लेती थीं।[२]

उपयोग—
कुरण्टक का पुष्प सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध था। यह युवतियों के प्रसाधन का भी उपकरण था। यह चिकित्सोपयोगी भी है। इसके गुण कुरबक के ही समान हैं।

५६. कुसुम्भ

संस्कृत नाम—कुसुम्भ, वह्निशिख, वस्त्ररञ्जक।[३]
हिन्दी नाम—कुसुम्भ, कुसुम, कौसम
अंग्रेजी नाम—Safflower, Bastard, Saffron
लैटिन नाम—Carthamus tinctorucs Linn.
कुल—Astiraceae
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—
रत्नावली

---

१. विद्ध० ४-१। २. पाद० पृ० १६८।
३. स्यात् कुसुम्भं वह्निशिखं वस्त्ररञ्जकमित्यपि।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १९।

वनस्पति का परिचय—

कुसुम्भ प्रायः सारे भारत में होता है। इसकी खेती की जाती है। क्षुप १–३ फीट ऊँचा और पत्ते किनारे पर कटे नोकीले होते हैं। पुष्प केसरिया-लाल, सुनहरे गोल गुच्छों में लगते हैं। चार कोनों वाले फल आते हैं। इनमें श्वेत, चिकने और शंखाकृति बीज होते हैं।

कृषिजन्य कुसुम्भ के दो भेद हैं—काँटे वाला और बिना काँटों का। काँटे वाले पौधे तेल की दृष्टि से और बिना काँटों के रंग की दृष्टि से उपयोगी है।

काव्यात्मक वर्णन—

कुसुम्भ के पुष्प सौन्दर्य के कारण आकर्षक थे। ये स्वतः भी होते थे तथा वाटिकाओं में भी लगाये जाते थे। पुष्पों का वर्ण पीला-लाल अग्नि की ज्वाला के समान होता है। अतः इसको वह्निशिख कहा गया था। वस्त्रों को लाल रंगने के लिये इसका प्रयोग होता था। इस रंग को कुसुम्भ कहा गया था।[1]

उपयोग—

कुसुम्भ अपने पुष्प-सौन्दर्य के कारण तो ग्राह्य था ही, अन्य प्रकार से भी उपयोगी है। प्राचीन काल में वस्त्रों को लाल रंगने के लिये इसका प्रयोग होता था। अतः इसको वस्त्ररञ्जक और महारञ्जन[2] भी कहा गया। कुसुम्भ के बीजों का तेल भी खाद्य है।

कुसुम्भ चिकित्सोपयोगी भी है। बीज विरेचक, मूत्रल और बल्य होते हैं। मूल और पञ्चाङ्ग उष्ण तथा मूत्रल हैं। पुष्प कामला में उपयोगी हैं तथा ये आर्तव को भी खोलते हैं। कुसुम्भ के पत्तों को दूध में डालने से दही जम जाती है।

५७. कुश

संस्कृत नाम—कुश, दर्भ, बर्हि, सूच्यग्र, यज्ञभूषण।[3]

हिन्दी नाम—कुशा

अंग्रेजी नाम—Kusa-grass

लैटिन नाम—Desmostachya bipinnata Stapf

कुल—Gramineae

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

पञ्चरात्र, अभिज्ञानशाकुन्तल, कौमुदीमहोत्सव, आश्चर्यचूडामणि, चण्डकौशिक, बालरामायण।

---

१. रत्ना० १-२०। २. अमरकोष २-९-१०६।

३. कुशो दर्भस्तथा बर्हिः सूच्यग्रो यज्ञभूषणः।

—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १६५।

वनस्पति का परिचय—

कुश मूंज की जाति की एक वनस्पति है। यह शीर्ष भाग पर नोकीली होती है। काण्ड और पत्ते मूंज के समान, परन्तु कुछ छोटे होते हैं। बस्तियों के बाहर खेतों और मैदानों में और वनों में यह स्वतः प्रचुर होता है। प्रायः सारे भारत में यह पाया जाता है।

कुश के पौधे बहुवर्षायु होते हैं। काण्ड १–३ फीट ऊँचा तथा जड़े गहरी होती है। पत्ते लम्बे, धारदार तथा नोकीले होते हैं। इस पर ६–१८ इंच लम्बा पुष्पदण्ड लगता है तथा चौथाई इंच चपटे अण्डाकार बीज होते हैं। वर्षा में पुष्पित होकर सर्दियों में बीज आ जाते हैं।

काव्य साहित्य में कुश और दर्भ को सामान्यतः एक ही वनस्पति कह दिया गया है। परन्तु प्राचीन वनस्पति विज्ञान में कुश और दर्भ का एक स्थान पर वर्णन करके और एक सा कह कर भी कुछ भिन्न भी कहा गया है। कुश की अपेक्षा दर्भ के पत्ते अधिक लम्बे और तेज धारदार होते हैं। आयुर्वेद साहित्य में जिस पञ्च-तृणमूल का उल्लेख है (कुश, कास, दर्भ, शर और इक्षु), उसमें कुश और दर्भ का अलग-अलग पाठ है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में कुश की अपेक्षा दर्भ को अधिक लम्बे पत्तों का और तीक्ष्ण धार का बताया है।[१] उसमें दर्भद्वय का कथन है।[२] डल्हण का कथन है कि छोटा दर्भ ही कुश है। इसके पत्ते छोटे, कोमल और कम धार के होते हैं। दर्भ बड़ा और अधिक तीक्ष्ण होता है।[३] परन्तु अमरसिंह ने कुश और दर्भ को पर्यायवाची कहा है।[४]

काव्यात्मक वर्णन—

कुश और दर्भ में कुछ भेद होने पर भी कवियों ने इनमें भेद नहीं किया और पर्यायवाची के रूप में ही इन शब्दों का प्रयोग किया है। अतः दोनों वनस्पतियों का वर्णन एक स्थान पर करना ही समुचित होगा।

कुश एक प्रकार की विशेष नोकीली घास है। यह वनों में स्वतः उगती है।[५] तपोवनों के चारों ओर इस घास प्रचुर वर्णन हुआ है। तपोवनों के विभिन्न कार्यों के लिये यह बहुत उपयोगी थी तथा इसको पवित्र समझा जाता था। कुश के नोकीला और धार वाला होने के कारण इसको काट कर लाना चतुराई का कार्य समझा

१. ततोऽन्यो दीर्घ पत्रः स्यात् क्षुरपत्रस्तथैव च।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १६५।

२. दर्भद्वयम्। भाव० गुडूच्यादिवर्ग १६६।

३. कुशः ह्रस्वदर्भः। ह्रस्वो मृदुः सूचीपत्रः; दर्भः पृथुलः खरपत्रः दीर्घः। चरक पर डल्हण।

४. अमरकोष २-४-१६६। ५. बालरा० पृ० ३३७, कौमुदी० १-१३।

जाता था। अतः कुश को काट कर लाने वाले को कुशल कहा गया था। अनाड़ी हाथों से कुश को काटने से अंगुलियाँ विक्षत हो जाती है।[१] उत्तरवर्ती युग में यह कुशल पद लक्षणा (रुढा) द्वारा "कार्य में चतुर" अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

प्राचीन समय में तपोवनों में रहने वाले छात्र और अन्य व्यक्ति विभिन्न प्रयोजनों के लिये कुश को काट कर लाते थे। इससे मुख्य रूप से आसन बनाये जाते थे।[२] तपस्वी जन अपने दैनिक उपयोग के लिये कुशों के बने हुये आसन और शयन का प्रयोग करते थे।[३] यज्ञ कार्यों के लिये भी कुशों का प्रयोग होता था।[४] इस घास को यज्ञवेदी पर बिछाया जाता था।[५] वेदी के चारों ओर भी हरी कुश घास बिछी हुई दृष्टिगोचर होती थी।[६]

तपोवन के मृग कुश घास को चरा करते थे। कालिदास ने वर्णन किया है कि दुष्यन्त द्वारा पीछा किये जाने के कारण भय से भागते हुये हरिण के मुख से कुश (दर्भ) मार्ग पर बिखरते चले गये।[७] परन्तु ये कुश नोकीले होते थे, अतः हरिण इनको सावधानी से खाते थे। अनेक बार मृगशिशुओं के मुख इसको खाने से अग्र भाग की नोक से घायल भी हो जाते थे। उस समय आश्रमवासी इंगुदी का तेल लगा कर उसकी चिकित्सा करते थे।[८]

प्राचीन काल में तपोवनवासी नंगे पैर रहते थे। अतः आश्रम की युवतियों के कोमल चरण कुश से छिद जाते होंगे। अतः शकुन्तला को बहाना मिला कि कुश से पैर के छिलने का बहाना करके वह दुष्यन्त को कुछ क्षण के लिये और मुड़ कर देख ले।[९]

उपयोग—

कुश को पवित्र माना जाने के कारण यज्ञों और अन्य धार्मिक अवसरों पर इसका प्रयोग होता है। वर्तमान समय में विभिन्न संस्कारों और धार्मिक पूजनों में कुश का व्यवहार किया जाता है।

कुश का उपयोग आसनों और चटाइयों के बनाने में किया जाता है। कुटीरों की दीवारों और छतों के छाने में भी कुश उपयोगी है।

कुश का चिकित्सा में भी उपयोग है। इसकी गणना पञ्चतृणमूल के अन्दर

---

१. कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः। —**कुमारसम्भव ५-११।**

२. चण्ड० २-१३।
३. आश्चर्य १-९।

४. चण्ड० पृ० १५७।
५. आश्चर्य २-१३।

६. हरितकुशतया वेदी परिवृता। —**पञ्चरात्र १-६।**

७. दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा। —**अभिज्ञान० १-७।**

८. अभिज्ञान० ४-१४।

९. अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे चरणम्। —**अभिज्ञान० पृ० १८२।**

की गई है। यह शीतल, मूत्रल और पिपासाहर है। स्तन्य को बढ़ाता है। चिकित्सा में मुख्य रूप से कुश के मूल का व्यवहार किया जाता है।

५८. कूष्माण्ड

संस्कृत नाम—कूष्माण्ड, पुष्पफल, पीतपुष्प, वृहत्फल।[1]

हिन्दी नाम—पेठा, कुम्हड़ा

अंग्रेजी नाम—Ash Gourd

लैटिन नाम—Benincasa ceribera Savi

कुल—Cucurbitaceae

वर्ग—शाकवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

कूष्माण्ड (पेठा) प्राय: सारे भारत में होता है। पर्वतों पर ४००० फीट तक इसकी बेलें लगाई जा सकती हैं। घरों के आस-पास इसकी बेलें फैल जाती हैं।

कूष्माण्ड को फरवरी से अप्रैल तक बोया जाता है। बेलें शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल जाती हैं। काण्ड मोटा, कोणदार और रोमश होता है। पत्तियाँ ४-६ इंच लम्बी श्वेतिमा लिये खुरदरी और रोयेंदार होती हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—स्त्री पुष्प और पुंपुष्प। स्त्री पुष्पों पर ही फल आते हैं। फल लम्बे बड़े गोल आकार के १ से १½ फीट तक के होते हैं। बाहर का आवरण नीलिमा लिये श्वेत वर्ण का होता है और अन्दर श्वेत रंग का मोटा गूदा होता है। अन्दर चपटे बीज रहते हैं, जिनमें गिरि होती है। छोटे पेठे को कूष्माण्डी कहते हैं।[2] पके पेठे को लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कूष्माण्ड का वर्णन संस्कृत नाटकों में कम ही है। यह शाक वर्ग में पठित है तथा शाक के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। 'मृच्छकटिक' में वर्णन है कि कूष्माण्ड के वृन्त पर गोबर लगा कर रखने से यह दीर्घ काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है।[3]

उपयोग—

कूष्माण्ड के भोजन द्रव्य के रूप में अनेक उपयोग हैं। फल के गूदे से

---

१. कूष्माण्डं स्यात् पुष्पफलं पीतपुष्पं बृहत्फलम्। —**भाव० शाकवर्ग ५३**।

२. भाव० शाकवर्ग ५५।

३. कूष्माण्डी च गोमयवृन्तलिप्ता। —**मृच्छ० १-५१**।

मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। यह चिकित्सोपयोगी भी है। शीतल, मधुर, रक्तपित-शामक, मूत्रल, वृष्य और सन्तापहर है। इसके लिये कूष्माण्ड का रस देते हैं। यह अर्श में भी लाभ करता है। बीजों की गिरी शीतल, वृष्य तथा बल्य है। बीजों की गिरी तथा तेल उदर के क्रिमियों का विनाश करते हैं।

५९. केतकी

संस्कृत नाम—केतक, सूचिकापुष्प, जम्बुक, क्रकचच्छद।[1]

हिन्दी नाम—केवड़ा

अंग्रेजी नाम—Screw Pine

लैटिन नाम—१. Pandanus odoratissimus Roxb.

२. Pandanus Soland ex Parkinson

कुल—Pandanaceae

वर्ग—पुष्प वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालविकाग्निमित्र, धूर्तविटसंवाद, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, आश्चर्य-चूडामणि, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

केतकी (केवड़ा) प्रायः सारे भारत में होता है। समुद्र के तट के समीप यह अधिक होता है। उड़ीसा, आन्ध्र और मद्रास में इसकी विशेष खेती होती है। सुगन्धित पुष्पों के लिये इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है।

झाड़ियों के रूप में होने वाले केवड़े के पौधे १०-२२ फीट ऊँचे होते हैं। ४-५ फीट लम्बी और २-३ इंच चौड़ी पत्तियाँ लगभग जड़ के समीप से निकल कर ऊपर तक चली जाती हैं। ये किनारों पर आरे के समान काँटेदार होती हैं, अतः इसको क्रकचच्छद कहा गया है। पौधे के मध्य से एक गौफा मकई के भुट्टे के समान ऊपर को निकलता है। इसके सिरे पर पुष्प होता है। पुष्प श्वेत वर्ण का अत्यधिक सुगन्धित होता है।

केतकी का ही एक अन्य भेद स्वर्ण केतकी है। इसको स्वर्णकेतकी, लघुपुष्प और सुगन्धिनी कहते हैं।[2] यह सामान्य केतकी से छोटी, परन्तु अधिक सुगन्धित होती हैं।

केतकी का फल ६-१० इंच लम्बा और ६-८ इंच परिधि का होता है।

---

१. केतकः सूचिकापुष्पा जम्बुकः क्रकचच्छदः। —भाव० पुष्पवर्ग ४२।

२. सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी। —भाव० पुष्पवर्ग ४२।

नारंगी आवरण वाले इस फल में अनेक बीज भरे रहते हैं। केतकी पर वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं और शरद् में फल लग जाते हैं।

काव्यात्मक सौन्दर्य—

पुष्पों के सौन्दर्य और सुरभि के कारण केतकी कवियों को अति प्रिय हुआ। इसके पुष्प की सुगन्धि दूर-दूर तक फैल जाती है। प्राचीन समय में यह वनों में स्वयं उगा हुआ भी मिलता था।[1] समृद्ध जनों की वाटिकाओं में इसको शौक से लगाया जाता था। वाटिकाओं के चारों ओर इसे परिवृति (बाढ) के रूप में भी लगाया जाता था।[2] केतकी के पनपने के लिये जल की अधिक आवश्यकता होती है। अतः नदियों के जलीय तटों पर यह स्वाभाविक रूप से अधिक होता है।[3] एक पौराणिक कथा के अनुसार केतकी को शिव के पूजन के अयोग्य निर्धारित किया गया था[4], परन्तु इससे पार्वती का पूजन किया जा सकता था।[5]

केतकी के पत्ते लम्बे और पतले होते हैं। पत्तों के किनारों पर कांटे होते हैं और आगे की नोक पर एक लम्बा कांटा होता है।[6] इस कांटे के चुभ जाने से सर्पदंश के समान चिह्न बन सकता है। अतः इसको चुभा कर कोई सर्प से काटे जाने का ढोंग रच सकता है।[7]

केतकी पुष्प वर्षा के प्रारम्भ में खिलता है।[8] शरद् के आगमन पर यह मुरझाने लगता है।[9] शरद् ऋतु की धूप से पत्तों के अन्दर के कोमल भाग भी मुरझाने लगते हैं।[10] वसन्त ऋतु में केतकी के पुष्प विकसित नहीं होते।[11] केतकी के पुष्पों का मध्य भाग[12] और पराग श्वेत होते हैं।[13] पराग के बिखरने पर ऐसा लगता है कि मानों चांदनी छिटक गई हो।[14] पुष्पों की गन्ध तीव्र और मादक होती है। इस पर खूब भौंरे आते हैं। केतकी के पुष्प पर भौंरों को बैठा देख कर श्रीहर्ष ने कल्पना की थी कि वे शिव द्वारा तिरस्कृत किये जाने के कलंकरूप हैं।[15]

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।

२. पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः। —पूर्वमेघ २५।

३. मालती० ९-१६।

४. मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्। नैषध० १-६८।

५. कर्पूर० पृ० ८५। ६. विद्ध० २-११।

७. केतकीकंटकैर्दंश कारयित्वा सर्पस्य इव दशः कृतः। —मालविका० पृ० ११२।

८. धूर्त० पृ० ६३, बालरा पृ० २५६। ९. बालरा पृ० २५८।

१०. उत्तर० ३-५।

११ मधुसमये कथं केतकीकुसुमम्। —कर्पूर० पृ० ८५।

१२. मालती० पृ० १३३। १३. मालती० ८-१।

१४. नैषध० १-९९। १५. नैषध० १-२८।

केतकी के साथ विरही जनों का विशेष सम्बन्ध कहा गया है। इसके पुष्पों की मादक गन्ध विरही जनों को विह्वल कर देती है।[१] आरी के समान पत्तों के किनारे विरही जनों के हृदयों को चीर देते हैं। परन्तु ये कांटेदार पत्ते भी कवियों को अति प्रिय लगे। सुन्दरियों के कठाक्ष केतकी के पत्तों के समान ही प्रेमियों के हृदयों को बींध डालने में समर्थ हैं।[२] केतकी के कांटे युवतियों की बड़ी-बड़ी आँखों के उपमान बनाये गये।[३] ये वियोगियों के हृदयों में चुभ कर उनका अन्त कर देते हैं।[४] और करपत्र (आरी) के आकार का होने से उनको चीर डालते हैं।[५]

केतकी पुष्पों का एक अन्य मधुर उपयोग भी कवियों ने दिखाया है। इनकी श्वेत सुगन्धित पंखुड़ियों पर युवतियाँ प्रणयपत्र लिख सकती हैं।[६]

उपयोग

केतकी का उपयोग इसके सुगन्धित सुन्दर पुष्पों के कारण है। वाटिकाओं में इसे इसी हेतु लगाया जाता है। पुष्प से अर्क, इतर और शरबत भी बनाये जाते हैं। केतकी का चिकित्सा में उपयोग है। जड़ और बीज मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों को बल देते हैं। अर्क शीतल, हृद्य और दुर्गन्धिनाशक है। तेल की मालिश करने से शिरःशूल और कटिशूल को आराम मिलता है। पत्तों द्वारा चर्मरोग की चिकित्सा की जा सकती है। केतकी का क्षार गुल्म के लिये लाभकारी है।

६. कौरण्ड

संस्कृत नाम—कौरण्ड।
हिन्दी नाम—कौरण्ड।
अंग्रेजी नाम—Koranda.
लैटिन नाम—Barleria Strigosa willd. **कुल**—Acanthaceacc.
वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—
विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

कौरण्ड की ठीक पहचान कठिन है। प्राचीन वैज्ञानिक ग्रन्थों में इस वनस्पति का नाम नहीं मिलता तथा नाम के वर्णसाम्य के आधार पर इसकी पहचान करना उचित होगा।

---

१. आश्चर्य० ६-११। २. कर्पूर० १-२६।
३. विद्ध० २-११। ४. नैषध० १-७६।
५. नैषध० १-८०। ६. कर्पूर० पृ० ८५।

मराठी में कुरण्टक का एक भेद कौरण्ट कहलाता है। सम्भवतः राजशेखर ने इसी को कौरण्ड कहा होगा, क्योंकि वे महाराष्ट्रीय थे। उन्होंने कुरण्टक का भी उल्लेख किया है। अतः उनके मत से ये दोनों वनस्पतियाँ भिन्न होनी चाहिये। वनस्पतिशास्त्र में कुरण्टक का एक भेद बलेरिया स्ट्रिगोसा लिन है। इसको हिन्दी में बाणा भी कहते हैं। भावप्रकाशनिघण्टु के अनुसार यह सैरेयक का ही एक भेद है। इसके नीले पुष्प होते हैं। सम्भवतः राजशेखर द्वारा वर्णित कौरण्ड यही है।

कौरण्ड वनस्पति के पत्ते, पुष्प आदि सभी कुरण्टक के समान होते हैं। केवल पुष्पों का रंग भिन्न है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में कौरण्ड का उल्लेख केवल राजशेखर ने किया है। कवि के अनुसार यह छोटा पौधा है और इस पर नीले पुष्प आते हैं। ये पुष्प सूखने पर भी ताजा ही प्रतीत होते हैं[1]।

उपयोग—

कोरण्ड के पुष्पों के सौन्दर्य के कारण यह ग्राह्य हुआ। चिकित्सा में यह कुरण्टक के समान कार्य करता है।

६१. क्रमुक (सुपारी)

संस्कृत नाम—घौरण्ट, पूगी, पूग, गुवाक, क्रमुक[2]।

हिन्दी नाम—सुपारी।

अंग्रेजी नाम—Betel Nut Palm,

लैटिन नाम—Areca catechu Linn. **कुल**—Arecaceac.

वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

सुपारी को मूल रूप से मलयेशिया की वनस्पति माना जाता है। भारत में भी इसके वृक्ष बहुत हैं। समुद्रतटवर्ती प्रदेशों—महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र, उड़ीसा और पूर्वी बंगाल तथा आसाम में सुपारी के वृक्ष बहुत लगाये गये हैं।

सुपारी वृक्ष नारियल के समान ऊँचे ४०–६० फीट होते हैं। काण्ड सीधा, चिकना और श्वेत होता है शिखर प्रदेश पर छत्र के समान पत्ते फैले होते हैं। ये

---

१. विद्ध० पृ० ८१।

२. घोरण्टः पूगी पूगश्च गुवाकः क्रमुकोऽस्य तु।

—भाव० आम्रादिफलवर्ग ४९।

अनेक पत्रकों में कटे होते हैं और ऊपर से प्रायः जुड़े होते हैं। शाखा-प्रशाखाओं से युक्त पुष्प गुच्छों में आते हैं। मादा पुष्पों पर फल आते हैं। ये गोल अण्डाकार होते हैं। कच्चे फल हरे तथा पकने पर नारङ्गी-लाल हो जाते हैं। बाह्य कठोर रेशेदार आवरण को हटाने पर सुपारी मिलती है। पुष्प निकलने के बाद १०–११ महीनों में सुपारी–फल परिपक्व होता है और यह पूगीफल कहलाता है। आकार आदि के अनुसार यह अनेक प्रकार का है।

कच्चे फलों को जल में उबाल कर सुखा लेने से प्राप्त सुपारी कच्ची सुपारी कहलाती है। यह कोमल और स्वादिष्ट होती है।

काव्यात्मक वर्णन--

सुपारी भारतीयों को प्राचीन काल से प्रिय रही है। पान के साथ इसको अवश्य खाया जाता है। यह पूजन के द्रव्यों में भी सम्मिलित है। देवताओं के पूजन में तथा संस्कारों के समय इसका विशेष व्यवहार होता है। इसको पवित्र करने वाला माना गया है। इसी कारण इसका पूग नाम हुआ (पुनाति पवते वा)।

सुपारी वृक्ष, ऊँचे तथा खजूर के समान होते हैं। इन पर गुच्छों में फल लटकते हैं। समुद्र तटों पर ये प्रचुर होते हैं[१]। मलय के पर्वतीय क्षेत्रों में भी इनके प्रचुर होने के वर्णन हैं[२]। इनको वाटिकाओं में भी लगाया जाता था[३]।

सुपारी को सामान्यतः पान में डालकर खाया जाता था। अकेले भी खा सकते थे। कच्ची हरी सुपारी शीतल मानी गई थी। ग्रीष्म में इसे खाया जाता था[४]।

सुपारी वृक्षों का सौन्दर्य कवियों को आकर्षक लगा था। शृंगार भाव का उन्होंने इनमें अवलोकन किया था। सुपारी वृक्षों के साथ लिपटी पान की लतायें[५] प्रेमी से प्रियतमा के मिलन के समान प्रतीत होती थीं[६]।

उपयोग—

सुपारी का व्यवहार भारतवर्ष में बहुत पुराना है यह देवपूजन के व्यवहार में आती है। इसको पान के साथ या अकेले खाया जाता है। खाने में सुपारी दो प्रकार के व्यवहार में आती है—साधारण सुपारी और चिकनी (दक्षिणी) सुपारी। चिकनी सुपारी विशेष विधि से बनती है। जामुन, लाल चन्दन, पीपल आदि की छाल में हरी सुपारी को उबाला जाता है। इससे सुपारी के दोष दूर हो जाते हैं। हरी सुपारी में एक विषैला द्रव्य होता है। भूनने से और उबालने से यह दूर हो जाता है।

---

१. बालरा० २–२२।　　२. बालरा० १०–५४।
३. मालती० ६–१९।　　४. कर्पूर० ४–५।
५. बालरा० १–६३।　　६. विद्ध० ४–११।

सुपारी चिकित्सोपयोगी भी है। यह शीतल, मधुर, कषाय और कफ-पित्त-शामक है। मूत्रस्तम्भक, वीर्यस्तम्भक और दीपक है। स्त्रीरोगों में सुपारी का विशेष उपयोग है। यह गर्भाशय के शोथ को दूर करती है। तीव्र कृमिघ्न होने से सुपारी (कच्ची) को दूध में पीस कर पिलाना चाहिये। अधिक सुपारी खाने से नशा होता है। इसके निवारण के लिये अधिक जल पिलाना चाहिये और स्निग्ध भोजन देना चाहिये।

६२. क्षीरी वृक्ष

अनेक वनस्पतियों के पत्तों, कोमल शाखाओं, पुष्प, फल आदि को तोड़ने पर उनसे दूध जैसा पदार्थ स्रवित होता है। इस प्रकार की वनस्पतियाँ—वृक्ष, क्षुप, लता आदि अनेक प्रकार की हो सकती हैं। जिन वृक्षों से इस प्रकार का दूध स्रवित होता है, उनको क्षीरीवृक्ष कहते हैं। इनको भारतीय साहित्य में बहुत आदर दिया गया है। पवित्र माना जाने के कारण इनका पूजन भी प्रचलित है। इनकी छाया घनी, सुखद और स्वास्थ्यवर्धक होती है।

क्षीरी वृक्ष विशाल आकार के और घनी छाया वाले होते हैं। मार्गों में इनकी छाया में पथिक जन विश्राम पाते हैं। शकुन्तला को विदा करते समय कण्व ने अपने साथियों के साथ क्षीरी वृक्ष के नीचे कुछ समय के लिये विश्राम किया था[1]।

कोष ग्रन्थों के अनुसार अश्वत्थ (फाइकस रेलीजिओसा लिन), वट (फाइकस बेंगालेन्सिस लिन), उदुम्बर (फाइकस ग्लोमरेटा रोक्सब), पारीष (फाइकस आर्नोट्टियना) और प्लक्ष (फाइकस कन्फेक्टोरिया) इन पाँच वृक्षों को क्षीरीवृक्ष या क्षीरीपंचक कहा गया है। इनकी छाल को त्वक्पंचवल्कल कहते हैं[2]।

६३. खदिर

संस्कृत नाम—खदिर, रक्तसार, दन्तधावन, गायत्री, बालपत्र, बहुशल्य, यज्ञिय[3]।

---

१. क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः। —अभिज्ञान० पृ० ३०८।

२. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः।
पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक्पञ्चवल्कलम्॥
—भाव० वटादिवर्ग १५।

३. खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः।
कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञियः॥ —भाव० वटादिवर्ग ३०।

हिन्दी नाम—खैर, कत्था ।
अंग्रेजी नाम—Black Catechu.
लैटिन नाम—Acacia catechu willd. **कुल**—Mimosaceal.
वर्ग—वटादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक, विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण ।

वनस्पति का परिचय—

खदिर वृक्ष हिमालय प्रदेश में ५००० फीट तक की ऊँचाई तक मिलते हैं। तराई के प्रदेशों में अधिक होते हैं। मध्य भारत और दक्षिण के शुष्क वनों में भी मिलते हैं।

खदिर मध्यम आकार का कांटेदार वृक्ष है। छाल गहरे धूसर रंग की, आधा इंच मोटी और पतले पतरों में टूटने वाली होती है। अन्दर से चमकीली लाल भूरी होती है। शाखायें पतली और टेढे कांटों से युक्त होती हैं। लाल रंग के कारण इसको रक्तसार और कांटों के कारण कण्टकी तथा बहुशल्य कहा गया है। एक पत्रक में अनेक छोटी पत्तियाँ होती है, अत. इसको बालपत्र कहते हैं। खदिर पर श्वेत-पीले पुष्प मंजरियों में जाते हैं। तदनन्तर दो इंच लम्बी, आधा इंच चौड़ी चपटी आगे से नौकीली फलियाँ आती है। इनमें ३–१० बीज होते हैं।

एक अन्य प्रकार का खदिर एलियम सिन्ड्रा डीसी है। यह दक्षिण भारत, राजस्थान और गुजरात में होता है। यह पहले खदिर से अधिक ऊँचा और कड़ी लकड़ी का होता है। एक अन्य प्रकार का श्वेत खदिर अकेशिया सूमा कुर्ग है। इसकी छाल, शाखायें आदि अधिक श्वेत होती हैं। इससे बना कत्था (पपरिया कत्था) भी अधिक श्वेत होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

खदिर काष्ठ के कठोर तथा वृक्ष के काटेदार होने से कवियों ने इसमें नीरसता, कठोरता और धूर्तता की कल्पना की थी। नीच तथा धूर्तव्यक्ति के साथ वैश्या के मिलन को कवियों ने खदिर पर कौंच की बल के आश्रय के समान बताया है[१]। परन्तु खदिर में दूसरों के गुणों को ग्रहण करने की सामर्थ्य है। केतकी के सामीप्य से खदिर भी सुगन्धित हो सकता है[२]। खदिर से बने कत्थे का उपयोग पान के साथ किया जाता है ?[३]

उपयोग—

खदिर अति उपयोगी वृक्ष है। लकड़ी के भारी तथा मजबूत होने से गाड़ियों

---

१. पाद० श्लोक ११६। २. विद्ध० पृ० ७०।
३. बालरा० १०–५४।

के पहिये, औजारों के हत्थे और स्तम्भ आदि बन सकते हैं। इस लकड़ी में दीमक नहीं लगती। दान्तों के लिये उपयोगी होने से इससे दातौन बनती है। इसका चूर्ण दन्तमन्जन के काम आता है। अतः खदिर का नाम दन्तधावन हुआ।

खदिर का विशेष उपयोग कत्थे के लिये है। काष्ठ के छोटे टुकड़ें करके काढ़ा बनाकर गाढा कर लेते हैं। यह कत्था लाली लिये गहरे कत्थई रंग का होता है। कत्थे को पान के साथ खाते हैं। इससे रंगाई भी की जा सकती है।

कत्थे में केटेचीन (Catechin) और केटेचूटेनिक एसिड (Catechutanic acid) नामक दो मुख्य घटक हैं। यह शीतल, कषाय और ग्राही है। कास और अतिसार में उपयोगी है। मुख में छालों के लिये तथा कण्ठस्वर को स्वच्छ करने के लिये इसे देते हैं। बाह्य रूप से इसको फोड़ों-फुंसियों पर लगाया जा सकता है।

पुराने खदिर वृक्ष के काष्ठ में दरारें पड़ जाती है और उनमें रवेदार कृष्णाभ पदार्थ जम जाता है। इसको खदिरसार कहते हैं। यह पदार्थ काफी महंगा बिकता है। इसका उपयोग गले के विकारों और खाँसी में किया जाता है।

६४. खर्जूर

संस्कृत नाम—भूमिखर्जूरिका, स्वाद्री, दुरारोहा, मृदुच्छदा, स्कन्धफला, काककर्कटी, स्वादुमस्ता।[१]

हिन्दी नाम—खजूर।

अंग्रेजी नाम—ati Tru.

लैटिन नाम—Phoenix Sylvestris Roxb.

कुल—Palmae.

वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

चारुदत्त, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक

वनस्पतियों का परिचय—

खर्जूर मुख्यतः दो प्रकार की हो सकती हैं। पहली भारतीय, जो कम स्वादिष्ट तथा छोटे फल की है। उसको क्षुद्र खर्जूर कहते हैं। दूसरी अफगानिस्तान, ईरान आदि में होती हैं। यह बड़ी तथा स्वादिष्ट है। इसको पिण्डखजूर (फोपनिक्स डैक्टीलोफेरा) कहते है। इसी को सुखाकर छुआरा बनाया जाता है।

खर्जूर के वृक्ष भारत में प्रायः सभी स्थानों पर होते हैं। पिण्डखजूर मिश्र, सीरिया, अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों में होती है।

---

१. भूमिखर्जूरिका स्वाद्री दुरारोहा मृदुच्छदा।
तथा स्कन्धफला काककर्कटी स्वादुमस्तका॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग। १५।

खर्जूर वृक्ष ऊँचे ताड़ के समान होते हैं। शिखर प्रदेश पर ७—१० फीट लम्बे छत्राकार पत्ते होते हैं। इन पर दो प्रकार के पुष्प आते है—पुंलिंगी और स्त्रीलिंगी। ये अलग-अलग वृक्षों पर आते हैं। परागण की प्रक्रिया होती है और स्त्रीलिंगी पुष्पों वाले वृक्षों पर फल लगते हैं फल लगभग १—११/३ इंच का लम्बा होता हैं। पकने पर यह लाल-पीला होता है। फल के अन्दर बीच रहता है। वर्षा ऋतु में पुष्प आकर शरद् में फल आते हैं।

पुराने खजूर के वृक्ष से रस (खर्जूरी नीरा) भी निकलता है। इससे गुड भी बन सकता है। रखा रहने पर किण्वीकरण होकर इसकी मदिरा बन जाती हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

लाल जाति के खर्जूर वृक्ष भारतीय वनों में प्रचुर होते हैं। ये ऊँचे सीधे चले जाते हैं।[१] मध्य में शाखायें नहीं होती। शिखर पर छत्र के आकार के पत्ते होते हैं। कवियों ने दक्षिण वनों में खर्जूर वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया हैं।[२]

खजूर फल भारतीयों को अति प्रिय रहा है। इसका मधुर स्वाद स्पृहणीय था। पिण्डखजूर विदेशों से भारत में आता था तथा राजपरिवारों में भी यह भोजन द्रव्यों में सम्मिलित था। खजूर के अत्यधिक मीठा होने से स्वाभाविक था कि इसको अधिक खाने से व्यक्ति ऊब जावे और स्वाद बदलने के लिये खट्टी वस्तु खाने की इच्छा करे। दुष्यन्त से विदूषक कहता है कि पिण्डखर्जूरों से ऊँचे हुये तुमको अब इमली खाने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई है।[३]

खर्जूर को कवियों ने उपमान भी बनाया है। भीगा हुआ खर्जूर पाण्डु हो जाता है। अतः उदय होता हुआ चन्द्रमा भीगे हुये खजूर के समान प्रतीत हो सकता है।[४]

६५. गुग्गुलु

वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

संस्कृत नाम—गुग्गुलु, देवधूप, जटायु, कौशिक, पुर, कुम्भोलूखल, महिषाक्ष, पलङ्कष।[५]

हिन्दी नाम—गुगल।

अंग्रेजी नाम—Indian Bdellium, Cum-guggul.

---

१. मालती० ५-१४। २. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।

३. पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिड्यां तेऽभिलाषः।—अभिज्ञान० पृ० २०२।

४. क्लिन्नखर्जूरपाण्डुः।—चारुदत्त १-२९।

५. गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः।

कुम्भोलूखलकं क्लीबे महिषाक्षः पलङ्कषः।—भाव० कर्पूरादिवर्ग ३२।

लैटिन नाम—१. Balsamodron mubul ex stocbs.

२. Comnifora muhul engl.

कुल—Burseroceae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग ।

नाकटों के उल्लेख—

पादताडितक, चण्डकौशिक, हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

गुग्गुलु नामक वृक्ष पर सरदियों में क्षत करने पर विशेष प्रकार का सुगन्धित निर्यास बहता है। इसी का गूगल के रूप में व्यवहार किया जाता है।

गूगल वृक्ष सूखे पथरीले मैदानों में होते हैं। सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, राजपूताना आदि में ये मिलते है : अ ब, अफ्रीका, अफगास्तिान आदि में उपलब्ध है। आसाम, बंगाल और मध्यप्रदेश में एक अन्य जाति का गुग्गुलु कोम्नीफोरा भी मिलता है।

गुग्गुलु के छोटे वृक्ष (४-८ फीट) गुल्मों के रूप में होते हैं। कांटेदार शाखायें प्रचुर संख्या में फैली रहती हैं। छाल हरी-पीली परतदार और काष्ठ कोमल श्वेत होती है। तीन-तीन के ससूहों वाली पत्तियाँ चिकनी, चमकीली और दन्तुर होती हैं। वसन्तु ऋतु में लाल-भुरी पंखुड़ियों वाले पुष्प गुच्छों में आते हैं। प्रत्येक पुष्प में ४-५ पंखुड़ियाँ होती है। तदनन्तर फल आते है, जो पकने पर लाल होते हैं और अन्दर द्विकोष्ठीय गुठली रहती है। सरदियों में इससे स्वयं रस बहता है, परन्तु चीरा लगाने से अधिक रस प्राप्त किया जा सकता है। यही रस सुखा कर गुगल के नाम से बेचा जाता है।

'भाव प्रकाशनिघण्टु' में गुगल के पांच भेद कहे गये हैं—महिषाक्ष, महानील, कुमुद, पद्म और हिरण्य। इनमें हिरण्य को सबसे अधिक हितकर कहा गया है। बाजार में दो प्रकार का गुगल मिलता है—महिषाक्ष और कण। महिषाक्ष गूगल हरा पीला और कण लाल-पीला दानेदार होता है। कण राजस्थान में अधिक होता है और यही सम्भवतः हिरण्यगुग्गुलु है। गूगल को अग्नि में जलाने से सुगन्धित धुआं निकलता है। गरम जल में इसका दूध के समान श्वेत घोल बनता है।

काव्यात्मक वर्णन—

गुग्गुलु का व्यवहार भारत में बहुत प्राचीन है। सुगन्धित धुआँ देने के कारण इसका देवपूजन में प्रयोग होता रहा और इसको देवधूप नाम दिया गया। गूगल की धूपबती और अगरबती जला कर वायुमण्डल को सुगन्धित करते है।[1]

---

१. चण्ड० ५-१०।

उत्सवों के समय धूप जलाई जाती है ।[1] सुगन्धि के कारण गूगल पर भ्रमर मंडराते हैं ।[2]

ग्रहों का दुष्प्रभाव दूर करने के लिये गुग्गुलु का प्रयोग किया जाता था। इसको बालकों के केशों में बांध दिया जाता है[3] । श्यामिलक ने चर्बी घटाने के लिये गूगल के प्रयोग का उल्लेख किया है । परन्तु इससे पुरुषत्व शक्ति भी कम हो जाती है ।[4] सुश्रुत ने चर्बी घटाने वाले पदार्थों में गूगल का उल्लेख किया है ।[5]

उपयोग—

गूगल का प्रयोग सुगन्धि के कारण देवपूजन में होता है । इसकी धूप तथा अगरबती जला कर वायुमण्डल को शुद्ध किया जाता है । चिकित्सा में गूगल का प्रचुर व्यवहार है । व्याधि से रक्षा करने के कारण ही इसका गुग्गुलु नाम हुआ (गुजो व्याधेः गुडति रक्षति) । यह उष्ण, लघु और कटु-तिक्त है । वातनाडी संस्थान पर इसका विशेष प्रभाव है । अतः वातव्याधियों में इसका उपयोग हैं । इसके अनेक योग बनते है । गर्भाशय पर प्रभाव होने से इसको अनार्तव में देते हैं । बाह्य लेप करने से यह शोथ और वेदना को दूर करता है ।

६६ गोक्षुर

संस्कृत नाम—गोक्षुर, त्रिकण्टक, स्वादुकण्टक, गोकण्टक, गोक्षुरक, वनश्रृङ्गाटश पलङ्कषा, श्वदंष्ट्रा, इक्षुगन्धिका ।[6]

हिन्दी नाम—गोखरु ।

अंग्रेजी नाम—Caltrahs.

लॅटिन नाम—Tribulusterrestris Linn (छोटा गोखुर)

कुल—Zygohhyllaceae.

२. Pedalium murex Linn (बड़ा गोखरु)

कुल—pedaliaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

---

१. पाद० श्लोक १८ ।

२. हनू० १४-८७ । ३. चण्ड० ५-१० ।

४. पाद० श्लोक ७४ ।

५. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान १५-३२ ।

६. गोक्षुरः क्षुरकोऽपि स्यात् त्रिकण्टः स्वादुकण्टकः ।
गोकण्टको गोक्षुरको वनश्रृङ्गाट इत्यपि ॥
पलङ्कषा श्वदंष्ट्रा च तथा स्यादिक्षुगन्धिका ।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ४४-३५ ।

नाटकों के उल्लेख—

पद्मप्राभृतक

वनस्पति का परिचय—

गोखरु से भारतीय अति प्राचीन काल से परिचित है। वनों में इसकी लतायें फैली रहती है तथा छोटे फलों के रूप में गोखरु आते हैं। ये वसन्त ऋतु में पक कर कठोर हो जाते है। तीन काटों से युक्त होने से यह त्रिकण्टक कहलाता है। सिंघाड़े के समान आकृति होने से यह वनशृंगाट नाम से प्रसिद्ध है। वनों में चरती हुई गोओं के पैरों में गोखरु चुभ जाते है, अतः इसको यह नाम दिया गया है। इसी की कारण इसको गोकण्टक भी कहा गया।

गोखरु दो प्रकार का होता है—छोटा और बड़ा। दोनों की प्रजातियाँ भिन्न हैं। छोटा गोखरु बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश और राजपूताना में अधिक होता है। यह भूमि पर फैलने वाला छोटा पौधा है। पत्तियों चने की पतियाँ के समान तथा ४-७ के युगलों के रूप में होती हैं। शरद् में इस पर पीले रंग के पुष्प आते हैं और तदनन्तर फल आकर वसन्त तक पक जाते हैं। फल लगभग आधा इंच का होता हैं तथा इस पर पांच जोड़े काटे होते हैं। इसमें पांच दल होते हैं तथा सूखने पर पांचों दल त्रिकोणाकार रूप में अलग हो होते हैं। प्रत्येक दल में अनेक बीज होते हैं।

बड़ा गोखरु दक्षिण समुद्र के तट पर तथा लंका में अधिक होता है। इसके छोटे पौघे भूमि पर भी फैलते हैं और ऊपर को भी बढ़ते हैं। शाखाओं तथा पत्तियों में खूब रस भरा रहता है। इनको डाल कर हिलाने से जल गाढा और चिपचिपा हो जाता है। शरद् में पीले पुष्प आते हैं तदनन्तर फल आकर वसन्त में पक जाते हैं एक इंच के लगभग के फल त्रिकोणाकार जाते हैं तथा प्रत्येक कोण पर एक कांटा होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में गोखरु का वर्णन अधिक नहीं है केवल 'पद्मप्राभृतक' में एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है कि, गोखरु और लोहचूर्ण को मिला कर लगाने से केश काले हो जाते है।[१]

उपयोग—

गोखरु का चिकित्सात्मक उपयोग है। जैसाकि पहले कहा गया है इसको केशरजंक द्रव्यों में डाला जा सकता है। आयुर्वेद में इसे शीतल, स्निग्ध और मधुर माना गया है। यह विशेष रूप से मूत्रसंस्थान पर कार्य करता है। अपने उड़नशील तेल और नाइट्रेटस के कारण यह मूत्र की मात्रा को बढ़ाता है। इसका प्रयोग सूजाक,

---

१. पद्म० पृ० २८।

मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी आदि रोगों पर किया है। यह वृक्क को उत्तेजित करया है और हृदय के लिये वल्य हैं। गोखरु को श्वासहर, वृष्य और वाजीकरण भी माना गया है।

६७. ग्रन्थिपर्ण

संस्कृत नाम—ग्रन्थिपर्ण, ग्रन्थिक, काकपुच्छ, नीलपुष्प, सुगन्ध, तैलपर्णक।[१]

हिन्दी नाम—गठिवन, ग्रन्थितृण।

अंग्रेजी नाम—Knot-grass.

लैटिन नाम—Pobyyonumaviculare Linn.

कुल—polyyonaceae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

ग्रन्थिपर्ण ऊंचे हिमालय क्षेत्रों में (६०००-१२००० फीट) काश्मीर से कुमायूं तक मिलती है। इसके छोटे क्षुप की जड़ें लम्बी गहराई तक जाती है और अनेक शाखाओं से युक्त होती है। ऊपर की शाखायें गोल तथा गाठंदार होती है और दूर तक फैल जाती है। गांठों की अविकता के कारण ही इसको ग्रन्थिपर्ण या ग्रन्थिक कहा गया है। गांठों से धूसर रंग के लगभग एक इंच लम्बे पत्ते निकलते हैं तुलसी के समान ये पत्ते अति तीक्ष्ण गन्ध वाले होते हैं। इस पौधे पर अत्यधिक सुगन्धित नीले पुष्पों की मंजरियाँ आती हैं। सुगन्धित होने से तथा नीले पुष्पों के कारण इस वनस्पति का नाम सुगन्ध और नीलपुष्प हुआ। वर्षा ऋतु में नये पौधे आकर सरदियों में पुष्प आते है और ग्रीष्म के प्रारम्भ में बीज पड़ जाते हैं। चमकीले काले बीज अत्यधिक सुगन्धित होते हैं। इनको बीजवन्द कहा जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

राजशेखर ने ग्रन्थिपर्ण का वर्णन किया है। इसके पुष्प मयूरपिच्छ के समान होने से इसे बर्हिपुष्प कहा गया। कस्तूरी मृग ग्रन्थिपर्ण घास को शौक से खाते है।[२]

उपयोग—

ग्रन्थिपर्ण अपनी सुगन्धि के कारण बहुत लोकप्रिय रहा। तेज गन्ध वाला होने से इस को घर में रखने से छुछून्दर और सर्प नहीं आते। आयुर्वेद साहित्य में

---

१. ग्रन्थिपर्णं ग्रन्थिकं च काकपुच्छं च गुच्छकम्।
नीलपुष्पं सुगन्धं च कथितं तैलपर्णकम्।—भाव० कर्पूरादिवर्ग १०७।

२. कर्पूर० पृ० १८०, विद्ध० पृ० ६७, बालरा० १-६२।

इसको उष्ण, कटु और दीपन कहा गया है। यह खुजली और दुर्गन्ध को दूर करता है। पौधे को जल में भिगोने से लुआब बन जाता है। इसको पुल्टिस के समान रखने पर कच्चा फोड़ दब जाता है और अधपका फोड़ा शीघ्र पक कर फूट जाता है।

६८. चन्दन

संस्कृत नाम—श्वेत चन्दन—श्रीखण्ड. भद्रश्री, चन्दन, तैलपर्णिक गन्धसार, मलयज, चन्द्रद्युति।[1]

लाल चन्दन—रक्तचन्दन, रक्तांग, क्षुद्र चन्दन, तिलपर्ण, रक्तसार, प्रवालफल।[2]

हिन्दी नाम—सफेद चन्दन, लाल चन्दन।

अंग्रेजी नाम—Sandal wood' Red Sandal wood.

लैटिन नाम— श्वेत चन्दन—Santalum album Linn.

कुल—Santalanaceae.

लाल चन्दन—Ptirocarhus Santalivus Linn.

कुल— Tguminosae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, अभिज्ञानशाकुन्तलम् मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, रत्नावली, नागानन्द, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, महावीरचरित, वीणावासवदत्तम्, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

चन्दन मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—श्वेत और लाल। दोनों प्रकार के चन्दन भिन्न वृक्ष है, अतः उनका अलग विवरण देना समुचित होगा।

श्वेत चन्दन—

श्वेत चन्दन दक्षिण भारत में मैसूर, कुर्ग और मलाबार के वनों में प्रचुर होता है। इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है। छोटे आकार के सदाहरित बहुशाखी चन्दन वृक्षों की शाखायें पतली और कोमल होती है। $1\frac{1}{2}$ इंच लम्बी और $\frac{1}{2}$ से $1\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी पत्तियाँ चिकनी तथा आगे से नोकीली होती है। इस पर ग्रीष्म में लालनकीले पुष्प मंजरियों में आते है। फल गोलाकार आधा इंच व्यास के गहरे जामुनी रंग के होते है। इनमें गुठली होती है।

---

१. श्रीखण्ड, चन्दनं न स्त्री भद्रश्रु स्तैलपर्णिका।
गन्धसारो मलयजस्तथा चन्द्रद्युतिश्च सः ।—भाव० कर्पूरादिवर्ग १।

२. रक्तचन्दनमाख्यातं रक्ताङ्गं क्षुद्रचन्दनम्।
तिलपर्णं रक्तसारं तत्प्रवालफलं स्मृतम्।—भाव० कर्पूरादिवर्ग १५।

श्वेत चन्दन के काण्ड तथा शाखाओं के बाहर का भाग गन्धहीन होता है। परन्तु अन्दर का भाग पीला और सुगन्धित होता है। चन्दन के रूप में इसी का व्यवहार होता है। इससे आसवन प्रकिया द्वारा तेल प्राप्त करते हैं। तेल की मात्रा जड़ की काष्ठ में अधिक होती है। चन्दन के वृक्ष १८-२० वर्ष में परिपक्व और तैल प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।

लाल चन्दन—

लाल चन्दन दक्षिण-पश्चिम भारत की पर्वतीय भूमियों में अधिक होता है। इसके मध्यम आकार के वृक्ष २०-३० फीट के होते है। कोमल शाखायें मृदु रोमों से आवृत रहती है। ३-५ के समूहों में पत्तियाँ तिल के पत्तों के समान होती है। ग्रीष्म ऋतु में पीताभ पुष्प मंजरियों में लगते है। पुष्पों के गिरने पर फलियाँ आती है, जो २-३ इंच लम्बी तथा पकने पर कड़ी होती है। फलियों में रम्री के समान लाल बीज होते है। लाल चन्दन की काष्ठ कड़ी, लाल तथा भारी है। यह जल में डूब जाती है।

लाल चन्दन गन्धरहित होता है। 'धन्वन्तरीय निघण्टु' में रक्तचन्दन को महासुगन्धित कहा गया है। परन्तु वर्तमान में उपलब्ध लाल चन्दन गन्धहीन ही है।

हरिचन्दन—

प्राचीन वनस्पतिशास्त्र के ग्रन्थों में एक पीत चन्दन भी कहा गया है। इसके पर्याय है—कलम्बक, कालीय, पीताभ, हरिचन्दन, हरिप्रिय, कालसार, और कालानुसार्यक [1] पीले चन्दन को लैटिन में सैन्टेलम फ्लोरन कहा गया है। प्राचीन साहित्य में हरिचन्दन बनाने की विधि है—तुलसी, कपूर, अगर, केसर और चन्दन को मिलाने से हरिचन्दन बनता है।

काव्यात्मक वर्णन—

अपनी विशिष्ट सुगन्धि के कारण चन्दन ने भारत में बहुत अधिक लोकप्रियता पाई थी। चन्दन की मुख्य भूमि के मलय होने के कारण इसको मलयज भी कहा गया था। इसे मलयतरु भी कहा गया है।[1] हनूमन्नाटक में इसका वर्णन दक्षिण के वनों में किया गया है।[2] भवभूति ने दण्डकारण्य में[3] और दक्षिण वनों में[4] चन्दन वृक्षों की उपस्थिति प्रदर्शित की है। वे वनों में अग्नि से जले हुये चन्दन वृक्षों का वर्णन करते हैं, जिनके कोटरों में अजगर घूमते रहते थे।[5] सुगन्धित होने के कारण

---

१. कलम्बकं तु कालीयं पीताभं हरिचन्दनम्।
हरिप्रियं कालसारं तथा कालानुसार्यकम्—भाव० कर्पूरादिवर्ग—१४।

२. अभिज्ञान० पृ० ३३६। ३. हनू० पृ० ६८-७०।

४ उत्तर० २-२९। ५. मालती० पृ० ३८०।

६. मालती० ५-१५।

चन्दन को गन्धसार और शोभाजनक होने से भद्रश्री कहा गया था। इन गुणों के कारण चन्दन को पैरों से स्पर्श करने का निषेध था। चन्दन की काष्ठ से पादुकाओं का बनाना उचित नहीं माना गया था।[१]

चन्दन के दो भेद कहे गये हैं—श्वेत और लाल। इनमें श्वेत उत्तम है तथा सुगन्धि भी इसी में है। यही मलयज है। लाल चन्दन को अधिक अच्छा नहीं माना गया। 'अमरकोष' में इसको कुचन्दन कहा गया है।[२] जिस व्यक्ति को वध का दण्ड दिया जाता था, उसके शरीर पर लाल चन्दन मलकर नगर में घुमाया जाता था।[३]

चन्दन वृक्ष वसन्त में पुष्पित होते हैं। पुष्पों में अधिक पराग और सुगन्धि होती है। वसन्त का पवन इस पराग से सुगन्धित हो जाता है।[४] चन्दन की काष्ठ भी बहुत सुगन्धित होती है तथा इसकी सुगन्ध दीर्घ काल तक नष्ट नहीं होती। कहा जाता है कि इस सुगन्ध से आकृष्ट होकर चन्दन की शाखाओं पर तथा तनों पर सर्प लिपटे रहते हैं। 'हनूमन्नाटक'[५], 'उत्तररामचरित'[६], 'बालरामायण'[७] आदि नाटकों में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। कालिदास भी इसकी सूचना देते हैं।[८]

चन्दन के अनेक प्रकार के उपयोगों का वर्णन किया गया है। आमोद-प्रमोद के अवसरों पर, विशेष रूप से वसन्तोत्सव में चन्दन का जल एक-दूसरे पर छिड़क-कर आनन्द मनाते थे।[९] प्रसाधन के लिये भी चन्दन का लेप करने की परम्परा थी।[१०] सन्ताप की चिकित्सा के लिये भी इसको लगाते थे।[११] देवपूजन में यह प्रयुक्त होता था।[१२]

चन्दन का ही एक प्रकार हरिचन्दन कहा गया है।[१३] इसको सर्वोतम माना गया था।[१४] हरिचन्दन की गणना पाँच देवतरुओं में भी की गई थी।[१५] इसको

---

१. मालविका० पृ० १३१।
२. अमरकोष २-६-१३१। ३. मृच्छ० १०-५।
४. कर्पूर० १-१७। ५. हनू० १-३०।
६. उत्तर० २-२६। ७. बालरा० ८-६६।
८. कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनम्। —अभिज्ञान० ७-१८।
९. रत्ना० पृ० ३२।
१०. रोगादकालागुरुचन्दनाद्रां। —अवि० ५-१।
११. रत्ना० २-२२, गात्रेषु चन्दनरसः। —मालती० ९-२२।
१२. रत्ना० पृ० ३२। १३. महावीर० २-२२।
१४. उत्तर० २-११।
१५. पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥
—अमरकोष १-१-५०।

देवताओं का, इन्द्र का चन्दन माना गया था (हरेः इन्द्रस्य चन्दनम्)। कालिदास ने उल्लेख किया है कि इन्द्र ने अपने वक्षःस्थल पर हरिचन्दन का लेप किया हुआ था, जो गीला था। वह मन्दारमाला पर लग गया था।[1] कालिदास ने पार्वती द्वारा भी वक्ष पर हरिचन्दन लगाने का वर्णन किया है।[2]

चन्दन से स्नेह करने वाले नागरिक इसको शौक से वाटिकाओं में लगाते थे। वाटिकाओं में चन्दनवीथी या चन्दनमण्डप हुआ करते थे।[3]

संस्कृत नाटकों में चन्दन की लताओं का भी उल्लेख हुआ है। मलय पर्वत पर ये लतायें थीं। उपवनों में चन्दन लताओं के मण्डप होते थे। 'नागानन्द' में वर्णन है कि तपोवन का चन्दनलतागृह छोटे कदली वृक्षों से परिवेष्टित था।[4] चन्दन-लता क्या थी, यह कहना कठिन है। चन्दन के वृक्ष ही होते हैं। सम्भवतः चन्दन वृक्षों से लिपटी लताओं को चन्दन-लता कहा गया हो। कालिदास ने वर्णन किया है कि मलयतरुओं से उखाड़ी गई। चन्दनलताओं के समान।[5] यहाँ सम्भवतः मलयतरु शब्द का प्रयोग चन्दन वृक्षों के लिये और चन्दनलता का प्रयोग उससे लिपटी लता के किये हुआ होगा। शाखा का एक पर्याय लता होने से चन्दन वृक्ष की कोमल शाखा को भी चन्दनलता कहा जा सकता है।

उपयोग—

चन्दन का उपयोग, देवपूजन, प्रसाधन, सुगन्धि और चिकित्सा के लिये किया जाता है। चन्दन का लेप देवमूर्तियों पर करते हैं तथा माथे पर टीका लगाते हैं। चन्दन की काष्ठ हवन-सामग्री में डाली जाती है। प्रसाधन के लिये यह उपयोग में आता है और लेप किया जाता है। यह शीतल, स्निग्ध तथा अभिराम होता है। चन्दन की काष्ठ जिस स्थान पर रखी जाती है, सुगन्धित हो जाता है। चन्दन का तेल सुगन्धियों में प्रयुक्त होता है।

चन्दन चिकित्सोपयोगी है। यह शीतल, तिक्त और अवसादक है। दाह को शान्त करने के लिये चन्दन का जल और लेप उपयोगी हैं। चन्दन मूत्रल भी है। सूजाक और मूत्र-कृच्छ्र में इसको देते हैं। गुलाबजल के साथ इसका लेप करने से माथे की पीडा तथा दाह शान्त होता है। चर्म के विकारों पर भी चन्दन का तेल

---

१. आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।
—अभिज्ञान० ७ २।

२. स्तनद्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनास्पदे। —कुमारसम्भव ५-६९।

३. वीणा पृ० ३९।

४. बालकदलीपरिक्षिप्ते चन्दनलतागृहे। —नागा० पृ० ५६।

५. मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव। —अभिज्ञान० पृ० १०४।

लगाते हैं। चन्दन के बीजों को पीसकर योनि में वर्ती के रूप में रखने से गर्भपात हो जाता है।

६९. चम्पक

संस्कृत नाम—चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प।[1]

हिन्दी नाम—चम्पा, सोनचम्पा।

अंग्रेजी नाम—Champaka.

लैटिन नाम—Michelia Champaka Linn.

कुल—Magnoliaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

चारुदत्त, बालचरित, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मृच्छकटिक, रत्नावली, हनूमन्नाटक, मालतीमाधव, आश्चर्यचूडामणि, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

चम्पक वृक्ष प्रायः सारे भारत में पाये जाते हैं। ये हिमालय की ३००० फीट की ऊँचाई से लेकर मैदानों में होते हैं। दक्षिण भारत के वनों में भी होते हैं। वाटिकाओं में इनको आदरपूर्वक लगाया जाता है।

चम्पक वृक्ष १०–२० फीट ऊँचा होता है और पुराना वृक्ष इससे भी ऊँचा चला जाता है। यह बारहों महीने हरा रहता है। पत्ते ८–१० इंच लम्बे, २–४ इंच चौड़े चिकने, चमकीले और नोकीले होते हैं। पुष्प २ इंच व्यास के गोल, ४-५ पंखुड़ी वाले, ४–७ केसर से युक्त, पीले-नारंगी अति सुगन्धित होते हैं। चम्पा के पुष्प श्वेत भी होते हैं। यह वसन्त में पुष्पित होता है। पुष्प गिरने पर लम्बे ४–५ बीजों से युक्त फल आते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

सुगन्ध तथा सौन्दर्य के कारण चम्पक पुष्प ने बहुत आदर और लोकप्रियता पाई थी। भारतीय वाटिकाओं में इसको शौक तथा स्नेह से लगाया जाता था। चम्पक वृक्षों वाली वाटिका चम्पकाराम कहलाती थी। वाटिकाओं में चम्पक वृक्षों के मध्य नीम (पिचुमन्द) का होना अच्छा नहीं समझा गया था।[2]

---

१. चाम्पेयश्चम्पकः प्रोक्तो हेमपुष्पश्च स स्मृतः।

—भाव० पुष्पवर्ग ३१।

२. पश्यत्वज्जुका चम्पकारामे पिचुमन्दा जायन्ते। —चारु० पृ० १०४।

चम्पक वृक्ष उद्यानों में तो होते ही थे, वनों में भी मिलते थे। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में चम्पक वृक्षों की उपस्थिति कही गई है।[१] चम्पक यद्यपि वृक्ष है, तथापि चम्पकलता का भी उल्लेख मिलता है।[२] सम्भवतः चम्पक की कोमल शाखाओं को अथवा चम्पक के छोटे कोमल पौधों को चम्पकलता कहा गया हो।

चम्पक के पुष्प वसन्त में खिलते हैं।[३] ये पुष्प सुनहरी रंग के कुछ श्वेतिमा से युक्त होते हैं।[४] पिंगल स्वर्णिम पुष्प भी हो सकते हैं (स्वर्णचम्पा)।[५] कवियों ने चम्पक के सर्वथा श्वेत पुष्पों का भी उल्लेख किया है[६] और स्वर्णिम का भी।[७] पुष्पों के स्वर्णिम होने के कारण इसको काञ्चनपादाप कहा गया था।[८] कोष-ग्रन्थों में चम्पक के हेमपुष्पक[९], स्वर्ण[१०], और हेमपुष्प[११] पर्याय भी दिये गये हैं। भास ने इसको कनक नाम से अभिहित किया है।[१२]

चम्पक पुष्पों की सुरभि अति रमणीय और मादक होती है। आकृष्ट होकर भौंरे इस पर बैठते हैं।[१३] जहाँ भी चम्पक पुष्प हो, वे उसका अनुसरण करते हैं।[१४] चम्पक-पुष्पों पर काले भ्रमरों को बैठा देखकर कवियों ने कल्पना की कि मानों वियोगियों की विपत्ति के लिये धूमकेतु उदित हुआ है।[१५] चम्पक पुष्पों को अधिक सुगन्धित बनाने के लिये विशेष उपाय किये जाते थे, चम्पक के आलवाल में केसर और कस्तूरी डालने से इसके पुष्प अधिक सुन्दर और सुगन्धित होते हैं।[१६]

चम्पक पुष्प अपने सौन्दर्य और सुगन्धि के कारण यद्यपि आदर के पात्र थे, तथापि अनुचित स्थान पर उगे होने पर उनको त्याज्य समझा जाता था।[१७] इन

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. कर्पूर० पृ० ६८।

३. रत्ना० १-८।

४. गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्पगौराः। —बालच० ३-२।

५. कर्पूर० १-६। ६. विद्ध० ४-१४।

७. रत्ना० १-८, बालरा १०-९५।

८. मालती० पृ० ४२। ९. अमरकोष २-४-६।

१०. मेदिनीकोष ११८-८३। ११. हैमकोष ४-२१८-२१९।

१२. प्रतिज्ञा० २-२। १३. मालती० पृ० १३०।

१४. आश्चर्य० पृ० १६७।

१५. अलिप्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं, निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमाशङ्कितवानशङ्कत॥
—नैषध० १-९१।

१६. कर्पूर० पृ० ६८।

१७. श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य।
—मृच्छ० पृ० १८०।

पुष्पों के प्रति कवियों ने विशेष आकर्षण का अनुभव किया और इनको अपनी कल्पनाओं में विशेष रूप से समायोजित किया।

चम्पक पुष्पों को तरुणियों के सौन्दर्य के अभिव्यञ्जित करने के लिये विशेष उपमान बनाया गया है। मालती के अङ्ग चम्पक पुष्पों के समान लुभावने थे।[1] किशोरियों के अङ्ग नवविकसित चम्पक पुष्पों के समान होते हैं;[2] सुन्दर युवती के शरीर की कान्ति चम्पा की कवियों के समान होती है।[3] लाट देश की सुन्दरियों के शरीर चम्पा के पुष्पों के समान गौर वर्ण थे[4] और गोपाङ्गनायें स्वर्णिम चम्पा के समान गौर थीं।[5]

उपयोग—

सौन्दर्य और सुगन्धि के कारण चम्पक को वाटिकाओं में शौक से लगाया जाता था। पुष्प श्रृङ्गार-प्रसाधान के लिये उपयोगी है। छाल और पुष्पों में उड़नशील तेल होता है। इसको इतर के रूप में अलग किया जा सकता है।

चम्पक चिकित्सोपयोगी भी है। छाल शीतल और कटु-तिक्त होती है। छाल और मूल का काढ़ा रेचक होता है और मासिक धर्म को खोलता है। फूलों और फलों का चूर्ण वृक्क के रोगों और सूजाक में लाभदायक है। उदरशूल में पत्तों के रस को शहद में मिलाकर देना चाहिये। छाल के चूर्ण को दही में मिलाकर फोड़ों पर लगाना चाहिये। इसको मोम में मिलाकर भर देने से पैरों की बिवाइयाँ ठीक होती हैं।

७०. चोल

संस्कृत नाम—त्वक्पत्र, वराङ्ग, भृङ्ग, चोच, उत्कट।[6]
हिन्दी नाम—दालचीनी।
अग्रजी नाम—Cassia Cinamore.
लैटिन नाम—Cinnamomum Cassia Blume.
कुल—Lauraceae.
वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

---

१. परिमृदितचम्पकावलिविलासलुलितैरङ्गैः। —मालती० ३-६।
२. बालरा० १०-९५, नवचम्पकाङ्गी। —कर्पूर० २-४।
३. हनू० ५-३। ४. विद्ध० पृ० १०४।
५. बालचरितम् ३-२।
६. त्वक्पत्रं पराङ्गं स्याद् भृङ्गं चोचं तथोत्कटम्।
—भाव० कर्पूरादिवर्ग ६४।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

चोल की ठीक पहचान कठिन है। इस नाम से किसी वनस्पति का कोष ग्रन्थों या वनस्पतिशास्त्र के ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। "रलयोरभेदः" मानकर यदि चोल को चोर भी माना जावे, तो भी समस्या का समाधान नहीं होता। 'हनूमन्नाटक' में चोल को दक्षिण वनों की वनस्पति कहा गया है। 'अमरकोष' में चोरपुष्पी (शंखाहली) का वर्णन है, परन्तु यह एक लता है। चोरक नाम की एक अन्य वनस्पति एंजेलिका ग्लैन्का एडग्यू का वर्णन मिलता है। परन्तु यह हिमालय में ८–१० हजार फीट की ऊँचाई पर मिलती है। चौलाई नामक वनस्पति छोटा क्षुप है। अतः चोल को पहचानने के लिये नामसादृश्य के आधार पर चोप नामक वनस्पति रह जाती है। यह दालचीनी का ही एक भेद है, जो पहले विन्ध्य वनों में मिलता था। अतः इसको ही चोल मानने की सम्भावना की जा सकती है।

चोप (दालचीनी) मुख्य रूप से दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहों की वनस्पति है। मलाया और सिंगापुर में अधिक होती है। भारत में होने वाली अधिक अच्छी नहीं है। दालचीनी के सदाहरित ऊँचे वृक्ष होते हैं। इसकी छाल मनोहर स्वाद और सुगन्ध से युक्त होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में चोल का अधिक वर्णन नहीं है। केवल 'हनूमन्नाटक' में एक स्थान पर कहा गया है कि दक्षिण वनों में चोल वृक्ष होते हैं।[1]

उपयोग—

यदि चोल को चोप (दालचीनी) माना जावे तो इसकी छाल का उपयोग होता है। यह मसालों में तो पड़ती ही है, चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण, मधु और मधुर-तिक्त है। आमाशय के लिये उत्तेजक, वातानुलोमक और ग्राही है। अनेक आयुर्वेदिक योगों की यह घटक है।

७१. जपा

संस्कृत नाम—जपा, ओड्रपुष्प, त्रिसन्ध्या।[2]
हिन्दी नाम—जवाकुसुम, हुड़हुल।
अंग्रेजी नाम—Shoe-flower.

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।
२. ओड्रपुष्पं जपा चाथ त्रिसन्ध्या······। —भाव० पुष्पवर्ग ५८।

लैटिन नाम—Hibiscus rosa-sinensis.

कुल—Malva ceae.

वर्ग—पुष्पवर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, आश्चर्यचूडामणि, हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

जपा के क्षुप गुल्मों के रूप में होते हैं, ये क्षुप ५–८ फीट तक के हो जाते हैं। पत्ते चमकदार, हरे, अण्डाकार और दन्तुर होते हैं। घण्टे के आकार के ४–६ इंच व्यास के २–३ इंच लम्बे चमकीले लाल रंग के पुष्प होते हैं। इनके मध्य से केसर बाहर लटके रहते हैं। फूल झड़ने पर फलियाँ आती हैं। इनमें अनेक बीज होते हैं। अनेक बार लाल रंग से भिन्न भी पुष्प आते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

गहरे, चमकीले, आकर्षक और रमणीय लाल रंग के कारण [1]जपा के पुष्प भारतीय उद्यानों में बहुत स्पृहणीय माने जाते थे। इसके सौन्दर्य ने सहृदय जनों और कवियों को आकृष्ट किया था। भारतीय उद्यानों में तो इसको लगाया ही जाता था, वनों में भी ये प्राकृतिक रूप से उपलब्ध होते थे।[2] जपा के पुष्प घण्टे की आकृति के होते हैं तथा इनके चौड़े मुख से लम्बे केसर बाहर लटके दृष्टिगोचर होते हैं।

जपा पुष्पों के गहरे लाल रंग को कवियों ने उपमान के रूप में कल्पित किया है। क्षत से रक्त बहने पर उसका रंग जपा-पुष्प के समान होता है।[3] युवतियों के लाल होठों की उपमा भी जपा पुष्पों से दी गई है।[4]

उपयोग—

जपा का उपयोग इसके पुष्पों के सौन्दर्य के कारण सजावट के लिये है। इसका चिकित्सा में भी उपयोग है। यह संग्राहक, केशों के लिये हितकर और शामक है। फलियों को दूध में पीसकर पिलाने से प्रदर में लाभ होता है। गोमूत्र में फलियों को पीसकर लगाने से गंजापन दूर होता है। इससे बाल भी सुन्दर होते हैं। मुख के छालों में जड़ को चबाना चाहिये। पत्तों को व्रणों पर बाँधा जा सकता है। पत्तों का रस कानों की पीड़ा को दूर करता है।

---

१. मालती० पृ० ३१८, नवजपापुष्परक्तम्। —पूर्वमेघ ४०।
२. हनू० पृ० ६८-९०। ३. मालती० पृ० १८।
४. आश्चर्य० ३-३४।

७२. जम्बीर

संस्कृत नाम—जम्बीर, दन्तशठ, जम्भ, जम्भीर, जम्मल ।[1]

हिन्दी नाम—जम्बीरी नीबू, पहाड़ी नीबू ।

अंग्रेजी नाम—Lemon, Citron.

लैटिन नाम—Citrus aurantium Linn.

कुल—Rutaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

जम्बीरी नीबू प्रायः सारे भारत में होता है। उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तामिलनाडू और महाराष्ट्र में अधिक होता है। वृक्ष १०-१२ फीट ऊँचा, झाड़ीनुमा और काँटों से भरा होता है। पत्ते मोटे अण्डाकार और नोकीले होते हैं। मसलने से विशेष गन्ध आती है। पुष्प श्वेत छोटे १-१½ इंच व्यास के होते हैं। फल बड़े ६-७ इच के लम्बे अण्डाकार, और अग्रभाग पर नोकीले होते हैं। सर्दियों में ये पककर पीले हो जाते हैं। इनका ऊपर का छिलका बहुत मोटा तथा अन्दर का रस बहुत खट्टा होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में जम्बीर का वर्णन अधिक नहीं है। इसको वाटिकाओं में तो लगाया ही जाता था, वनों में भी यह स्वतः होता था। हनूमन्नाटक के अनुसार दक्षिण वनों में प्रचुर जम्मीर वृक्ष थे।[2]

उपयोग—

भोजन में मधुर रस के लिये जम्बीर के रस का उपयोग होता है। यह चिकित्सोपयोगी भी है। यह अम्ल रस, पित्तशामक, दीपन और पाचन है। अतिसार और संग्रहणी में उपयोगी है। प्रचुर विटामिन सी होने के कारण स्कर्वी को ठीक करता है। विभिन्न पाचक औषधियों को जम्बीरी के रस में मिलाकर देते हैं। जम्बीरी का शरबत दाहशामक है।

---

१. स्याज्जम्बीरो दन्तशठो जम्भजम्भीरजम्मलः ।

—भाव० आम्रादिफलवर्ग १३४ ।

२ हनूमन्नाटक पृ० ६८-७० ।

७३. जम्बू (जामुन)

संस्कृत नाम—

बड़ी जामुन—फलेन्द्रा, नन्दी, राजजम्बू, महाफला, सुरभिपत्रा, महाजम्बू ।[1]

छोटी जामुन—क्षुद्रजम्बू, सूक्ष्मपत्रा, नादेयी, जलजम्बुका ।[2]

हिन्दी नाम—जामुन (बड़ी), कठजामुन (छोटी) ।

अंग्रेजी नाम—Jambul Tree.

लैटिन नाम—बड़ी जामुन—Eugenia jambolana Lam.

छोटी जामुन—Eugenia heyneana wall.

कुल—Myrtaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, महावीरचरित, हनूमन्नाटक, बालरामायण ।

वनस्पति का परिचय—

जामुन दो प्रकार की होती है। एक का फल बड़ा, अधिक रसीला और स्वादिष्ट होता है। दूसरी का फल छोटा होता है। इसको कठजामुन या वनजामुन भी कहा जाता है। पहली प्रकार की जामुन के वृक्ष प्रायः वाटिकाओं में तथा मार्गों के किनारे लगाये जाते हैं। दूसरी प्रकार के वृक्ष वन्य हैं और प्रायः जलीय तटों पर होते हैं। परन्तु अन्यत्र भी हो सकते हैं। जामुन वृक्ष प्रायः सारे भारत में होते हैं।

जामुन वृक्ष सदा हरित होते हैं। विशाल आकार के वृक्षों की शाखा-प्रशाखायें खूब फैली होती हैं। पत्तियाँ चिकनी, ३–६ इंच लम्बी, १½ इंच चौड़ी तथा आगे से नोकीली होती हैं। कोमल पत्तियों को मसलने से विशिष्ट सुगन्धि आती है। वसन्त-ऋतु में हरिताभ पुष्प मंजरियों में आते हैं। वर्षा-ऋतु में फल पक जाते हैं। फल गहरे जामुनी रंग के होते हैं। ऊपर मीठा गुदा होता है और अन्दर कठोर गुठली होती है।

---

१. फलेन्द्रा कथिता नन्दी राजजम्बूर्महाफला ।
तथा सुरभिपत्रा च महाजम्बूरपि स्मृता ॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ९८ ।

२. क्षुद्रजम्बूः सूक्ष्मपत्रा नादेयी जलजम्बुका ।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १०० ।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन काल में जामुन लोकप्रिय फल था। उत्तम कोटि का जामुन यद्यपि वाटिकाओं में लगाया जाता था, परन्तु यह वनों में भी प्रचुर था। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में जम्बू वृक्षों का वर्णन किया गया है।[१] राजशेखर ने नदियों के तट पर जामुन वृक्षों की उपस्थिति दिखाई है।[२]

जामुन फल कवियों को अति सुन्दर और स्वादिष्ट लगे थे। इनकी प्रशंसा की गई है। पकने पर ये श्यामल हो जाते हैं।[३] और टपटप कर नीचे गिरने लगते हैं।[४] इन काली जामुनों से जम्बू वृक्षों के निकुञ्ज और भी श्यामल हो जाते हैं।[५] कालिदास वर्षा-ऋतु में पकी हुई जामुनों के कारण वन प्रदेशों के श्याम हो जाने का वर्णन करते हैं।[६]

उत्तम कोटि के जामुनों को राजजम्बू कहते थे। पकने पर रस भरे इसके फल अति स्वादिष्ट लगते हैं। इनको कोयल बड़े चाव से खाती है।[७]

उपयोग—

जामुन फल खाद्य है। इस वृक्ष की लकड़ी ईंधन के लिये उपयोगी है। इसके तखते भी चीरे जा सकते हैं। जामुन की छाल वस्त्रों को रंगने के काम आ सकती है।

जामुन का चिकित्सा में भी उपयोग है। इसके फलों का शरबत पाचक और मूत्रल होता है। इसका सिरका अति पाचक है। जामुन की छाल संग्राही होने से अतिसार में उपयोगी होती है। पत्तों का रस अत्यार्तव और रक्तातिसार में दिया जा सकता है। जामुन की गुठली के चूर्ण को मधुमेह में उपयोगी माना जाता है।

७४. जयन्ती

संस्कृत नाम—जयन्ती, सूक्ष्ममूला, जया।
हिन्दी नाम—जयन्ती, जैत।
अंग्रेजी नाम—Jaya.
लैटिन नाम—Seshania aegyhtica poir.
कुल—Fabaceae.

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०। २. बालरा० ४-५१।
३. महावीर० ५-५१। ४. उत्तर० २-२०।
५. फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज........। —मालती० ९-२४।
६. परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः। —पूर्वमेघ २४।
७. विक्रमो० ४-२७।

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

जयन्ती एक सन्दिग्ध द्रव्य है, जिसकी पहचान ठीक प्रकार से नहीं हो सकी है। आयुर्वेद साहित्य में वनस्पति का परिगणन रसायन ओषधियों में किया गया है। 'अमरकोष' के अनुसार यह एक जलीय वनस्पति है, जिसका एक नाम नादेयी (नद्यां भवा) भी है।[1] इसका एक पर्याय जया भी, जो जलवेतस का सूचक है।[2] विजयादशमी पर बोये जाने वाले यव के अंकुरों को भी जयन्ती कहते हैं। तथापि वर्तमान समय में जयन्ती की पहचान सेस्वानिया इंजिप्टिका से की गई है।

जयन्ती प्रायः सारे भारत में होती है। यह वाटिकाओं में भी लगाई जाती है और वनों में भी मिलती है। इसके झाड़ीनुमा पौधे १०-१५ फीट तक ऊँचे हो सकते हैं। पत्तियाँ इमली के आकार की १०-२० युगल पत्रकों के रूप में होती हैं। पत्तियों के मसलने से विशिष्ट गन्ध आती है और इनका स्वाद तिक्त होता है। छोटे पीले-नारंगी फूल आते हैं फूलों के गिरने पर ६–९ इंच लम्बी फलियां केले के आकार की आती हैं। इनमें लम्बे वृक्काकार बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

जयन्ती का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं है। 'हनूमन्नाटक' में इसकी उपस्थिति दक्षिण वनों में दिखाई गई है।[3]

उपयोग—

जयन्ती का उपयोग विशेष रूप से 'चिकित्सा में है। यह रसायन औषधि है। रसौधियों के निर्माण में इसका उपयोग शोधन के कार्यों में किया जाता है। यह वनस्पति उष्ण और कटु है। पत्तों का कल्क लगाने से स्थानीय शोथ और वेदना दूर होते हैं।

७५. जाति (चमेली)

संस्कृत नाम—जाति, जाती, सुमना, मालती, राजपुत्रिका, चेतिका, हृद्यगन्धा। पीली जाति—स्वर्णजातिका।[4]

---

१. अमरकोष २-४-६५। २. विश्वकोष १२३-१०५।

३. हनू० पृ० ६८-७०।

४. जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका।
चेतिका हृद्यगन्धा च सा पीता स्वर्णजातिका।
—भाव० पुष्पवर्ग २७।

हिन्दी नाम—चमेली
अंग्रेजी नाम—Shanish Jasmine
लैटिन नाम—Jasminum grandiblorum Linn
कुल—Oleaceae
वर्ग—पुष्पवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

चारुदत्त, तापसवत्सराज, हनूमन्नाटक, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पतियो का परिचय—

चमेली (जाति) का पौधा सारे भारत में होता है। उद्यानों में इसको शोक से लगाया जाता है। यह वनों में भी स्वतः होता है। वर्तमान समय में इसकी खेती जौनपुर, गाजीपुर और फरुखाबाद में बड़े पैमाने पर की जाती है।

जाति का गुल्म लता के रूप में होता है। शाखायें धारीदार होती हैं। पत्तियाँ ७–११ की संख्या में एक दूसरी के समक्ष होती हैं। अन्तिम पत्ती कुछ बड़ी होती है। पुष्प पत्तियों से कुछ बड़े होते हैं। पुष्प में पाँच पंखुड़ियाँ, बाहर से नीली आभा लिये श्वेत होती हैं। पुष्प अति सुगन्धित हाते हैं। यह बहुवर्षायु पौधा है। एक बार लगाने पर १०–१५ वर्ष तक पुष्प आते रहते हैं। इस पर वर्षा में अधिक पुष्प आते हैं।

एक अन्य प्रकार का जाति पुष्प पीले रंग का होता है। इसको स्वर्णजातिका कहा जाता है। यह जैस्मीनम ह्यूमाइललिन है। इसका पुष्प भी अति सुगन्धित होता है।

काव्यात्मक वर्णन

संस्कृत कवियों ने भारतीय वाटिकाओं में जाति का बहुधा वर्णन किया है। यह वनों में भी प्राकृतिक रूप से होता है। दक्षिण वनों में इसकी उपस्थिति कही गई है।[१] जाति की छाल भी सुगन्धित बताई गई है।[२]

जाति पुष्प वर्षा ऋतु में विकसित होना प्रारम्भ करते हैं और शरद तक खिलते रहते हैं। नन्हीं नन्हीं कलियाँ आकर शीघ्र खिल जाती हैं और मधुर भीनी सुगन्ध से भरी होती हैं। पुष्पों का वर्ण श्वेत होता है। इनको तरुणियों की दन्तपंक्ति का उपमान बनाया गया है।[३]

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।
२. सुरभयो जातीतरुणांत्वचः। —विद्ध० ४-५।
३. तापस० १-१६।

प्राचीन भारतीय जाति पुष्पों के सौरभ पर मुग्ध थे। इसको वे वस्त्रों में रख कर सुगन्धित बनाते थे।[१] यह प्रेमी-प्रेमिका में परस्पर प्रीति भाव को बढ़ाने वाला मान गया था, अतः इसका जाति नाम हुआ (जायते प्रीतिरनया इति जातिः)।

उपयोग—

जाति का उपयोग इसकी सुगन्धि के कारण अधिक है। इसकी विस्तृत खेती करके इतर बनाया जाता है। शौकीन लोग जाति पुष्प धारण करते हैं, इसको बिस्तर में और कपड़ों में रखते हैं।

जाति का चिकित्सा में उपयोग है। यह उष्ण, स्निग्ध और कटु है। इसका बाह्य प्रयोग अधिक है। जड़ को पीस कर मुख पर लगाने से वर्ण सुधरता है। शिश्न पर लेप करने से ध्वजभंग ठीक होता है। दन्तशूल तथा दन्तदौर्बल्य में पत्तियों को चबाना चाहिये। कर्णशूल में पत्तियों का रस डालना चाहिये। नेत्रों के रोगों में पुष्पों का रस डालते हैं और उसको पलकों पर लेप करते हैं। पत्तियों का क्वाथ व्रणों के लिये उपयोगी है तथा सिद्ध तेल व्रणों का रोपण करता है। पक्षाघात में इसकी मालिश भी की जाती है।

७६. जीरक

संस्कृत नाम—

श्वेत जीरा—जीरक, जरण, अजाजी, कणा, दीर्घजीरक।[२]

काला जीरा—कृष्णजीर, सुगन्ध, उद्गारशोधन।[३]

कलौंजी—कालाजाजी, सुषवी, कालिका, उपकालिका, पृथ्वीका, कारवी, पृथ्वी, पृथुकृष्णा, उपकुञ्चिका, उपकुञ्ची, कुञ्ची, बृहज्जीरक।[४]

हिन्दी नाम—श्वेत जीरा, काला जीरा, कलौंजी

अंग्रेजी नाम—श्वेत जीरा—Cumin seed

---

१. जातीकुसुमवासितः प्रावारकः। —मृच्छ० पृ० १४।

२. जीरको जरणोऽजाजी कणा स्याद्दीर्घजीरकः।

—भाव० हरीतक्यादिवर्ग ८१।

३. कृष्णजीरः सुगन्धश्च तथैवोद्गारशोधनः।

—भाव हरीतक्यादिवर्ग ८२।

४. कालाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका।
पृथ्वीका कारवी पृथ्वी पृथुकृष्णोपकुञ्चिका।
उपकुञ्ची तु कुञ्ची च बृहज्जीरक इत्यपि।

—भाव० हरीतक्यादि[illegible]

काला जीरा—Black Caraway seed
कलोजी—Black cumin

लैटिन नाम—

श्वेत जीरा—Cuminum cyminum Linn. कुल—Ahiaceae
काला जीरा—Caram carvi Linn. कुल—Ahiaceae
कनौंजी—Nigella sativa Linn. कुल—Ranun culaceae
वर्ग—हरीतक्यादिवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक।

वनस्पति का परिचय—

'भावप्रकाशनिघण्टु' में जीरे के तीन भेद किये गये हैं—श्वेत जीरा, काला जीरा और कलौंजी। सामान्यत: जीरा शब्द से श्वेत जीरे का ग्रहण किया जाता है।

श्वेत जीरा मसाले की प्रसिद्ध वस्तु है और सारे भारत में होता है। राजपूताना, उत्तरप्रदेश और गुजरात में अधिक होता है। यह प्रतिवर्ष बोया जाता है। इस क्षुप की पतली बहुकोणीय धारीदार शाखायें होती हैं। शीत काल में श्वेत या गुलाबी पुष्प आते हैं। इसके पश्चात् गुच्छों में फल आते हैं। फल धूसर वर्ण के लगभग चौथाई इंच लम्बे होते हैं। इनमें ऊपर छिलका तथा अन्दर बीज रहता है।

काला जीरा ऊँचे हिमालय पर ६–११ हजार फीट पर होता है। काश्मीर, गढ़वाल, कुमायूँ, अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान में इसकी खेती की जाती है। क्षुप १–२ फीट ऊँचा, शाखा कोमल और हरित, पत्ते छोटे-कटे हुये, पुष्प श्वेत छत्राकार और कुछ टेढ़ापन लिये हुये भूरे-काल १/६ इंच लम्बे दोनों और नोकीले होते हैं। श्वेत जीरे की अपेक्षा यह अधिक सुगन्धित होता है।

कलौंजी पूर्वी भारत में अधिक बोई जाती है। पंजाब में भी कुछ होता है। इसका क्षुप छोटा, पत्ते कटे हुये लम्बे, पुष्प हल्के नीले तथा फलियाँ आधा इंच लम्बी होती हैं। त्रिकोणाकार बीज तिल से कुछ बड़े बहुत काले छिलके के अन्दर श्वेत गुदा होता है। इसकी गन्ध अत्यधिक तीक्ष्ण होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में जीरे का वर्णन अधिक नहीं हुआ। केवल 'मृच्छकटिक' में वर्णन आया है कि हींग, जीरा, बचा, मोथा और शुण्ठी के साथ गुड़ को मिलाकर लेने से स्वर मधुर होता है।[१]

---

१. हिंगूज्ज्वला जीरकमद्रमुस्वा वचायाः ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति॥

—मृच्छ० ८-१३।

उपयोग--

जीरा भारतीय मसालों का प्रमुख घटक है। इसके निमित्त प्रायः श्वेत जीरे का प्रयोग होता है। जीरा कहने से सामान्यतः इसका ही ग्रहण किया जाता है। काला जीरा (कृष्णजीरक) और कलौंजी (कालाजाजी) अधिक महँगे और तीक्ष्ण वस्तुयें हैं। इनका प्रयोग औषधियों में अधिक हैं।

चिकित्सा में भी जीरे का उपयोग है। यह दीपन, पाचन, शूलशामक, मूत्रल और उत्तेजक है। अनेक पाचक औषधियों का यह घटक हैं।

७७. तगर

संस्कृत नाम—

तगर—कालानुसार्य, तगर, कुटिल, नहुप, नल।[1]

पिण्डतगर—पिण्डतगर, दन्तहस्ती, बर्हिण।[2]

हिन्दी नाम—सुगन्धबाला।

अंग्रेजी नाम—Indion valerian.

लैटिन नाम—Valeriana Wallichi DC.

कुल—Voluianaceae.

वर्ग—

नाटकों के उल्लेख---

हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय---

तगर के पौधे ऊँचे हिमालय पर (७–१० हजार फीट) होते हैं। इन छोटे क्षुपों का काण्ड ऊपर सीधा $१\frac{१}{२}$ फीट तक चला जाता है तथा शिखर पर पत्तों का गुच्छा होता है। मूल के समीप भी १–३ इंच लम्बे और १–२ इंच चोड़े पत्ते होते हैं। पुष्प श्वेत या हल्के गुलाबी होते हैं। स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प अलग-अलग पौधों पर आते हैं। फलों तथा पत्तों पर रोम होते हैं। इस पर जून-जुलाई में पुष्प और सितम्बर-अक्टूबर में फल लगते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

तगर का वर्णन संस्कृत नाटकों में कम ही है। 'हनूमन्नाटक' में इसकी उप-

---

१. कालानुसार्यं तगरं कुटिल नहुषं नलम्।
—भाव० कर्पूरादिवर्ग २८।

२. अपरं पिण्डतगरं दण्डहस्ती च बर्हिणम्।
—भाव० कर्पूरादिवर्ग २८।

स्थिति दक्षिण वनों में दिखाई गई है।[1] परन्तु यह वर्णन कवि की असावधानता का द्योतक है, क्योंकि तगर ऊँचे हिमालय की वनस्पति है। तगर को कवियों ने प्रकृति-चित्रण में उपमान बनाया है। इससे छोटे श्वेत सुगन्धित पुष्प खिलते हैं। आकाश में मन्द टिमटिमाते प्रातः कालीन तारे तगर पुष्पों के समान होते हैं।[2]

उपयोग—

तगर का उपयोग हवन सामग्री में सुगन्धि के कारण किया जाता है। यह सुगन्ध इसमें विद्यमान वाष्पशील तेल के कारण है। यह ताजी अगर में अधिक होता है। तगरमूल इस उपयोग में आता है। इस मूल को वसन्त ऋतु में संग्रहीत करना चाहिये।

तगर चिकित्सा में उष्ण तथा कटु-तिक्त है। यह हृदय को उद्दीप्त करता है और कास-श्वास रोगों में हितकर है। शामक होने से यह विभिन्न उत्तेजनाओं को शान्त करता है। इसकी क्रियायें अंग्रेजी दवा वैलेरियन के समान हैं। अतः इसको भारतीय वैलेरियन कहा जाता है।

७८. तण्डुल

संस्कृत नाम—तण्डुत, धान्य।
हिन्दी नाम—चावल
अंग्रेजी नाम—Rice Paddy
लैटिन नाम—Oryga sativa Linn. **कुल**—Graminae
वर्ग—धान्य वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, अनर्घराघव

वनस्पति का परिचय—

सामान्यतः चावल या धान को तण्डुल कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के चावलों का समावेश हो जाता है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में तण्डुल का पाठ कृतान्नवर्ग में है। तण्डुल प्रमेहनाशक और कृमिघ्न है परन्तु नया तण्डुल पचने में भारी होता है।[3]

चावल की खेती प्रायः सारे भारत में होती है। संस्कृत कवियों ने चावल के

१. हनू० पृ० ६८–७०।
२. बालरा० ७–१।
३. तण्डुलो मेहजन्तुघ्नः स नवस्त्वतिदुर्जरः
—भाव० कृतान्नवर्ग १८४।

खेतों का सुरम्य वर्णन किया है। कोष ग्रन्थों में विडङ्ग को भी तण्डुल कहा गया है।[1] परन्तु संस्कृत नाटकों में वर्णित तण्डुल को चावल ही समझना चाहिये।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में तण्डुल का वर्णन कम ही है, यद्यपि यह भारत में प्राचीन काल से ही प्रधान खाद्यान्न रहा है। 'मृच्छकटिक' में सूत्रधार अपने घर में विशेष समारोह में तण्डुल पकते देखता है।[2] मुरारि ने विस्तृत फैले तण्डुल के खेतों का वर्णन किया है।[3]

उपयोग—

तण्डुल प्रधान भारतीय खाद्यान्न है और इसके अनेक भेद हैं। नया तण्डुल बल्य, किन्तु भारी होता है। पुराना शीघ्र पचने वाला है। तण्डुल को अनेक प्रकार से लिया जाता है। इसको उबाल कर दाल और सब्जी के साथ खाते हैं। दाल मिला कर कुशरा (खिचड़ी) पकाते हैं।[4] दूध में पकाने से क्षीर (खीर) बनती है। नारियल की गिरी और तण्डुल को दूध में पकाने से नारिकेल क्षीर बनती है।[5] यह अति स्निग्ध, शीतल और पुष्टिदायक है।[6]

७६. तमाल

संस्कृत नाम - तमाल, तापिच्छ, कालस्कन्ध, अमितद्रुम, लोकस्कन्ध, नीलध्वज, नीलताल।[7]

हिन्दी नाम—तमाल

अंग्रेजी नाम—Indian Gamb uge Tree

लैटिन नाम—Garcinia morella Desr.

कुल—Clansenaceae

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, महावीरचरित, मालतीमाधव, रत्नावली, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी।

---

१. अमरकोष २-४-१०६, भाव० हरीतक्यादिवर्ग १११।

२. मृच्छ० पृ० ८। ३. अनर्घ०।

४. भाव० कृतान्नवर्ग ६। ५. भाव० कृतान्नवर्ग ११-१२।

६. भाव० कृतान्नवर्ग १७-१८।

७. तमाल उक्तस्तापिच्छः कालस्कन्धोऽमितद्रुमः।
लोकस्कन्धो नीलध्वजो नीलतालश्च स स्मृतः।
—भाव० वटादिवर्ग ४३।

वनस्पति का परिचय—

प्राचीन कवियों ने तमाल वृक्ष का प्रचुर बर्णन किया है। यह लगभग सारे भारत में वर्णित है, परन्तु समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में अधिक होता है।

तमाल वृक्ष की पहचान कुछ संशयास्पव है। आयुर्वेद साहित्य में तेजपत्र को भी तमाल कहा गया है।[1] इसका अंग्रेजी नाम इन्डियन सिनेमोम, लैटिन नाम सिनेमोमम तमाला नीस और कुम लौरेसी है। यह हिमालय पर ३०००–७००० फीट की ऊँचाई पर मिलता है। इसको देसी दालचीनी भी कहते हैं। इसका पता तेजपत्र के नाम से मसालों और औषधियों मे व्यवहृत होता है। परन्तु रूपकों में जिस तमाल वृक्ष का वर्णन है वह मैदानी और समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में स्थित है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (सी. एस. आई. आर.) के प्रकाशन 'भारत की सम्पदा—प्राकृतिक पदार्थ' के तीसरे खण्ड में तमाल नाम से तीन वृक्ष कहे गये हैं—

१. गार्सिनिया मोरेला—

मह मध्यम आकार का सदाहरित वृक्ष है। इसके पत्ते अण्डाकार और नोकीले होते हैं। गहरे नीले रंग के पुष्प एकलिंगी होते हैं। इनमें पुंपुष्प स्त्रीपुष्प की अपेक्षा कुछ बड़े होते हैं। फल छोटे बेर के आकार के (लगभग तीन चौथन्ई इंच) चार खण्डों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक खण्ड में एक बीज होता है। पुराने वृक्ष की छाल को चीरा लगाने पर सुनहरी रङ्ग का तरल बहता है। इसको गैम्बोज कहते हैं। इसको सुखा कर किण्डों के रूप में एकत्रित किया जाता है। गैम्बोज का उपयोग स्याही बनाने, रंगाई करने तथा विरेचन के रूप में होता है।

२. गार्सिनिया क्सैन्यकाइमस—

यह मध्यम आकार का सदाबाहर झाड़ीनुमा पौधा है। पत्ते गहरे हरे, नोकीले, और लम्बे होते हैं। फल पकने पर पीले, चिकने और गोलाकार होते हैं। फलों में रसदार गूदा रहता है, जो हलका अम्लीय होता है। इसका भोजन में अम्लीय रस के रूप में उपयोग किया जा सकता है। वृक्ष के तने और शाखाओं की छाल से एक गोंद जैसा रसीला लेस निकलता है। ये वृक्ष पूर्वी हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा दक्षिण भारत के अनेक प्रदेशों में होते हैं।

३. डायोस्पाइरस मोन्टाना—

यह मध्यम आकार का झाड़ीनुमा पौधा है। इस पर कांटे होते हैं। वसन्त में

---

१. वनोषधिदर्शिका—रामसुमर्गसिंह, हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश—प्रथम संस्करण पृ० १८३।

पतझड़ होता है। यह वृक्ष सारे भारत में मिलता है। अनेक बार लम्बे वृक्ष भी हो जाते हैं। ये ७५ फीट तक चले जाते हैं। पत्ते गहरे हरे तथा घनी छाया वाले होते हैं। इस वृक्ष का फल स्वाद में तीखा तथा गन्ध वाला होता है।

तमाल के इन तीनों भेदों में गार्सिनिया मोरेला ही संस्कृत नाटकों का तमाल वृक्ष अधिक प्रतीत होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

तमाल वृक्षों के गहरे हरित श्यामल सौन्दर्य ने भारतीय कवियों को बहुत आकृष्ट किया था। कवियों ने इसका बहुधा वर्णन किया है। दक्षिण भारत में ये प्रचुर होते हैं। राजशेखर ने वर्णन किया है कि राम-रावण युद्ध में वानरों ने जिन वृक्षों का आयुधों के रूप में प्रयोग किया था, उनमें तमाल भी थे।[1]

समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में तमाल का अधिक वर्णन है।[2] यहाँ इनके इस प्रकार के गुल्म बन जाते थे कि उनमें सरलता से छिपा जा सकता था।[3] तमाल वृक्षों को वटिकाओं में भी लगाया जाता था।[4] यहाँ इनकी सीधी सुन्दर पंक्तियाँ होती थी।[5] तमाल वृक्षों की वाटिकाओं को तमालवीथिका कहा गया था।[6]

तमाल के पत्ते गहरे हरित श्यामल होते हैं। बड़े और चौड़े होते हैं। इस गहरे वर्ण के कारण इनकी उपमा मेघों से दी गई है।[8] वर्षा ऋतु में तमाल और भी समृद्ध हो जाते हैं।[9] इनके पत्ते अधिक श्यामल हो जाते हैं। पत्तों के गहरे रंग के कारण और अधिक घना होने के कारण वाटिकाओं की तमाल वीथियाँ अन्धकार से आच्छन्न रहती थी।[10] कवियों ने उपमा दी है कि सन्ध्या काल के पश्चात् आकाश को घेरती हुई अन्धकार की पंक्तियाँ तमाल वृक्षों के गुच्छों जैसी प्रतीत होती हैं।[11] तमाल के पुष्पों का भी वर्णन मिलता है। ये गहरे नीले रंग के होते हैं।[12]

कवियों ने तमाल का प्रसाधन के रूप में भी वर्णन किया है। युवतियाँ तमाल के पत्तों को निचोड़ कर उसके नीले रस से पत्ररचना करती थीं और तिलक लगाती थीं।[13] वे तमाल के पत्तों को कानों में भी लटका लेती थीं।

---

१. बालरा० पृ० ५२८। २. नागा० पृ० ३२।
३. मुद्रा० ३-२४। ४. रत्ना० पृ० ५०।
५. कर्पूर० पृ० १ ६। ६. रत्ना० पृ० ८०।
७. मालती० ९-१८।
८. मालती० ९-२४, एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः।
—मृच्छ० ५-४६।
९. एतैरार्द्रतमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभः। —मृच्छ० ५-२०
१०. रत्ना० पृ० ५०। ११. मालती० ५-६।
१२. महावीर० ५-४२। १३. पाद० श्लोक १०५।

उपयोग—

तमाल वृक्ष से भारतीय अति प्राचीन काल से परिचित हैं। सौन्दर्य के कारण इनको वाटिकाओं में लगाया जाता था। युवतियां इनके पुष्पों, पत्तों और पत्ररस का उपयोग प्रसाधन-अलङ्कार के रूप में करती थीं। तमाल की घनी छाया धूप को दूर करती है और अन्धकाराच्छन्न प्रदेश प्रेमियों के मिलने के स्थल हो सकते हैं।

तमाल का फल स्वाद में तीखा और सगन्ध है। इसका प्रलेप फोड़ों पर लगाते हैं। पत्तियां जानवरों का उत्तम चारा है। पत्तियों को पीस कर मछलियों का चारा बनता है। तमाल का रस (गेम्बोज) चिकित्सा में काम आता है। यह तीव्र विरेचक और कृमिघ्न है। जलोदर और उदरकृमि में इसको विरेचन के रूप में दिया जा सकता है। अधिक मात्रा में यह विषैला है। एक ड्राम मात्रा से तीव्र विरेचन होकर मृत्यु हो सकती है।

गेम्बोज का उपयोग रंगाई में बहुत किया जाता है।

८०. ताम्बूल

संस्कृत नाम—ताम्बूलवल्ली, ताम्बूली, नागिनी, नागवल्लरी, ताम्बूल।[१]

हिन्दी नाम—पान।

अंग्रेज़ी नाम—Betel Leab.

लैटिन नाम—Piper betle Linn, **कुल**—Piperaceae.

वर्ग—

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, नागानन्द, मालतीमाधव, चण्डकौशिक, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण, बालभारत।

वनस्पति का परिचय—

ताम्बूल (पान) भारतीय वनस्पति है और भारत के विभिन्न भागों में इसकी खेती की जाती है। स्थान के भेद से यह अनेक प्रकार का होता है—बंगला, महोबा, भोजपुरी, देसावरी, मुंगिया, मालवा, मदरासी, अहमदाबादी आदि।

पान की आरोही लता के हृदयाकार छोटे या बड़े पत्ते आगे से नोकीले होते हैं। इसकी खेती सावधानी से करनी होती है। यह अत्यधिक कोमल वनस्पति हैं और अधिक शीत या उष्णता को सहन नहीं कर सकती। उपयुक्त भूमि में छायादार स्थान बना कर लता को भूमि में रोप दिया जाता है। लताओं के अरोहण के लिये या तो खपच्चियां लगाई जाती हैं, अथवा पीपल, ऐरण्ड आदि वृक्ष लगा दिये जाते

---

१. ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी। ताम्बूलम्...।

भाव० गुडूच्यादिवर्ग १०।

हैं। प्राय: १ से २ वर्ष में पान की फसल मिलने लगती है। एक लता से अनेक वर्ष तक फसल मिलती है। पान पर वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल आते हैं और मंजरी रूप पुष्पों पर गांठों के रूप में लटकते हैं। पान की बेल का पत्ता ही पान के रूप में प्रयुक्त होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

ताम्बूल (पान) का प्रयोग भारत में अति प्राचीन काल से होता रहा है। यह ताम्बूलवल्ली और नागवल्ली नाम से भी प्रसिद्ध है। राजशेखर ने समुद्रतटवर्ती भूमियों में पान की लताओं का वर्णन किया है।[1] इनको वाटिकाओं में भी लगाया जाता था।[2] पान की लता किसी सबल आश्रय से बढ़ती है। खेतों में इसको बोकर छोटे वृक्षों या बांसों के सहारे से बढ़ाया जाता है। अत: कवियों ने पान की लता के सुपारी वृक्षों के आश्रय से बढ़ने के कवित्वमय वर्णन किये हैं।[3] पान का सुपारी के साथ विशेष सम्बन्ध है भी, क्योंकि पान को सुपारी डाल कर ही खाया जाता है। पान की बेल द्वारा सुपारी वृक्ष का आश्रय लेना ऐसा ही है, जैसे कि प्रिय का मिलन होना।[4]

प्राचीन भारत में शौकीन जन पान अवश्य खाते थे। इसको स्वस्थ्य के लिये उपयोगी समझा गया था।[5] समृद्ध घरों में पान लगाने और देने के लिये विशेष सुन्दर सेविकायें नियुक्त होती थीं। इनको ताम्बूलकरवाहिनी कहा गया था।[6] वेश्याओं के घरों में विलासी जनों के लिये पान को प्रस्तुत करने का विशेष रिवाज था। शूद्रक ने वर्णन किया है कि वेश्याओं के विलास गृहों में वेश्याओं और उनके प्रेमियों को कपूर से युक्त पान दिया जाता था।[7]

पान में कत्था, सुपारी, कपूर आदि लगा कर खाया जाता था। इस प्रकार का पान वीटिका (बीड़ा) कहलाता था। पति प्रेम से इसको पत्नी को खिलाते थे।[8] प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं को इससे प्रसन्न करते थे।[9] पान प्रसाधन का भी साधन रहा। इसके खाने से होठ लाल हो जाते हैं।[10] शौकीन महिलाओं और वारांगनाओं को ये अति प्रिय थे। मालती के साथ नगर-देवता का पूजन करने के लिये गई हुई वारांगनाओं के कपोल मण्डलों में पान भरे हुये थे।[11]

---

१. नालरा० २-२३। २. मालती० ६-१६।
३. बालरा० १-६३। ४. विद्ध० ४-११।
५. सुश्रुतसंहिता—सूत्रस्थान २४-१९-२०।
६. बालभा० पृ० १८।
७. दीयते वेश्याकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। —मृच्छ० पृ० १७८।
८. हनू० २-१३। ९. नागा० पृ० १०२।
१०. चण्ड०। ११. मालती० पृ० २६०।

पानों में अनेक भेद प्रसिद्ध थे और इनको विविध प्रकार से दिया जाता था। ऋतु विशेष के अनुसार पान के पत्तों के प्रयोग का संकेत दिया गया है। ग्रीष्म ऋतु में पीले पड़े हुये पान का प्रयोग करना चाहिये।[1]

पान खाने का रिवाज भारत में बहुत प्रचलित है। इसमें विविध मसाले—कत्था, चूना, सुपारी इलायची आदि डाल कर खाया जाता है। अनेक व्यक्ति इनमें तम्बाकू भी डलवाते हैं। परन्तु प्राचीन भारत में तम्बाकू का प्रयोग नहीं था। शौकीन जन इसमें केसर, कस्तूरी तथा अन्य भी सामग्रियां डलवा लेते हैं। प्राचीन समय से यह आतिथ्य का लोकप्रिय साधन रहा है।

पान का चिकित्सा में भी प्रचुर प्रयोग है। इसमें विशिष्ट गन्ध और स्वाद है। यह उष्ण और तिक्त है। ये गुण इसमें विद्यमान वाष्पशील तेल के कारण है। पान को वातकफनाशक, पित्तप्रकोपक, उत्तेजन, हृदय के लिये बल्य, वाजीकरण और पौष्टिक माना गया है। पान के पत्तों का रस अनुपान के रूप में देते हैं। अनेक आयुर्वेदिक योगों में यह काम आता है।

८१. ताली (ताल)

संस्कृत नाम—ताल, लेख्यपत्र, महोन्नत, तृणराज।[2]

हिन्दी नाम—ताड़।

अंग्रेजी नाम—Palmyra Palm.

लैटिन नाम—Borassus flabelliflr Linn. **कुल**—Palmae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

प्रतिज्ञायोगन्धरायण, बालचरित, पञ्चरात्र, मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

ताड़ के वृक्ष प्रायः सारे भारत में मिलते हैं। गरम और शुष्क प्रदेशों में ये अधिक होते हैं। वनों में स्वयं उग आते हैं। इनको बोया भी जाता है।

ताड़ के वृक्ष सीधे ऊँचे १०० फीट तक चले जाते हैं। स्तम्भ के समान इनके काण्ड की गोलाई ३–७ फीट तक हो सकती है। ऊपर के सिरे पर ३–७ फीट तक के घेरे में ३०–४० पत्ते एक साथ सटे हुये गोलाकार और किनारोदार होते हैं। इस पर वसन्त में पुष्प होते हैं। ये पुष्प और स्त्री दो प्रकार के होते हैं। परागीकरण की प्रक्रिया होकर स्त्रीपुष्प पर फल लगते हैं। ताड़ का फल बड़े आकार ६–८ इंच

---

१. कर्पूर० ४-५।

२. तालस्तु लेख्यपत्रः स्वात् तृणराजो महोन्नतः।
भाव० आम्रादिफलवर्ग ५२।

व्यास का गोलाकार होता है। पका फल रेशेदार गूदे से भरा हुआ मीठा खाने के योग्य होता है। प्रत्येक फल में १–३ बीज होते हैं। इनके चारों ओर स्वादिष्ट गूदा लगा रहता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में ताली (ताड़) वृक्षों का प्रचुर वर्णन है। ये विन्ध्य तथा दक्षिण भारत में अधिक थे। भास के अनुसार विन्ध्य वनों में सुनहरे ताल के वृक्ष प्रचुर थे।[१] राम और बाल के युद्ध में ताली वृक्षों को पौराणिक महत्व प्राप्त हुआ है। राम ने एक ही बाण से सात ताड़ वृक्षों को बींध कर अपनी शक्ति का परिचय दिया था।[२] राम-रावण युद्ध में वानरों ने प्रहार के लिये जिन वृक्षों का उपयोग किया था, उनमें ताल वृक्ष थी थे।[३]

ऊपर के वर्णन से प्रतीत होता है कि ताड़ वृक्ष वनों में प्रायः स्वतः उग आते थे। परन्तु समृद्ध जन और राजा ताल वृक्षों के वन भी लगाते थे। कालिदास ने राजा प्रद्योत के स्वर्णिम ताल वृक्षों का सकेत दिया है।[४]

कवियों ने ताली के पत्तों में मनोरम सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना की हैं। इसके पत्ते बड़े अकार के होते हैं। वर्षा की बूंदें गिरने पर इनसे मधुर उच्च ध्वनि होती है।[५]

ताली के पत्ते सूखने पर पाण्डु वर्ण हो जाते है।[६] कवियों को यह पाण्डु वर्ण इतना सुन्दर लगा कि उन्होंने सूखे तालपत्र को विरहिणी नायिका के पाण्डु वर्ण मुख का उपमान बना दिया।[७]

तालीपत्रों का उपयोग अति प्राचीन काल से विविध कार्यों के लिये होता रहा है। इन पर लिखने का कार्य किया जाता था।[८] तालोपत्र पर लिखकर इस लिये लिफाफा भी तालोपत्र का ही बनाया जाता था।[९] ताल के पत्ते का उपयोग पंखों और चटाइयों को बनाने के लिये भी किया जाता था। इनकी छोटी-छोटी पिटारियाँ सामान रखने के लिये भी बनाई जाती थी।[१०]

---

१. अस्माद् घनात् कनकतालवनैकदेशात्। प्रतिज्ञा० २-२।
२. हनू० ५-४४। ३. बालरा० पृ० ५२८।
४. हैमं तालद्रुमवनमभूत् तत्र तस्यैव राज्ञ,। —पूर्वमेघ ३५।
५. तालीषु तारम्। —मृच्छ० ५.२२।
६. मालती० ८-१। ७. कर्पूर० पृ० ७५।
८. विद्ध० ३-२१।
९. तालीदलसम्पुटम्। — विद्ध० पृ० ८५।
१०. तालवृन्ताधरे। —विक्रमो० पृ० २३९।

ताली के फलों के उपयोग का उल्लेख हुआ है। ग्रामों के बालक इनको एकत्रित करते रहते थे। वृन्दावन के समीप के ताल वन में गोपाल बालक ताल के फलों को एकत्र करने जाया करते थे।[1] कवियों ने ताल वृक्षों पर मधुमक्खियों द्वारा छत्ते बनाने का भी वर्णन किया है।[2]

उपयोग—

प्राचीन काल में ताल के पत्तों का उपयोग लिखने के लिये होता था। इसके पत्तों से पंखे, चटाइयां, पिटारी आदि भी बनते थे। ताल का फल खाया जाता था।

ताल से नीरा भी प्राप्त होती है। ताल के पुष्पिघ अक्ष पर चीरा लगाने से एक मीठा द्रव स्रवित होता है। ताजी अवस्था में यह नीरा कहलाता है, कुछ समय रखने पर इसमें किण्वीकरण होने पर यह ताड़ी कहलाता है और पीने पर नशा करता है। नीरा को पका कर गुड़ तथा खांड भी बनाये जा सकते हैं।

ताल का उपयोग चिकित्सा में भी है। फल शीतल और बल्य है। बीज मूत्रल होते हैं। नारा जत्तेजक और बल्य तथा मूत्रल है। यह स्वाद से पी जाती है। ताल का गुड खांसी के लिये अच्छा है।

८२. तिनिश

संस्कृत नाम—तिनिश, स्यन्दन, नेमी, रथद्रु, वञ्जुल।[3]

हिन्दी नाम—साधन, सानन।

अंग्रेजी नाम—Sandhan.

लैटिन नाम—Ougeinia dalbergioides Benth. **कुल**—Leguminosae.

वर्ग—वटादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

तिनिश वृक्ष हिमालय प्रदेश में तराइयों में और लगभग ३००० फीट की ऊँचाई तक मिलते हैं। ये मध्य भारत, दक्षिण भारत, बम्बई और मारवाड़ के प्रदेशों में भी होते हैं।

तिनिश वृक्ष २०–४० फीट ऊँचे और लगभग ५ फीट तक मोटे तने के होते हैं। छाल पर क्षत होने पर दानेदार लाल रंग की गोंद निकलती है। पत्ते ३–६ इंच

---

१. गोपजनैः परिवृतः तालफलानि ग्रहीतुं तालवनं गतः।
—बालच० पृ० ५५।

२. ताली मधुपटलचक्रेण महता। —पञ्चरात्र १-१६

३. तिनिशः स्यन्दनो नेमी रथद्रुर्वञ्जुलस्तथा। —भाव० वटादिवर्ग ७५।

लम्बे तथा ढाक के समान ३–३ के समूहों में निकलते हैं। वसन्त में लाल-गुलाबी, हलके सुगन्धित पुष्प खिलते हैं। गर्मियों में २–१ इंच लम्बी चपटी भूरे रंग की फली आती है। इसमें २–५ बीज रहते हैं। तिनिश वृक्ष की काष्ठ मजबूत और कठोर होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में तिनिश वृक्ष का अधिक वर्णन नहीं है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण वनों में तिनिश वृक्ष थे।[1] राजशेखर ने लिखा है कि राम-रावण युद्ध में वानरों ने राक्षसों पर प्रहार के लिये जिन वृक्षों को लिया था, उनमें तिनिश भी थे।[2]

उपयोग—

तिनिश की काष्ठा के मजबूत और कठोर होने के कारण इससे गाड़ी के धुरे, चारपाई के पाये आदि बनाये जाते हैं। प्राचीन समय में रथों के बनाने के लिये इसका उपयोग होता था, अतः इस वृक्ष का नाम स्यन्दन, नेमी और रथद्रु हुआ।

तिनिश का चिकित्सा में भी उपयोग है। छाल का क्वाथ ज्वर को दूर करता है। गोंद को अतिसार में देते हैं।

८३. तिन्तिडी (इमली)

संस्कृत नाम—अम्लिका, चुक्रिका, अम्ली, चुक्रा, दन्तशठा, अम्ला, चिञ्चिका, चिञ्चा, तिन्तिडीका, तिन्तिडी।[3]

हिन्दी नाम—इमली।

अंग्रेजी नाम—Tamarind.

लैटिन नाम—Tamarindus indica Linn. **कुल—**Leguminosae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

वनस्पति का परिचय—

इमली वृक्ष प्रायः सारे भारत में होते हैं। यह वनों में स्वाभाविक रूप से भी होता है। सघन छाया के कारण मार्गों के दोनों ओर लगाया जाता है। अमेरिका, अफरीका बर्मा और दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहों में भी ये मिलते हैं।

---

१. हनू० पृ० ६८–७०। २. बालरा० पृ० ५२८।

३. अम्लिका चुक्रिकाऽम्ली च चुक्रा दन्तशठापि च।
अम्ला च चिञ्चिका चिञ्चा तिन्तिडीका च तिन्तिडी।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १४२।

इमली के विशाल ऊँचे घनी छाया वाले वृक्ष होते हैं। नन्हीं-नन्हीं पत्तियां १०-१२ के युग्मों में होती हैं। इनका स्वाद खट्टा होता है। इमली पर ग्रीष्म के प्रारम्भ में पुष्प आते हैं, जो गुच्छों के रूप में नीचे लटकते हैं। पुष्पों के झड़ने पर फलियों के रूप में इमलियां नीचे लटक जाती हैं। सरदियों के अन्त तक ये पक जाती हैं। पकी फली पर ऊपर कड़ा छिलका होता है और अन्दर कोमल गहरे भूरे-काले रंग का गूदा भरा रहता है। गूदे के अन्दर कठोर बीज चिपटे रहते हैं। बीजों में गिरी रहती है। बीज को भुनवा कर गिरी को अलग कराया जा सकता है।

तिन्तिडीक नामक एक अन्य भी वनस्पति है। यह इमली से भिन्न है। इसको हिन्दी में समाकदाना, लैटिन में रहस पर्वीफोलिया राक्सब कहते हैं। इसका कुल ऐनाकार्डिएसी है। यह गुल्म वनस्पति है जिसके गुठलीदार खट्टे फल होते हैं। समाकदाना विदेशी वनस्पति है तथा रूपकों में उद्धृत तिन्तिडीक से भिन्न है।

काव्यात्मक वर्णन—

तिन्तिडीक (इमली) का वर्णन संस्कृत नाटकों में कम ही है। हनूमन्नाटक के अनुसार इसके वृक्ष दक्षिण वनों में होते हैं।[1] इमली के अम्ल रस को स्पृहणीय माना गया था। बहुत अधिक मीठा खाकर ऊबे हुये व्यक्ति को इमली खाने की इच्छा होती है।[2]

उपयोग—

इमली की मजबूत काष्ठ से पहिये आदि बनाये जाते हैं। इमली की फली को भोजन में अम्ल रस के लिये लिया जाता है। चिकित्सा में भी यह उपयोगी है। फली का गूदा, बीज पत्ती, पुष्प और क्षार सभी चिकित्सा में भी उपयोगी हैं। इमली के गूदे का पन्ना शीतल और सन्तापहर है। इसके बीज प्रमेहनाशक तथा वीर्यस्तम्भक हैं। परन्तु ये रुक्ष हैं। इमली का क्षार मूत्रल है। इसको उदरशूल और सूजाक में दिया जा सकता है।

८४. तिल

संस्कृत नाम—तिल।
हिन्दी नाम—तिल।
अंग्रेजी नाम—Sesame Gingelli.
लैटिन नाम—Sesamamum indicum Linn. **कुल**—Pedaliaceae.
वर्ग—धान्य वर्ग।

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।
२. पिण्डखजूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिड्यां तेऽभिलाषः। —अभिज्ञान० पृ० २०२।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चण्डकौशिक, अनर्घराघव, कर्पूरमञ्जरी।

वनस्पति का परिचय—

तिल की खेती प्रायः सारे भारत में होती है। खानदेश और गुजरात में यह अधिक होता है। वन्य तिलों का भी उल्लेख हुआ है।

प्राचीन वनस्पतिविज्ञान में रंग के भेद से तीन प्रकार के तिल बताये गये हैं—कृष्ण, सित और रक्त। तिल वन्य भी होता है, जिसको वन्य या अल्पतिल कहा गया है।

तिल को वर्षा से पहले बोया जाता है। क्षुप १–३ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड तथा पत्तियों पर रोम होते हैं। मध्य भाग की पत्तियां दन्तुर और ऊपर के भाग की सीधी नोकीली होती है, श्वेत, बैंजनी या पीले पुष्प वर्षा के बाद गुच्छों में लगते हैं। पुष्पों के झड़ने पर १-१½ इंच लम्बी चपटी फलियां लगती है। इनमें बीज रूप नन्हें तिल भरे रहते है।

काले तिल को अधिक अच्छा माना जाता है। इसका काला छिलका उतार देने पर अन्दर श्वेत तिल्ली निकलती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने तिलों का प्रायः उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में अधिकतर तिलों का तेल प्रयोग में लाया जाता होगा। इसी कारण इसको तेल कहा गया। तिल खेतों में बोये जाते थे और इनको तिलक्षेत्र कहा जाता था।[1] विद्यालयों के समीपवर्ती क्षेत्रों में भी तिलों की खेती की जाती थी। तिल की खेती के लिये उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती हैं। रेतीली भूमि में तिल नहीं होते।[2]

कवियों ने तिलों का उपमान के रूप में भी उल्लेख किया है। अति सूक्ष्मता के ये उपमान है।[3] श्वेत तिल श्वेतिमा के उपमान है। चन्द्रमा इनके सदृश है।[4]

पवित्र माने जाने के कारण पूजा के कार्यों और संस्कारों में तिलों का विशेष महत्व था। मृत व्यक्ति के लिये तिलों से मिश्रित जल की अंजलि अर्पित की जाती थी।[5] श्राद्धों में तिलों का दान किया जाता था।[6]

---

१. चण्ड० पृ० १५७।
२. न हि पुलिनेषु तिलस्य सम्भवोऽस्ति। —कुन्द० ६-२२।
२. कर्पूर० ३-१५। ४. अनर्घ० २-७६।
५. सिञ्चतं मे तिलोदकम्।—अभिज्ञान० पृ० २३६।
६. औषधीषुः तिलाः। —प्रतिमा० पृ० १३५।

उपयोग—

तिलों का उपयोग भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है । तेल बनाने के लिये ये विशेष उपयोगी हैं । श्वेत तिलों में तेल की मात्रा अधिक, ५० प्रतिशत तक हो सकती है । तिलों के बीज भोजन में उपयोगी है, ये उष्ण, मधुर, पवित्र पौष्टिक आहार है । तिल मिश्रित भोजन करने से कब्ज नहीं रहता ।

तिल का चिकित्सा में भी उपयोग है । ये वाजीकरण, वल्य, वृष्य, आतवजनक और मूत्ररोधक है । तिलों का क्षार उदरशूल और मूत्राश्मरी में देते है । इनको चबाने से दांतमजबूत रहते है । तिलों की पुलटिस घावों पर बांधी जाती हैं और तेल लगाया जाता है ।

८५. तिलक

संस्कृत नाम—तिलक, क्षुरक, श्रीमान्, पुरुष, छिन्न, पुष्पक ।[१]

हिन्दी नाम—तिलक ।

अंग्रेजी नाम—Tilak Tree.

लैटिन नाम—Wendlandia exerta Dc.

कुल—Rubiacae.

वर्ग—पुष्प वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

मालविकाग्निमित्र, कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

तिलक वृक्ष हिमालय क्षेत्रों में तराइयों में और ४००० फीट ऊँचाई तक उपलब्ध होते हैं । ये उड़ीसा, मध्यभारत और कोंकण में भी मिलते हैं । सुन्दर पुष्पों के कारण इसको वाटिकाओं में लगाया जाता था ।

तिलक वृक्ष छोटे आकार के सुन्दर होते हैं । पत्ते ५-६ इंच लम्बे और १-३ इंच चौड़े अगले भाग पर नोकोंले और टेढे होते हैं । वसन्त ऋतु में श्वेत रंग के $\frac{1}{6}$ इंच व्यास के सुगन्धित पुष्प आते हैं । सारा वृक्ष पुष्पों से आच्छादित हो जाता है । तदनन्तर $\frac{1}{10}$ इंच व्यास का श्वेत रंग का रोमों से आच्छादित फल आता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने तिलक वृक्ष का मनोरम वर्णन किया है । कवि-प्रसिद्ध है कि तिलक वृक्ष पर पुष्पों का उद्गम युवतियों के कटाक्षों के प्रहार से होता है ।[२] यह वृक्ष वसन्त ऋतु में पुष्पित होता है ।

---

१. तिलकः क्षुरकः श्रीमान् पुरुषश्छिन्नपुष्पकः ।—भाव० पुष्प वर्ग ५५ ।

२. कर्पूर० २-४३, २-४६ ।

श्वेत रंग के तिलक पुष्पों में रस और सुगन्धि भरी होती है। भ्रमर इनमें चिपके रहते हैं। कालिदास ने वर्णन किया है कि भ्रमरों से आक्रान्त तिलक पुष्पों की पक्ति ऐसी प्रतीत होती है, जैसे कि वसन्त रूपी लक्ष्मी ने भ्रमरों की पंक्ति का काला अंजन लगाया हो।[१] वे अन्य स्थान पर भी कल्पना करते हैं कि वसन्त लक्ष्मी ने भ्रमरों का अंजन लगा कर तिलक का तिलक लगाया है।[२]

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य के कारण तिलक वृक्ष लोकप्रिय थे और वाटिकाओं में लगाये जाते थे। इनका चिकित्सा में भी, उपयोग है। यह उष्ण और रसायन है। तिलक की छाल रेचक होती है। इसको चवाने से लार अधिक बहती है।

८६: त्रपुष (खीरा)

संस्कृत नाम—त्रपुस (त्रपुष), कण्टकिफल, सुधावास, सुशीतल[३]

हिन्दी नाम—खीरा।

अंग्रेजी नाम—Cucum ber.

लैटिन नाम—Cucumis Sativus Linn.

कुल—Cucur bitaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

भारत के सभी भागों में खीरे की खेती की जाती है। इसकी बैलें खेतों में फैली रहती है। वसन्त में इसको बोया जाता है। पत्ते ५-६ इंच के नोलाकार रूप में पाँच कोने वाले होते हैं। वर्षा प्रारम्भ होते हीं पीले रंग के पुष्प आ जाते हैं। झड़ने पर फल लगते हैं। इन फलों का ही खीरे के रूप में प्रयोग होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में त्रपुष का वर्णन कम ही है। राजशेखर ने एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है।[४] इस पर काटें होते हैं।

---

१. आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः।

—मालविका० ३-३०।

२. लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मुखश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।

— कुमार० ६-३०।

३. त्रपुसं कण्टकिफलं सुधावासः सुशीतलम्।—भाव० आम्रादिफलवर्ग ८७।

४ कर्पूर० ३-२४।

लोक में प्रचलित त्रपुष (खीरे) की बेल पर लम्बे बेलनाकार खीरे लगते हैं तथा इस पर काटें नहीं होते, रोयां अवश्य रहता है । सम्भवतः राजशेखर ने किसी अन्य जाति के खीरे का उल्लेख किया है।

उपयोग—

त्रपुष का उपयोग फल के रूप में किया जाता है। इसमें विभिन्न खनिज, विटामिन सी और विटामिन डी प्रचुर होते हैं। यह शीतलता प्रदान करता है।

पके खीरे के बीज शीतल और मूत्रल होते हैं। खीरे को काट कर और उसमें नमक मिला कर बांधने से सूजन कम हो जाती है।

८७. त्रिफला

संस्कृत नाम—फलत्रिक, त्रिफला, वरा।[१]

हरड़ बहेड़ा और आंवला इन तीन वनस्पतियों के फलों को समान भाग मिला कर यह त्रिफला कहलाता हैं। संस्कृत नाटकों में त्रिफला का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है, जबकि बालों को काला करने के लिये उसका उपयोग निर्दिष्ट है। त्रिफले के साथ गोखरु और लोह चूर्ण को मिला कर खिजाब बनाया जाता था तथा बालों को काला करने के लिये इसको लगाते थे।[२]

प्राचीन साहित्य में त्रिफले के अनेक उपयोग बताये गये है। चिकित्सा में भी यह बहुत उपयोगी है। त्रिफला के तीनों घटकों का विस्तृत परिचय उन वनस्पतिय के प्रसंग में किया गया है।

८८. दमनक

संस्कृत नाम—दमनक, दान्त, मुनिपुत्र, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, विनीत कलपत्रक।[३]

हिन्दी नाम—दोना, दवना।

अंग्रेजी नाम—Davana.

लैटिन नाम—Artemisia vulgaris Linn.

---

१. फलत्रिकञ्च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता।

— भाव० हरीतक्यादि वर्ग ४२।

२. पद्म० पृ० ७८।

३. उक्तो दमनको दान्तो मुनिपुत्रस्तपोधनः।
गन्धोत्कटो ब्रह्मजटो विनीतः कलपत्रकः। भाव० पुष्पवर्ग ६७।

कुल—Asteraceae.

वर्ग—पुष्पवर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

दमनक पश्चिम हिमालय, आबू, पश्चिमी घाट, कोंकण, लंका आदि वनों में मिलता है। यहाँ वनों में यह स्वतः होता है। हिमालय पर यह १२००० फीट तक उपलब्ध है।

दमनक के क्षुप घृतकुमारी के समान होते हैं। पत्ते आठ इंच से ढाई फीट लम्बे, डेढ इंच चौड़े किनारों पर धार वाले और बीच में सिकुड़े होते हैं। किन्तु किनारों पर काटें नही होते। हरे रंग के पत्तों पर बीच में चित्तियां होती हैं। इस पर शिशिर में पुष्प आते है। दमनक में विशेष गन्ध के कारण इसको गन्धोत्कट कहा जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में दमनक का अधिक वर्णन नहीं है। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में दमनक की उपस्थिति का संकेत दिया गया है।[1] राजशेखर का कथन है कि दमनक शिशिर ऋतु में पुष्पित होता है।

उपयोग—

प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में दमनक को चिकित्सोपयोगी कहा गया है। यह तिक्त, दीपन और पाचन है। आतंव को खोलता है और वामक है। इसके क्वाथ से व्रणों को धोना चाहिये। पत्तों का रस कर्णशूल को ठीक करता है। सुगन्धित होने के कारण मुनिजन इसका हवन में प्रयोग करते है।

संस्कृत नाम—दर्भ।

८९. दर्भ

हिन्दी नाम—दर्भ।

अंग्रेजी नाम—Sacredgrass.

लैटिन नाम—Eragrostis Cynosuroidis Beauv.

कुल—Gramineae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिमानाटक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अभिज्ञान शाकुन्तल, हनूमन्नाटक, बालरामायण।

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।   २. बालरा० पृ० २:२।

वनस्पति का परिचय—

दर्भ प्राय: सारे भारत में वन्य भूमियों और ऊसर स्थानों में होता है।

दर्भ का उल्लेख कुश के प्रसंग में किया जा चुका है। कुश और दर्भ एक जैसी वनस्पति है और भावप्रकाशनिघण्टु में इनको दर्भद्वय कहा गया है।[१] कुश और दर्भ को पर्याय कह कर भी ग्रन्थकार ने इनके पृथकत्व का संकेत दिया है। कुश की अपेक्षा दर्भ के पत्ते अधिक लम्बे और तीक्ष्ण धार वाले होते हैं।[२] डल्हण के अनुसार कुश ओर दर्भ एक जैसे ही है। छोटा ही दर्भ कुश होता है। दर्भ अधिक बड़ा तीक्ष्ण होता है।[३] पंचतृणमूल (कुश, काश, अर, दर्भ, (इक्षु) में कुश और दर्भ का पाठ अलग-अलग किया गया है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में दर्भ का सम्बन्ध विशेश रूप से तपोवनों और विद्यालयों से हैं। शिष्य गण वनों से दर्भ काट कर लाते थे तथा इसको यश की वेदी पर बिछाया जाता था।[४] दर्भ काट लिये जाने पर यह भूमि छिन्नदर्भांकुरा कहलाती थी। बचे हुये दर्भ के अंशों को मृग चरते रहते थे।[५] दर्भ को मृगों का खाद्य कहा गया है।[६] दुष्यन्त द्वारा मृगया के लिये पीछा किये जाने पर मृग के मुख से गिरे दर्भ पृथिवी पर बिखर गये थे।[७]

दर्भों का उपयोग धार्मिक कार्यों के लिये किये जाने का वर्णन है। पूजा द्रव्यों में इसको पवित्र माना गया था।[८] मिट्टी के पात्रों में जल भर कर उसको दर्भ से ढक दिया जाता था, जिससे कि वह पवित्र बना रहे।[९]

उपयोग—

दर्भ के उपयोग कुश के ही समान है।

---

१. दर्भद्वयम्।— भाव० गुडूच्या० १६६।

२. ततोऽन्यो दीर्घपत्र: स्यातुं क्षुरपत्रस्तथैव च।

भाव० गुडूच्यादि व०।

३. दर्भ: पृथुल: खरपत्र: दीर्घ:-चरक संहिता पर डल्हण की टीका।

४. वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानुपनयाभि।— अभिज्ञान० पृ० २२४।

५. ऐते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्।—अभिज्ञान० १-१५।

६. हनू० ४-३।

७. द्रर्भैरर्घावलीढै: श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा।—अभिज्ञान० १-७।

८. विरुढेषु दर्भा:।— प्रतिज्ञा०पृ० ९।

९. नवं शरावं सलिलै: सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोतरीयम्।—प्रतिज्ञा० ४-२।

९०. दाड़िम

संस्कृत नाम—दाडिम, करक, दन्तबीज, लोहितपुष्पक ।[1]
हिन्दी नाम—अनार, दाडिम ।

अंग्रेजी नाम—Pome granate.
लैटिन नाम—Punica granatum Limn.
कुल—Punicaceae.
वर्ग—आम्रादिफलवर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, तापसवत्सराज, बालभारत, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

अनार भारत के सभी प्रान्तों में होता है । हिमालय पर वह ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है । पश्चिमोत्तर प्रदेशों में अधिक अनार होते हैं ।

अनार का छोटा पौधा गुल्मों के रूप में होता है । शाखाओं पर काटें रहते हैं । पंत्तियां १–२½ इंच लम्बी होती है । ये कुंठिताग्र और गुच्छों में रहती हैं । माघफाल्गुन में नई पंत्तियाँ आती है । चैत्र-वैशाल में इस पर गुच्छों में पुष्प आते है । पुष्पों के लाल चमकीला होने के कारण यह लोहितपुष्पक कहलाता है । पुष्प गिरने पर फल आते है, जो आषाढ तक पक कर तैयार हो जाते है । इन पर ऊपर कडा छिलका और अन्दर श्वेताभ लाल दाने होते हैं । दानों के ऊपर रसदार गूदा तथा अन्दर कठोर गुठली होती हैं । दानों के दान्तों के समान होने से यह फल दन्तबीज भी कहा ताजा है । अनार का फल ही अनार के रूप में प्रयुक्त होता है ।

अनार अनेक प्रकार के होते हैं । 'भावप्रकाशनिघण्टु' में फल की दृष्टि से इसको तीन प्रकार का कहा गया है—स्वादु (मीठा), स्वाद्वम्ल (खट्टा-मीठा) और केवल अम्ब (खट्टा) ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने दाडिम के मनोरम वर्णन किये है । इनके फल पकने पर फूट जाते है और लाल दाने चारों और बिखर जाते है ।[2] अनार के लाल दानों को शुक (तोले) बहुत पसन्द करते हैं ।[3] किसी भी लाल दाने को अनार समझकर वे उस पर चोंच का प्रहार कर सकते हैं ।[4]

---

१. दाडिमः करको दन्तबीजो लोहितपुष्पकः ।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १०१ ।

२. विद्ध० पृ० ९ । ३. बालभा० १-४७ ।

४. चञ्चचा दाडिमबीजमित्यभिहता ।—तापस० २-१३ ।

कवियों ने अनार को उपमान के रूप में भी देखा था। सुन्दर युवतियों के दान्त अनार के दानों के समान प्रतीत होते है।[१] वानरी के मुख को अनार के समान कहा गया है।[२] सुन्दरियों के स्तन बड़े अनार के समान कल्पित किये गये है।[३] अनार के कांटों के लिये कल्पना की गई है कि मानों प्रिय की स्मृति में उनको रोमाञ्च हो रहा है।[४]

उपयोग—

अनार का फल स्वादिष्ट वल्य, और सुपच होता है। रोगियों के लिये यह पथय है। खट्टे अनार को सुखाकर अनारदाना बनाया जाता है। इसका व्यवहार भोजन में अम्ल रस के लिये लिये होता हैं।

अनार को चिकित्सा में बहुत उपयोगी माना गया था। त्रिदोषहर होने के कारण इसको करक (करं दोषामात्रं करोति इति करकः) कहा गया। अनारदाना दीपक और पाचक होता है, अतः यह पालक चूर्णों का घटक है। अनार के फल की छाल और मूल की छाल उदरकृमियों को नष्ट करती है। छाल के क्वाथ को आधा-आधा घण्टे के अन्तर से चार बार पिलाकर एरण्ड तेल का विरेचन देना चाहिये। यह अतिसार औरु संग्रहणी में भी उपयोगी है।

९१. दूर्वा

संस्कृत नाम—दूर्वा के तीन भेद मिलते हैं। इनके पर्याय इस प्रकार है—

नील दूर्वा—नीलदूर्वा, रुहा, अनन्ता, मार्गवी, शतपर्विका, शष्प, सहस्रवीर्यां, शतवल्ली।[५]

श्वेतदूर्वा—शुक्लदूर्वा, गोलोमी, शीतवीर्यां।[६]

गण्डदूर्वा—गण्डदूर्वा, गण्डाली, मत्स्याक्षी, शकुनादनी।[७]

संस्कृत नाम—दूब, रामघास।

अंग्रेजी नाम—Conch Grass, Guhing Cynodon.

लैटिन नाम—Gonadon dactylon Linn.

---

१. हनू० २-२५। २. मालती० ९-३६।
३. नैषध० १-८२। ४, नैषध० १-८३।
५. नीलदूर्वा रुहाऽनन्ता मार्गवी शतपर्विका।
शष्पं सहस्रवीर्या च शतवल्ली च कीर्तिता॥
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १७२।
६. दूर्वा शुक्ला तु गोलोमी शतवीर्या च कथ्यते।
— भाव० गुडूच्यादिवर्ग १७४
७. गण्डदूर्वा गण्डाली मत्स्याक्षी शकुनादनी।—भाव० गुडू० १७५।

कुल--Gramineae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, बालचरित,अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रोर्वशीय, विद्धसालभञ्जिका ।

वनस्पति का परिचय—

दूर्वा प्राय: सारे भारत में उगती है । इसको मैदानों में विशेष रूप से बोया भी जाता है । दूर्वा के पौधे अनेक वर्षों तक जीवित रहते है और इसकी जड़े भूमि में दूर दूर तक फैल जाती है । काण्ड पर गाठें होती है । इन गांठों पर जड़ बन जाती है और यह फैलती चली जाती है । दूर्वा के पत्ते लम्बे-पतले (१–२ इंच × $\frac{1}{2}$ इंच) और आगे से नोकीले होते हैं। हरिताभ-लाल पुष्प आते है तथा छोटे दानों के रूप में फल लगते हैं।

भारतीय वनस्पतिविज्ञान में दूर्वा के तीन भेद कहे गये है ।—नीलदूर्वा, श्वेतदूर्वा और गण्डदूर्वा असली दूर्वा नीलदूर्वा है, जो हरे रंग की होती है । नीलदूर्वा ही पुरानी होने पर श्वेतदूर्वा बन जाती हैं। अन्य दूर्वाओं की अपेक्षा गण्डदूर्वा अधिक मोटी होती है । काण्ड पर अनेक गाठें होने के कारण दूर्वा की शतपर्विका और शतवल्ली नाम दिये गये है ।

काव्यतामक वर्णन--

दूर्वा का उल्लेख संस्कृत नाटकों में बहुधा हुआ है । मैदानों और प्रागणों में इसको बहुधा लगाया जाता है। इन स्थानों पर विश्राम करना सुखद था । चबूतरे बनवाकर उन पर दूर्वा उगा दी जाती थीं, जिनको दूर्वा-चत्वर कहा गया था। यहाँ बैठकर प्रतीक्षा की जा सकती थी।[१]

पवित्र समझे जाने के कारण दूर्वा का उपयोग देवपूजन के लिये था। मांगलिक होने से शुभ कार्यो में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों में दूर्वा भी सम्मिलित थीं।[२] व्रतों के समय कन्यायें और अन्य महिलायें इसको केशों में लगाती थीं।[३] विवाह आदि मंगल संस्कारों के अवसरों पर नववधू के प्रसाधन में दूर्वा का उपयोग किया जाता था।[४]

दूर्वा का रंग हरित-श्यामल होता है । कवियों को यह श्यामल वर्ण बहुत अच्छा लगा । राजशेखर ने कुलूत देश की सुन्दरियों का वर्ण दूर्वा के समान कहा

---

१. दूर्वाचत्वरे प्रतिपालयामि । मृच्छ० पृ० ३३६ ।

२. दूर्वा किसलयानि मङ्गलसमालम्भनानि ।— अभिज्ञान० पृ० २८४ ।

३. पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।—विक्रमो० ३-१२ ।

४. दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् । कुमार० ७-७ ।

है।[1] मास राम को दूर्वाश्याम कहते हैं[2] दूर्वा के अंकुर नील मणियों के समान उज्ज्वल होते है।[3]

उपयोग—

दूर्वा का उपयोग उसकी हरीतिमा के कारण मैदानों में लगाने के लिये किया जाता है। यह नेत्रों के लिये सुखद और शान्तिदायक है। दूर्वा से भरे मैदानों का उपयोग बैठने और विविध क्रीडाओं के लिये किया जाता है। दूर्वा शष्पभोजी पशुओं का मुख्य आहार है।

दूर्वा का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह मधुर और शीतल होता है। रक्तपित्त में दूर्वा का स्वरस लाभ करता है। यह गुल्मनाशक, तृष्णानिवारक, रक्त-शोधक, बल्य और वृष्य है। वीर्यवर्धक होने के कारण इसका नाम सहस्रवीर्या हुआ। दूर्वा पाक आयुर्वेद का प्रसिद्ध योग है।

६२. देवदारु

संस्कृत नाम—देवदारु, दारुभद्र, दारु, इन्द्रदारु, मस्तदारु, द्रुकिलिम, किलिम, सुरभूरुह।[4]

हिन्दी नाम—देवदार

अंग्रेजी नाम—Himalayan cedar, Devdar

लैटिन नाम—Cedrus devdara Loud.

कुल—Piuaceae

वर्ग—कर्पूरादिवर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अनर्घराघव, हनुमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

देवदारु के विशाल वृक्ष १५० फीट होते हैं। कोई-कोई वृक्ष २५० फीट तक ऊँचा चला जाता है तथा तना भी ३६ फीट तक गोलाई का मिला है। तने की छाल खुरदरी लाल खाकी भूरी होती है। इसमें लम्बी दरारें पड़ जाती है। तना लम्बा सीधा चला जाता है। ऊपर जाकर लम्बी शाखायें चारों ओर फैल जाती हैं। शिखर भाग की ओर ये छोटी होती चली जाती है। पत्ते १–$1\frac{1}{2}$ इंच लम्बे

---

१. विद्ध० ४-१४।

२. दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे —बालच० १-१।

३. दूर्वाङ्कुरस्तिमितनीलमणिप्ररोहैः।—प्रतिज्ञा० २-२।

४. देवदारु स्मृतं दारुभद्रं दार्विन्द्रदारु च।
मस्तदारु द्रुकिलिमं किलिमं सुरभूरुहः॥ —भाव० कर्पूरादिवर्ग० २४।

सूच्याकार होते हैं। सितम्बर-अक्टूबर में इस पर पुष्प आते हैं। अप्रैल से शंकु के आकार के फल आते हैं, जो अक्टूबर तक रहते हैं। फलों में त्रिकोणाकार या अर्ध-चन्द्राकार आधे इंच तक लम्बे बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन––

संस्कृत कवियों को देवदारु वृक्ष अति प्रिय लगे थे। इसके अतिशय सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। देवताओं को प्रिय माना जाने के कारण यह देवदारु कहलाया। इसके महत्व के कारण स्वयं देवाधिदेव महादेव ने इसको अपना पुत्र माना। पार्वती घटों में जल भर इसको सींचा करती थीं।[१] शिव इस वृक्ष की वेदी पर बैठ कर ध्यानमग्न होते थे।[२]

मुरारि ने हिमालय के उत्तरी भू-भागों में देवदारु वृक्षों की पंक्ति का उल्लेख किया है।[३] 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में देवदारु का वर्णन है।[४] परन्तु यह कवि का प्रमाद ही है। दक्षिण वनों में यह वृक्ष नहीं होता। यह हिमालय की ही वनस्पति है। यह भी सम्भव हो सकता है कि 'हनूमन्नाटक' का देवदारु अन्य किसी लोकप्रिय वनस्पति का संकेत करता हो। कालिदास देवदारु को हिमालय की भुजायें कहते हैं[५]।

उपयोग—

भारतीय अर्थव्यवस्था में देवदारु का बहुत महत्त्व है। फर्नीचर, घर के किवाड़ आदि बनाने के लिये देवदारु को उत्तम माना गया है। इसकी लकड़ी में विशिष्ट तेल होने के कारण गन्ध आती है, जिससे इसमें कीड़ा नहीं लगता। यह तेल इसमें ·५ प्रतिशत तक होता है।

देवदारु चिकित्सोपयोगी भी है। चरक, सुश्रुत आदि प्राचीनतम वैज्ञानिकों ने इसके गुणों के वर्णन किये हैं। यह मूत्रल, कफनिस्सारक, दीपन, पाचन, स्तन्य-वर्धन तथा गर्भाशयशोधक है। तेल कुष्ठनाशक है। इससे पुराने व्रणों में भी लाभ होता है।

---

१. अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिः सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।

—रघुवंश २-३६।

२. स देवदारुद्रुमवेदिकायां···त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।

—कुमारसम्भव ३-४४।

३. इयमुत्तरेण देवदारुवनलेखा। —अनर्घ पृ० ३३१।

४. हनू० पृ० ६८-७०।

५. देवदारुर्महाभुजः। कुमारसम्भव ६-५१।

६३. द्राक्षा

संस्कृत नाम—द्राक्षा, मृद्वीका, हारहूरा, स्वादुफला, मधुरसा, गोस्तनी ।[1]

हिन्दी नाम—मुनक्का, अंगुर, दाख

अंग्रेजी नाम—Grapes

लैटिन नाम—Vitis vinibira linn.

कुल—Vitaceae

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक

वनस्पति का परिचय—

द्राक्षा पश्चिमोत्तर पाकिस्तान, काश्मीर, अफगानिस्तान और फारस मे प्रचुर होती है । दक्षिण यूरोप और भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में भी बहुत होती है । वर्तमान में भारत में पंजाब, हरियाणा, हैदराबाद आदि में अंगूर की प्रचुर खेती है ।

द्राक्षा की बेल होती है, जो अनेक वर्षों तक फल देती है । पत्ते पंचकोणाकार ३-४ इंच लम्बे होते हैं । द्राक्षा पर वसन्त में पुष्प आते हैं । ग्रीष्म में फल आकर वर्षा तक पक जाते हैं । शरद् काल में पकने वाले द्राक्षा फलों की जाति का भी विकास हुआ है ।

द्राक्षा दो प्रकार की है—अबीजा और सबीजा । अबीजा छोटी है और इससे किशमिश बनती है । सबीजा बड़ी है और इसको गोस्तनी कहा गया है । इससे मुनक्का बनती है । रंग के भेद से भी द्राक्षा तीन प्रकार की है—हरी, लाल और काली । चिकित्सा में काली द्राक्षा अधिक अच्छी मानी गई है ।

काव्यात्मक वर्णन—

द्राक्षा का उपयोग भारतवर्ष में अति प्राचीन होने पर भी संस्कृत रूपकों में इसका विवरण कम ही है । 'पादताडितक' में इसके माधुर्य की प्रशंसा की गई है । द्राक्षा अति मधुर होती है । इसको मधुर करने के लिये अन्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती ।

उपयोग—

द्राक्षा (अंगूर) का उपयोग फलों के रूप में होता है । सुपच, स्वादिष्ट और

---

१. द्राक्षा स्वादुफला प्रोक्ता तथा मधुरसाऽपि च ।
मृद्वीका हारहूरा च गोस्तनी चापि कीर्तिता ।।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १०६ ।

शक्तिवर्धक होने से यह उत्तम तथ्य भी है। अंगूरों में प्रचुर खनिज, विटामिन और फलशर्करा होते हैं। द्राक्षा का उपयोग मदिरा बनाने के लिये भी किया जाता है। इसके रस से अति स्वादिष्ट विविध मदिरायें बनती हैं।

द्राक्षा का उपयोग चिकित्सा में भी है। यह रक्तपित्त, पाण्डु, दुर्बलता, कास, पेशाब की जलन तथा कोष्ठबद्धता में उपयोगी है। द्राक्षावलेह तथा द्राक्षासव इसके प्रसिद्ध योग हैं।

६४. द्रुघण

संस्कृत नाम—द्रुघण
हिन्दी नाम—शीशम का एक भेद (काला शीशम)
अंग्रेजी नाम—Rvsewood, Black wood
लैटिन नाम—Dalbugia latibolia Roxb.
कुल—Papilionaceae
वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन वनस्पतिविज्ञान के ग्रन्थों में द्रुघण नामक किसी वनस्पति का उल्लेख न होने से इसकी पहचान करनी कठिन है। शब्दकोषों में द्रुघण को मूसल कहा गया है। अत: सम्भव है कि मूसल जैसी कठोर, दृढ़ प्रहार करने योग्य वस्तुयें जिस वृक्ष की लकड़ी से बनाई जाती होगी, उसको द्रुघण कहा गया होगा। इससे वृक्षों को भी तोड़ा जा सकता था (द्रुः वृक्षः हन्यते अनेन)। अतः द्रुघण नामक वनस्पति के मजबूत लकड़ी वाले वृक्ष होते होंगे। यह लकड़ी काला शीशम (Rose wood) हो सकती हैं।

काला शीशम के वृक्ष हिमालय के निचले प्रदेशों में, मध्य भारत, छोटा नागपुर और दक्षिण भारत में अधिक होते हैं। वृक्ष छोटे आकार के मजबूत तथा कठोर लकड़ी के होते हैं। इस पर स्थानीय जलवायु के प्रभाव से विभिन्न ऋतुओं में श्वेत पुष्प आते हैं। तदनन्तर फलियाँ लगती हैं। इनमें बारीक बीज होते हैं। लकड़ी पीली होती है और इस पर काली धारियाँ होती हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में द्रुघण का अधिक वर्णन नहीं है। केवल एक स्थान पर राजशेखर ने वर्णन किया है कि इस पर चम्पक के समान श्वेत वर्ण के पुष्प आते

हैं ।[1] राजशेखर के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ये वृक्ष दक्षिण वनों में होते थे और श्वेत पुष्पों से सुशोभित रहते थे। अतः काला शीशम को द्रुघण माना जा सकता है।

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य के कारण द्रुघण को वाटिकाओं में और क्रीड़ाभूमियों में लगाया जाता है। इसकी लकड़ी कठोर, दृढ़, पीली तथा काली धारी युक्त होती है। अतः फर्नीचर और खेती के उपकरणों के बनाने में यह उपयोगी है।

९५. धत्तूर

संस्कृत नाम—धत्तूर, धूर्त, धुत्तूर, उन्मत्त, कनक, स्वर्ण के सभी पर्याय, देवता, कितव, तूरी, महामोही, शिवप्रिय, मातुल और मदन।[2]

हिन्दी नाम—धतूरा

अंग्रेजी नाम—Datura, Thorn apple

लैटिन नाम—Datura alba Nees, Datura niger Linn,
Datura Stramonium linn, Datura metel linn

कुल—Solanaceae

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

धतूरे के पौधे प्रायः सारे भारत में पाये जाते हैं। शिव का प्रिय होने से इसको मन्दिरों के समीप लगाया भी जाता है।

धतूरे के क्षुप प्रायः २-४ फीट ऊँचे होते हैं। परन्तु अधिक बड़े क्षुप ८-१० फीट तक के भी पाये जाते हैं। इसके पत्ते बड़े त्रिकोणाकार तथा आगे से नोकीले होते हैं। फूल बड़ा घण्टे के आकार का होता है। इसमें पाँच पंखुड़ियाँ होती हैं। पुष्प के रंग के भेद से यह दो प्रकार का है—श्वेत और काला। श्वेत धतूरे के पुष्प श्वेत होते हैं। यह धतूरा एल्बा है। काले धतूरे के पुष्पों के किनारे कालापन लिये होते हैं। यह धतूरा नाइगर है।

---

१. बालरा० ७-६९।

२. धत्तूः धूर्तधुत्तूरा उन्मतः कनकाह्वयः।
देवता कितवस्तूरी महामोही शिवप्रियः॥
मातुलो मदनश्चास्य फले मातुलपुत्रकः॥
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ८५-८६।

धतूरे पर शरद काल में पुष्प खिलते हैं और वसन्त में फल आते हैं। धतूरे का फल गोल, लगभग डेढ़-दो इंच व्यास का चारों ओर से कांटों से भरा होता है। फलों के अन्दर बहुत बड़ी संख्या मे ४५०-५०० तक बीज रहते हैं। पकने पर ये बीज कालापन लिये भूरे होते हैं। बीज सामान्यतः गन्धरहित होते हैं, किन्तु कुचलने पर तीखी गन्ध आती है।

धतूरे का एक भेद धतूरा स्ट्रैमोनियम है। इसको राजधत्तूर कहा जाता है। यह ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों (८०००-१००००) फीट में पाया जाता है। इसके पुष्प श्वेत-काले तथा बीज बिल्कुल काले होते हैं।

'राजनिघण्टु' में धतूरे के पाँच भेद दिये गये हैं—श्वेत, नीला, काला, लाल और पीला। ये भेद पुष्पों के भेद के रंग से हैं। इनमें काला धतूरा सबसे अच्छा माना गया है[1]।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में धतूरे का अधिक उल्लेख नहीं हैं। राजशेखर ने इसके उन्मादक गुण का वर्णन किया है। उन्मत्त करने की शक्ति से युक्त होने के कारण इसको मदन (मदयति जनान्) कहा गया है[2]।

उपयोग—

प्राचीन साहित्य में धतूरे को शिव का प्रिय कहा गया है। अतः इसका एक नाम शिवप्रिय भी है। शिव के भक्त धतूरे का सेवन करते रहे हैं। अधिकतर वे धतूरे के बीजों को चिलम में रखकर धूम्रपान करते हैं। उन्मादक होने से इसे उन्मत्तक कहा गया है।

धतूरे का चिकित्सा में प्रयोग विहित है। यह उष्ण तथा कटु-तिक्त है। श्वास रोगों में यह विशेष उपयोगी है। धतूरे का धूम्रपान करने से श्वास का वेग तुरन्त शान्त होता है। इसके लिये राजधत्तूर (धतूरा स्ट्रैमोनियम) अधिक लिया जाता है। धतूरे को बाह्य शोथ तथा वेदना को शान्त करने के लिये लगाते हैं। उपदेश तथा चर्मरोगों में यह उपयोगी है। धतूरे के बीज वाजीकरण भी माने गये हैं। सुश्रुत ने अलर्कविष (पागल कुत्ते का काटा) में इसको देने का विधान किया है[3]।

---

१. सितनीलकृष्णलोहितपीतप्रसवाश्च सन्ति धत्तूराः।
सामान्यगुणोपेतास्तेषु गुणाढ्यस्तु कृष्णकुसुमः स्यात्॥ —राजनिघण्टु

२. विद्ध० पृ० ६७।

३. सुश्रुतसंहिता—कल्पस्थान अध्याय ७।

९६. नवमालिका

संस्कृत नाम—नेपाली, सप्तला, नवमालिका, वासन्ती[१]।
हिन्दी नाम—चमेली, नेवारी।
अंग्रेजी नाम—Jasmine।
लैटिन नाम—Jasminum arborescens Roxb. **कुल**—Oleaceae.
वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, मालतीमाधव, रत्नावली।

वनस्पति का परिचय—

नवमालिका प्रायः सारे भारत में होती है। यह वाटिकाओं में शौक से लगाई जाती है। हिमालय में यह ६००० फीट तक की ऊँचाई तक होती है।

नवमालिका चमेली जाति की वनस्पति है। यह आरोही लतानुमा झाँडी के रूप में होती है। पत्तियाँ छोटी, लम्बी तथा आगे से नौकीली होती हैं। इनमें दोनों ओर रोम होते हैं। पुष्प अकेले, घने और श्वेत रंग के अत्यधिक सुगन्धित होते हैं। ये वसन्त ऋतु से खिलना आरम्भ होकर ग्रीष्म तक खिलते रहते हैं। इसी प्रकार की एक अन्य लता वनमल्लिका (जैस्मीनम अंगुस्टिफोलियम) है। इसके पुष्प भी श्वेत वर्ण के सुगन्धित होते हैं, जो तारों के समान प्रतीत होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों को नवमालिका बहुत प्रिय रही। उन्होंने वाटिकाओं में इसका प्रायः वर्णन किया है। यह मल्लिका से भिन्न है, परन्तु उसी जाति की है। नवमालिका के पुष्पित होने का समय ग्रीष्म का वर्णित किया गया है, परन्तु विशेष वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा इसको अन्य ऋतुओं में भी पुष्पित किया जा सकता था[२]। 'रत्नावली' नाटिका में एक प्रयोग का वर्णन है कि एक वैज्ञानिक ने विशेष विधि द्वारा उचित ऋतु न होने पर भी नवमालिका पर पुष्पों को विकसित कर दिया था[३]।

संस्कृत कवियों की नायिकायें अपने उपवनों में प्रायः नवमालिका को लगाती हैं और उसका सुन्दर नामकरण करती हैं। शकुन्तला ने अपनी नवमालिका का नाम वनज्योत्स्ना रखा था। कवियों ने इसमें अति कोमलता की भी व्यजना की है। यह

---

१. नेपाली कथिता तज्ज्ञैः सप्तला नवमालिका।
वासन्ती······ ॥ —भाव० पुष्पवर्ग २४।

२. रत्ना० पृ० २८–४२। ३ रत्ना० पृ० ५४।

अधिक शीत और गरमी को सहन नहीं कर सकती। उष्ण जल का स्पर्श करने से नवमालिका मुरझा जाती है[1]।

नवमालिका मनोरंजन का भी साधन थी। वाटिकाओं में इसको लगाना और सींचना सरल मनोविनोद था। इस लता को इस प्रकार लगाया जाता था कि मण्डप बन जावे और उसमें बैठ कर विश्रम्भ वार्तायें की जा सकें। दुष्यन्त-शकुन्तला इसी प्रकार के मण्डप में बैठ कर प्रणयालाप करते थे[2]।

वनमालिका में प्रणयिनी भाव की भी कल्पना की गई थी। 'किशोरिया' कल्पना करती थीं कि वनमालिका जिस प्रकार किसी मजबूत वृक्ष का आश्रय पाकर समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार उनको भी अनुरूप वर प्राप्त हो जावे। अति कमनीय और मनोरम इस वनस्पति को कवियों ने तरुणियों के सौन्दर्य का उपमान भी बनाय था। मालती के सौन्दर्य में भवभूति ने नवमालिका की कल्पना की थी[3]। कालिदास भी अपनी नायिका को नवमालिका के समान कोमल कहते हैं[4]।

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य के कारण नवमालिका को वाटिकाओं में लगाया जाता था। इसके श्वेत सुगन्धित पुष्पों में सुगन्धित वाष्पशील तेल रहता है। इसको इतर के रूप मे पृथक् कर लेते हैं। इस प्रयोजन से इस वनस्पति की बड़े परिणाम में खेती की जाती है।

नवमालिका का चिकित्सा में भी उपयोग है। इसके पत्ते वामक होते हैं। स्त्रियों के मासिक विकारों में भी यह उपयोगी है। नवमालिका की जड़ को घिसकर दाद पर लगाते हैं। यह सर्वविष में भी उपयोगी मानी गई है।

९७. नागकेसर

संस्कृत नाम—नागपुष्प, नाग, केसर, नागकेसर, चाम्पेय, नागकिञ्जल्क, का वन. और स्वर्ण के सभी पर्याय[5]।

हिन्दी नाम—नागकेसर, नागचम्पा।

अंग्रेजी नाम—Cobras Saffron, Mesua।

लैटिन नाम—Mesua Ferrea Linn. **कुल**—Clansenaceae.

---

१. को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। —अभिज्ञान० पृ० २७७।

२. अभिज्ञान० पृ० ३६३। ३. मालती० पृ० ९५।

४. नवमालिकाकुसुमपेलवा।—अभिज्ञान० पृ० ३६३।

५. नागपुष्पः स्मृतो नागः केसरो नागकेशरः।
चाम्पेयो नागकिञ्जल्कः कथितः काञ्चनाह्वयः॥
—भाव० कर्पूरादिवर्ग ६९।

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय--

हिमालय के क्षेत्रों में नागकेसर बहुत होता है । दक्षिण भारत में यह कोंकण और पश्चिमी घाट में अधिक होता है । अण्डमान द्वीपसमूह में भी यह उपलब्ध है । यह प्राय: वन्य वनस्पति है, किन्तु वाटिकाओं में भी लगाया जाता है ।

नागकेसर के सदाहरित छोटे आकार के वृक्ष होते हैं । शाखायें सीधी और छाल कोमल होती है । २–६ इंच लम्बी तथा १—१½ इंच चौड़ी पत्तियाँ आगे से नोकीली होती हैं । पत्तों के किनारे से वसन्त ऋतु में ३–४ इंच लम्बे श्वेत-सुनहरे पुष्प खिलते हैं । इनके अन्दर पीले सुनहरे रंग का केसर रहता है । यही नागकेसर कहलाता है । शरद् के प्रारम्भ में इस पर लम्बे १—१½ इंच के गोलाकार फल आते हैं । प्रत्येक फल में एक से चार तक धूसर रंग के बीज होते हैं । नागकेसर के चमकीला सुनहरी होने से इसको चाम्पेय और काञ्चनह्वय कहा गया है ।

काव्यात्मक वर्णन--

संस्कृत कवियों ने नागकेसर के पुष्पों के मनोरम सौन्दर्य का वर्णन किया है । तथापि रूपकों में इसका वर्णन कम ही है । 'हनूमन्नाटक' में केवल एक स्थान पर कहा गया है कि दक्षिण वनों में नागकेसर नाम की वनस्पति है[1] ।

कालिदास और श्रीहर्ष ने नागकेसर पुष्पों की बहुत प्रशंसा की है । पार्वती ने शिव के समीप जाते हुये नागकेसर पुष्पों की करधनी पहनी हुई थी । यह उसके नितम्बों से बार-बार सरक जाती थी और पार्वती को उसे सम्भालना पड़ता था[2] । नागकेसर के पिंगल पुष्पों पर भ्रमरों को उड़ते देख कर श्रीहर्ष ने कल्पना की कि कामदेव मानों सान पर अपने बाण तेज कर रहा है और उससे चिनगारियाँ झड़कर गिर रही हैं[3] ।

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७० ।

२. ग्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुन: पुन: केसरदामकाञ्चीम् ।
—कुमारसम्भव ३–५५ ।

३. गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभि: पतत् प्रसक्तभृङ्गावलिनागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ।।
—नैषध० १–९२ ।

उपयोग—

नागकेसर के पुष्प सुन्दर लगते हैं, अतः इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है। युवतियाँ इसके पुष्पों का अलंकारों के रूप में प्रयोग कर सकती हैं।

नागकेसर चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण, तिक्त और कषाय होता है। वात और कफ का शमन करता है। दीपन तथा पाचन है। रक्तस्तम्भन, मूत्रल, वृष्य और वाजीकरण भी है। त्रिजातक (दालचीनी, इलायची और तेजपत्र) में नागकेसर मिलाने से चातुर्जातक बनता है। यह अनेक रोगों में उपयोगी है।

९८. नारङ्ग

संस्कृत नाम—नारङ्ग, नागरङ्ग, त्वक्सुगन्ध, मुखप्रिय।[1]
हिन्दी नाम—नारंगी, संतरा।
अंग्रेजी नाम—Orange.
लैटिन नाम—Citrus reticulata Linn.
कुल—Rutaceae.
वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

नारंगी वृक्ष प्रायः सारे भारत में मिलते हैं। दक्षिण में इसके बगीचे बहुत हैं। हिमालय क्षेत्र में ५००० फीट ऊँचाई तक यह होता है। नागपुर के सन्तरे बहुत प्रसिद्ध हैं।

नारंगी वृक्ष मध्यम कद का १५–२० फीट तक ऊँचा होता है। इसकी शाखाओं पर काँटे रहते हैं। पत्तियाँ २–३ इंच चौड़ी ऊपर से चिकनी, नीचे से खुरदरी और नोकदार होती हैं। इनको मसलने से विशिष्ट सुगन्धि आती है। वर्षा में पुष्प आकर सर्दियों में फल आने लगते हैं। पकने पर ये पीले सुनहरी हो जाते हैं। ऊपर छिलका और अन्दर फाँकें होती हैं। इनमें बीज रहते हैं। फल का पतला छिलका सरलता से अलग हो जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में नारङ्ग का वर्णन कहीं-कहीं ही मिलता है। इनको वाटिकाओं में तो लगाया ही जाता था, वनों में भी ये स्वतः हो जाते थे। दक्षिण वनों में

---

१. नारङ्गो नारङ्गः स्यात् त्वक्सुगन्धो मुखप्रियः।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ८३।

इनकी उपस्थिति दिखाई गई है।[१] राजशेखर ने वर्णन किया है कि पकी हुई नारंगी के फल पिंगल वर्ण के होते हैं।[२]

उपयोग—

नारंगी का उपयोग फल के रूप में है। यह फल खनिजों और विटामिनों से भरपूर होता है। इसमें विटामिन ए, बी और सी प्रचुर होते हैं। चिकित्सा में यह शीतल है। वात और पित्त का शामक, दीपक, हृद्य और बल्य है। सुपच होने से यह पथ्य भी है। अच्छी नारंगी मीठी होती है, परन्तु खट्टी-मीठी और खट्टी नारंगियाँ भी होती हैं।

नारंगी के छिलके का उपयोग त्वचा के रोगों में होता है। यह त्वचा के वर्ण को भी स्वच्छ करता है।

६६. नारिकेल

संस्कृत नाम—नारिकेल, दृढफल, कूर्चशीर्षक, तुङ्ग, स्कन्धफल, तृणराज, सदाफल।[३]

हिन्दी नाम—नारियल, गोला।

अंग्रेजी नाम—Coconut.

लैटिन नाम—Cocos nucifira Linn.

कुल—Palmae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, महावीरचरित, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

नारियल वृक्ष ऊँचे (८० फीट तक) होते हैं। देखने में ताड़ जैसे दीखते हैं। इनमें शाखायें नहीं होतीं। काण्ड पर वलय बने रहते हैं। शिखर भाग पर पत्तों का गुच्छा रहता है। पत्ते ६–१८ फीट लम्बे और १–३ फीट चौड़े होते हैं। मंजरियों के रूप में पुष्प आते हैं। तदनन्तर ४–१२ इंच लम्बा अण्डाकार फल होता है। फल के ऊपर रेशे से भरा कठोर छिलका रहता है। अन्दर गिरी तथा उसके अन्दर जल

---

१. हनू० पृ० ६८–७०। २. बालरा० २-५०

३. नारिकेलो दृढफलो लाङ्गली कूर्चशीर्षकः।
तुङ्गः स्कन्धफलश्चैव तृणराजः सदाफलः॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ३८।

भरा रहता है। कठोर आवरण पर तीन कोमल छिद्र (नेत्र) होते हैं। अतः इसको त्रिनेत्र भी कहते हैं। परिपक्व होने पर गिरी कठोर हो जाती है। इस समय कठोर आवरण को तोड़ कर गिरी निकाल ली जाती है। इस गिरी में ६०–७० प्रतिशत तेल रहता है।

नारियल वृक्ष दक्षिण समुद्रतटवर्ती स्थानों पर, बंगाल, बर्मा, लंका, अण्डमान द्वीपसमूह और पूर्वी द्वीपसमूह में प्रचुर होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने नारियल का प्रचुर वर्णन किया है। भारतीय इससे प्राचीन काल से परिचित हैं। इसको देवताओं का विशेष रूप से शिव का प्रिय माना गया था। पूजन द्रव्यों में इसका बहुत महत्व था और इसकी आहुति हवन में दी जाती है।[1]

वर्णनों के अनुसार नारियल वृक्ष समुद्रतटवर्ती स्थानों पर बहुत हैं।[2] इन पर वानर क्रीडा करते हैं। वे वृक्षों से नारियल तोड़कर उनका जल पीते हैं।[3] कच्चे फल में गिरी कम और जल की मात्रा अधिक होता है। इस जल को पिया जाता है।[4] फल के पकने पर धीरे-धीरे गिरी कठोर हो जाती है।[5] अब इसको खाया जा सकता है।

नारियल के कठोर आवरण और अन्दर की स्वादिष्ट गिरी की व्यंजना को कवियों ने पसन्द किया है। मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल सम्मित कहा है। उसका समझना तो कठिन है, परन्तु समझ में आ जाने पर यह अति रमणीय आनन्द प्रदान करता है।

प्राचीन समय में नारियल के आवरण का प्रयोग पात्र के रूप में भी किया जाता था। इसका समुद्गक बनाकर कोई वस्तु सुरक्षित रखी जा सकती थी।[6]

उपयोग—

अति प्राचीन काल से नारियल का प्रचुर उपयोग अनेक कार्यों में होता रहा है। इसको अति शुभ और पवित्र माना जाता था। आवरण के तीन छेदों (नेत्रों) वाला होने से यह त्रिनेत्र शिव की पूजा के लिये ग्राह्य माना गया था। शुभ अवसरों पर इसको भेंट किया जाता है। उद्घाटन के अवसरों पर नारियल को फोड़कर इसकी गिरी बाँटी जाती है।

---

१. हनू० १३-२४। २. बालरा० २-२३।
३. महावीर० ५-३२। ४. बालरा० १-६३।
५. विद्ध २-६।
६. नारिकेलसमुद्गके। —अभिज्ञान० पृ० २८४।

नारियल की गिरी भोजन द्रव्यों में गिनी जाती है। यह चिकनी, पौष्टिक तथा मुख-शोधक है। इसमें प्रचुर तेल, ग्लूकोज, प्रोटीन, खनिज और विटामिन हैं। कच्चे नारियल में प्रचुर जल होता है। इसको डाभ कहते हैं। यह जल शीतल, स्फूर्तिदायक और दाहशमक है। नारियल के पेड़ के अनेक उपयोग हैं। नारियल का क्षार भी बनता है, जिसमें प्रचुर पोटाश होता है। इसको मूत्रशुद्धि के लिये देते हैं। नारियल के छिलके, पत्तों आदि का अनेक उद्योगों में प्रयोग किया जाता है।

१००. निचुल

संस्कृत नाम—इज्जल, हिज्जल, निचुल, अबुल।[१]

हिन्दी नाम—हिज्जल, समुद्रफल।

अंग्रेजी नाम—Reed-grass.

लेटिन नाम—Barringtonia acutaugula Gaertn.

कुल—Lecythidaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, विक्रमोर्वशीय, धूर्तविटसंवाद, हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

निचुल वृक्ष प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं। किन्तु बंगाल और दक्षिण भारत में अधिक हैं। ये जलीय स्थानों पर अधिक होते हैं।

निचुल के मध्यम आकार के वृक्ष होते हैं। जलीय स्थानों पर अधिक होने से इनको अम्बुल (अम्बुनि जायते) और हिज्जल (हितकारी जलं यस्य) कहा गया था। निचुल की छाल आधा इंच मोटी खुरदरी, काली-भूरी होती है। २ इंच चौड़े और ५ इच लम्बे पत्ते हल्के दन्तुर होते हैं। इस पर पुष्पों के लिये दो फीट लम्बा काण्ड लटक कर लाल रंग की पुष्प मंजरियाँ लटक जाती हैं। ये शीघ्र झड़ जाती हैं। पुंकेसर लाल होते हैं। तदनन्तर एक-डेढ़ इंच लम्बे बादाम जैसे फल आते हैं। ताजे फल लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। एक फल में एक बीज होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन साहित्य में निचुल का प्रचुर वर्णन है। संस्कृत नाटकों में भी अनेकशः

---

१ इज्जलो हिज्जश्चापि निचुलश्चाम्बुजस्तथा।

—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १३८।

इसका उल्लेख किया गया है। ये जलीय प्रदेशों में बहुतायत से होते हैं।[1] राजशेखर के अनुसार इसके बड़े वृक्ष होते हैं।[2] 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में निचुल वनस्पति की उपस्थिति का वर्णन किया गया है।[3] कालिदास ने वर्णन किया है कि रामगिरि पर्वत पर वर्षा-ऋतु में हरे-भरे निचुल वृक्षों का सौन्दर्य मन को हरने वाला है।[4]

कवियों ने निचुल वृक्षों के पुष्पित सौन्दर्य का मनोमोदक वर्णन किया है। ये वर्षा-ऋतु में अधिक विकसित और पुष्पित होते हैं।[5] पुष्प मंजरी के रूप में होतें हैं तथा वायु से हिलते हुये अति आकर्षक लगते हैं।[6]

उपयोग—

कवियों के वर्णनों के अनुसार निचुल वनस्पति वन्य है। वनों में वर्षा-ऋतु में पुष्पित होने पर यह मनोरम और आकर्षक लगती है। इसका चिकित्सा के लिये भी उपयोग है। निचुल का फल विरेचक होता है। फल के चूर्ण को जल में हिलाने से फेन निकलता है। इसकी क्रिया मैनफल के समान है। निचुल का फल मछलियों के लिये विषैला हैं, अतः मछली मारने वाले इसके चूर्ण को जल में डालकर उनका शिकार करते हैं।

१०१. निम्ब

संस्कृत नाम—निम्ब, पिचुमर्द, पिचुमन्द, तिक्तक, अरिष्ट, पारिभद्र, हिंगुनिर्यास।[7]

हिन्दी नाम—नीम।

अंग्रेजी नाम—Neem Tree, Margosa Tree.

लैटिन नाम—Azadirachta indica A. Juss.

कुल—Meliaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

---

१. बालरा० ९-३३।　　२. बालरा० ६-४२।

३. हनू० पृ० ६८-७०।

४. स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः सन्। —पूर्वमेघ १४।

५. धूर्त० पृ० ६३, बालरा० ९-३३, अविमारक पृ० १२२।

६. व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि। —विक्रमो० ४-१३।

७. निम्बः स्यात् पिचुमन्दश्च तिक्तकः।
अरिष्टः पारिभद्रश्च हिङ्गुनिर्यास इत्यपि ॥
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ९३।

नाटकों के उल्लेख—

चारुदत्त, पादताडितक, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

नीम के वृक्ष प्रायः सारे भारत में मिलते हैं। वनों में यह स्वतः उगा पाया जाता है। सघन निर्मल छाया के कारण इसको मार्गों के किनारे और वाटिकाओं में लगाया जाता है। यह वृक्ष अधिक शुष्क मार्गों में भी हो सकता है।

नीम के वृक्ष सामान्य ऊँचाई (४ –५० फीट) के हो जाते हैं। अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं से युक्त इस वृक्ष के सघन पत्ते होते हैं। छाल खुरदरी, दरारदार होती है। छोटी-छोटी शाखाओं के अन्त में ४–७ पत्तियों से युक्त पत्ते होते हैं। पत्तियाँ २–४ इंच लम्बी, आधा इंच चौड़ी, किनारों पर कटी हुई आगे से नोकीली होती हैं। सिरे की पत्ती अधिक लम्बी होती है। वसन्त में पतझड़ होके नये पत्ते आते हैं। इस समय यह वृक्ष छोटे श्वेत के रंग के सुगन्धित पुष्पों से भर जाता है। वसन्त के अन्त में फल (निबोली) आ जाता है। वर्षा में यह पककर पीला होता है और अण्डाकार लगभग आधा इंच लम्बा रहता है। छिलके के नीचे कुछ मीठा-कड़वा गूदा और उसके अन्दर कड़ी गुठली होती है। गुठली में लगभग एक तिहाई तेल रहता है।

नीम के पुराने हो जाने पर अनेक बार इसकी छाल से स्वच्छ चमकीला गोंद स्रवित होता है। अनेक बार पुराने वृक्षों से स्वतः ही या चीरा लगाने पर नीरा के समान प्रचुर रस बहने लगता है। वृक्ष की जड़ में गड्ढा खोदकर वहाँ पात्र रखकर इस रस को एकत्रित कर लेते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने नीम के वृक्ष का काफी उल्लेख किया है। हनूमन्नाटक के अनुसार उस युग में दक्षिण वनों में नीम के प्रचुर वृक्ष होते थे।[१] वाटिकाओं में भी नीम वृक्षों को लगाया जाता था, परन्तु इसको पुष्पों वाले पौधों के मध्य नहीं लगाते थे।[२] भवभूति ने नीम के तेल का उल्लेख किया है। नीम के तेल में लहसुन को पकाने से बहुत बुरी सड़े मांस के जलने की सी गन्ध आती है।[३]

नीम को कटुता का प्रतीक माना गया है। इसका प्रत्येक अंग कड़वा होता है। इसका आश्रय लेने वाली वस्तु भी कड़वी हो जाती है। नीम का आश्रय लेने से पटोल (परवल) कड़वा हो जाता है[४] तथा करेले की कड़वाहट और अधिक बढ़ जाती है।[५]

---

१ हनू० पृ० ६८-७०। २. चारु० पृ० १०४।

३. मालती० पृ० २०३। ४. पाद० श्लोक ११६।

५. यदरिष्टमधिरुढा कारवल्ली वल्लरी किमुच्यते कटुकत्वं प्रति।

—विद्ध० पृ० १००।

उपयोग—

नीम बहुत उपयोगी वृक्ष है तथा इसको विविध कार्यों में प्रयोग किया जाता है। छाया के लिये इसको लगाते हैं। यह अधिक शुष्कता को भी सहन करता है, अतः रेगिस्तान के बढ़ाव को रोकने के लिये इसको लगाया जा सकता है। नीम की लकड़ी कठोर तथा चिरस्थायी होती है। इसमें कीड़ा नहीं लगता। अतः इसको मकानों तथा फर्नीचर में प्रयोग किया जा सकता है। नीम के बीज का तेल जलाने के तथा साबुन बनाने के काम आता है। नीम की खली क्रिमियों को भगाती है।

नीम का चिकित्सा में प्रचुर प्रयोग है। इसकी छाल, पत्ते, जड़, निबोली सभी रोग-निवारक हैं। अशुभों को समाप्त करने वाला होने से यह अरिष्ट (न विद्यते रिष्टमशुभं यस्मात्) है। सभी प्रकार से कल्याणकारी होने से सर्वतोभद्र है और पिचु नामक कुष्ठ का निवारक होने से पिचुमर्द तथा पिचुमन्द है। नाम के सभी अंग रक्तशोधक और ज्वरघ्न हैं। नीम के रस को परम शोधक माना जाता है। इसको बोतलों में भरकर सुरक्षित रखा जा सकता है। ताजा रस मधुर-तिक्त होता है। नीम के तेल को क्रिमिनाशन के लिये स्थानीय रूप से व्रणों पर लगाया जा सकता है।

नीम को प्रेत भगाने में उपयोगी माना जाता है। इसकी पत्तियों की छाया शुभ मानी जाती है। चेचक आदि रोगों में इसकी पत्तियों से झाड़-फूंक कराते हैं।

१०२. नीप

संस्कृत कोष ग्रन्थों में कदम्ब और नीप शब्द पर्यायवाची कहे गये हैं।[१] आयुर्वेद के निघण्टु ग्रन्थों में भी ये दोनों शब्द पर्यायवाची है।[२] इस दृष्टि से सामान्यतः कदम्ब और नीप को एक ही वृक्ष समझना चाहिये। परन्तु कुछ कवियों ने इसका अलग-अलग उल्लेख करके यह प्रदर्शित किया है कि कदम्ब और नीप भिन्न हैं। भास ने एक वाक्य में कदम्ब और नीप का अलग-अलग पाठ किया है।[३] कालिदास ने भी कदम्ब और नीप को एक स्थान पर भिन्न वृक्ष कहा है।[४] यह सम्भव है कि कदम्ब और नीप एक ही जाति के परस्पर मिलते-जुलते समान गुण वाले भिन्न वृक्ष हों। कोषकारों ने इनको एक ही मानकर पर्यायवाची के रूप में कह दिया होगा। वर्तमान समय में यह कहना कठिन है कि इन दोनों में क्या भेद है। सम्वतः एंटीना कोर्डि-

---

१. अमरकोष २-४-४२।
२. भावप्रकाशनिघण्टु पुष्पवर्ग ३६।
३. बकुलसरलसर्जार्जुनकदम्बनीनिचुलसुरभीणि।
—अविमारक पृ० १२२।
४. मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्। —ऋतुसंहार ३-१३।

फोलिया वेन्थ एण्ड हुक को नीप माना जा सकता है। नीप का वर्णन कदम्ब के ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

१०३. नीवार

संस्कृत नाम—प्रसाधिका, नीवार, तृणान्न।[1]
हिन्दी नाम—नीवार, तिन्नी, तीनी।
अंग्रेजी नाम—Neewar.
लैटिन नाम—Hygroryza aristata Nees.
कुल—Gramineae.
वर्ग—धान्य वर्ग।

नाटकों के उल्लख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, आश्चर्यचूडामणि, बालभारत, कुन्दमाला।

वनस्पति का परिचय—

नीवार एक वन्य धान्य है और प्रायः सारे भारत में पाया जाता है। यह जलाशयों और नदियों के तटों पर तथा जलबहुल भूमि पर अधिक होता है। वर्षा-ऋतु में धान खेतों में यह स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

नीवार के क्षुप एक से डेढ़ फीट ऊँचे वर्षा-ऋतु में अधिक होते हैं। ये घास के सदृश होते हैं। इस पर बालियों में मंजिरयाँ आती हैं। पकने पर छोटे-छोटे नीवार के कण प्राप्त होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

नीवार धान्य मुनियों को अतिप्रिय था। यह तपोवनों का विशेष धान्य था।[2] तपस्वियों का यह प्रमुख आहार द्रव्य था।[3] यद्यपि यह वनों में स्वतः आता था तथा तपोवनों में इसकी खेती भी की जाती थी। तपोवनों के पालतू मृगों को भी यह खिलाया जाता था।[4] कोष ग्रन्थों में नीवार की गणना तृण धान्यों में की गई है।[5]

कालिदास ने कण्व के आश्रम में नीवार धान्य का विशेष मनोरम वर्णन किया

---

१. प्रसाधिका तु नीवारस्तृणान्नमिति च स्मृतम्।
—भाव० धान्यवर्ग ८६।

२. कुन्द० १-६।

३. बालभा० २-१९, बालरा० ५-१६।

४. आश्चर्य० ३-१। ५. अमरकोष २-९-२५।

है। आश्रम में प्रवेश करते ही दुष्यन्त ने उन वृक्षों को देखा जिनके तल प्रदेश में नीवार धान्य बिखरे पड़े थे। ये धान्य वृक्षों के कोटरों में स्थित शुक-शावकों के मुखों से नीचे गिरे थे।[1] कुटीरों के द्वारों के समक्ष नीवार धान्य की बलि बखेरी जाती थी। इससे कहाँ इनके अंकुर उग आते थे।[2] नीवार को पवित्र धान्य माना गया था। शुभ-अवसरों पर इसको बखेरा जाता था। शकुन्तला की विदा के समय तापसियाँ नीवार धान्य को हाथों में लेकर बखेरती थीं।[3]

उपयोग—

नीवार धान्य वनों में तथा गीली खाली पड़ी भूमि पर स्वतः उग आता था। अतः प्राचीन समय में ऋषिजन इसका प्रयोग करते थे। गरीब मनुष्यों का यह आहार है। नीवार को पवित्र माना जाने से व्रतों से इसको खाया जाता है। पालतू पशुओं को इसके दाने तथा घास खिलाई जाती है।

चिकित्सा की दृष्टि से नीवार शीतल, ग्राही और सुपच है। यह पित्त को शान्त करता है।

१०४. पङ्कच्छित्

संस्कृत नाम—पयःप्रसादी, कतक, पङ्कच्छित्।[4]
हिन्दी नाम—निर्मली।
अंग्रेजी नाम—Clearing nut.
लैटिन नाम—Strychnospotatorum Linn.
कुल—Loganiaceae.
वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मालविकाग्निमित्र।

वनस्पति का परिचय—

निर्मली (पङ्कच्छित्) वृक्ष मध्य भारत में विन्ध्य वनों में और दक्षिण वनों में मिलते हैं। सोन नदी के उद्गम प्रदेश में अधिक हैं।

---

१. नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरुणामधः।
—अभिज्ञान० १-१४।

२. उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः। —अभिज्ञान० ४-११।

३. प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः·········तापसीभिरभिनन्द्यमाना।
—अभिज्ञान० पृ० २८७।

४. पयःप्रसादी कतकः कतकं तत्फलं च यत्।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १०८।

निर्मली वृक्ष मध्यम आकार के होते हैं। ये लगभग ४० फीट तक ऊँचे हो जाते हैं। तना कुछ कटा-फटा कालापन लिये होता है। पत्ते २–३ इंच लम्बे, १–१½ इंच चौड़े अण्डाकार, आगे से एकदम नोकीले, चमकदार, चिकने होते हैं। इस पर श्वेत-पीत वर्ण के छोटे पुष्प मंजरियों के रूप में आते हैं। इनमें सुगन्धि होती है। तदनन्तर बैरी के आकार के फल लगते हैं। पकने पर ये काले हो जाते हैं। एक फल में एक या दो मटमले, चपटे, उन्नतोदर तथा मृदु रोमों से भरे बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

निर्मली (पङ्कच्छित्) का वर्णन अधिक नहीं है। कालिदास ने एक स्थान पर वर्णन किया है कि पङ्कच्छित् को घिसकर मिलाने से मलिन जल स्वच्छ हो जाता है।[१]

उपयोग—

निर्मली का मुख्य उपयोग गंदले जल को स्वच्छ करने के लिये है। प्राचीन काल में जल को स्वच्छ करने का यह प्रमुख साधन था। निर्मली के बीज को घिस-कर मलिन जल में मिलाने से सारी मलिनता नीचे बैठ जाती है तथा स्वच्छ जल ऊपर आ जाता है। जल को स्वच्छ करने के कारण ही इसका नाम पयःप्रसादनी, पङ्कच्छित् और निर्मली हुआ।

चिकित्सा में निर्मली बीजों को ग्राही समझा जाता है। बीज को घिसकर नेत्र में लगाने से नेत्राभिष्यन्द (दुखती आँख) को आराम होता है।

१०५. पटोल

संस्कृत नाम—पटोल, कुलक, पाण्डुक, कर्कशच्छद, राजीफल, पाण्डुफल, राजेय, अमृतफल, बीजगर्भ, प्रतीक, कुष्ठहा, कासभञ्जन।[२]

हिन्दी नाम—परवल।

अंग्रेजी नाम—Pointed gourd.

लैटिन नाम—Trichosathes dioica Roxb.

कुल—Cucurbitaceae.

वर्ग—शाक वर्ग।

---

१. पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः। —**मालविका० २-५।**

२. पटोलः कटुकस्तिक्तः पाण्डुकः कर्कशच्छदः।
राजीफलः पाण्डुफलो राजेयश्चामृतफलः॥
बीजगर्भः प्रतीकश्च कुष्ठहा कासभञ्जनः॥
—भाव० शाकवर्ग ६९-७०।

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक।

वनस्पति का परिचय—

परवल प्रायः सारे भारत में होता है। उत्तरी भारत में, विशेष रूप से पूर्वी प्रदेशों में यह अधिक होता है। पटोल दो प्रकार का हैं—वन्य और कृषिजन्य। कृषिजन्य परवल को शाक के निमित्त खेतों में बोया जाता है। यह मीठा होता है। वन्य परवल के सभी अंग कड़वे होते हैं।

परवल की लतायें होती हैं। ये समीपस्थ आश्रय पर चढ़ जाती हैं। खेतों में इनकी वृद्धि के लिये आश्रय खड़े किये जाते हैं। परवल लता के मुख्य काण्ड तथा शाखाओं पर रोम होते हैं। पत्तियाँ ३–४ इंच लम्बी, १½ इंच चौड़ी पान के आकार की आगे से नोकीली होती हैं। वर्षा-ऋतु में इस पर पुष्प आते हैं और वर्षान्त में फल आ जाते हैं। कच्चा फल श्वेत धारियों से युक्त हरा होता है। पकने पर यह पिंगल हो जाता है। शाक के निमित्त कृषिजन्य हरा फल प्रयुक्त होता है। चिकित्सा में वन्य पटोल लेते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

पटोल का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं है। 'पादताडितिक' में एक स्थान पर इसका संकेत है। लता होने से पटोल किसी सबल का आश्रय लेने के लिये बाध्य है। परन्तु किसी कड़वे पदार्थ का आश्रय लेने से इसका कड़वा हो जाना ही स्वाभाविक है; श्यामिलक ने वर्णन किया है कि पटोल का नीम पर आश्रय लेना ऐसा ही है, जैसा कि यवनी गणिका का मालव के साथ संयोग होना।[१]

उपयोग—

कृषिजन्य पटोल मीठा होता है तथा इसका शाक बनता है। यह सुपच और पौष्टिक है। रोगियों के लिये उत्तम पथ्य है। वन्य पटोल कड़वा होता है और चिकित्सोपयोगी है। यह उष्ण, कटु, त्रिदोषनाशक, रक्तशोधक, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, विषघ्न और बल्य है। पटोल की जड़ तीव्र रेचक है। इसको अधिक मात्रा में देने से वमन होता है।

१०६. पनस

संस्कृत नाम—पनस, कण्टकिफल, पलस, अतिबृहत्फल।[२]

१. पाद० श्लोक ११६।

२. पनसः कण्टकिफलः पलसोऽतिबृहत्फलः।

—भाव० आम्रादिफलवर्ग० २५।

हिन्दी नाम—कटहल ।

अंग्रेजी नाम—Jack Tree.

लैटिन नाम—Artocarpusintegrifolius Linn.
Artocarpus hetereophyllus Lamk.

कुल—Moraceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, विद्धसालभञ्जिका ।

वनस्पति का परिचय—

कटहल के वृक्ष भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में होते हैं । गरम स्थानों पर यह अधिक होता है । सामान्यतः इनको वाटिकाओं में लगाया जाता है। पश्चिम घाट के वनों में इसके वृक्ष हैं ।

कटहल का बड़ा वृक्ष ४०-६० फीट तक ऊँचा हो सकता है । छाल खुरदरी होती है और तोड़ने पर दूध निकलता है । पत्ते ४-८ इंच लम्बे, अण्डाकार, आगे से नोकीले तथा गहरे हरे रंग के होते हैं । स्तम्भ तथा मोटी शाखाओं पर पुष्प आते हैं । २-६ इंच लम्बे, गोल-अण्डाकार तथा पीले रंग के होते हैं । फल बड़े होते हैं, जो दो फीट तक के हो सकते हैं । अतः इसको बृहत्फल कहा जाता है । फल की छाल पर कोमल काटे होते हैं, अतः यह कण्टकिफल है । अन्दर बीजों से लिपटा श्वेत गूदा होता है, जो पकने पर पीला हो जाता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

पनस भारतीयों को बहुत प्रिय रहा है और इसको वाटिकाओं में लगाया जाता था । इनकी देखभाल के लिये माली नियुक्त किये जाते थे ।[1] पनस के फल कवियों को आकर्षक लगे । शूद्रक ने वर्णन किया है कि वृक्षों पर वानर ऐसे लटक रहे हैं, जैसे कि पनसफल हों ।[2]

उपयोग—

पनस का मुख्य उपयोग शाक के लिये है । कच्चे फल का शाक बनता है और पके फल का गूदा ऐसे ही खाया जा सकता है । कटहल के पके बीज पौष्टिक और स्वादिष्ट होते हैं । इनको उबाल कर या भून कर खाते हैं । कटहल के पके फल शीतल, गुरु, पौष्टिक और बल्य माने गये हैं । कच्चा फल कब्ज उत्पन्न करता है । कटहल की लकड़ी फर्नीचर के लिये उपयोगी है ।

---

१. पनसवनपालक इव । —विद्ध० पृ० ५१ ।

२. पनसफलानीव वानरा लतन्ति । —मृच्छ० ८-८ ।

कटहल के पत्तों को त्वचा के रोगों में लगाते हैं। फोड़ों को पकाने के लिये इसका दूध लगाया जाना चाहिये।

१०७. पलाण्डु

संस्कृत नाम—पलाण्डु, यवनेष्ट, दुर्गन्ध, मुखदूषक।[1]

हिन्दी नाम—प्याज

अंग्रेजी नाम—Onion

लैटिन नाम—Allium cepa Linn. **कुल**—Liliaceae

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अनर्धराघव

वनस्पति का परिचय—

प्याज की खेती भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में की जाती है। वनों में स्वतः उत्पन्न होने वाले पलाण्डु को वनपलाण्डु कहते हैं।

प्याज की फसल वर्ष में दो बार ली जा सकती है। इसके लिये उपजाऊ बलुई दुमट मिट्टी अच्छी होती है। सिंचाई भी अच्छी होनी चाहिये। प्याज को अन्य फसलों, गन्ने आदि के साथ भी बो देते हैं। सामान्यतः इसको अक्टूबर-नवम्बर में बोया जाता है तथा ६० दिन में फसल तैयार हो जाती है। इसमें जड़ से ही सीधे पत्ते निकलते हैं और इसका कन्द ही प्याज के नाम से काम में आता है। रंग के भेद से प्याज दो प्रकार का होता है श्वेत और लाल।

काव्यात्मक वर्णन—

भारतीय शास्त्र ग्रन्थों में प्याज का उल्लेख किया जाने पर भी सम्भवतः प्राचीन काल में भोजन में इसका व्यवहार कम ही किया जाता रहा था। संस्कृत कवियों ने इसका उल्लेख कम ही किया है। मुरारि ने 'अनर्घराघव' में इसका उल्लेख मात्र किया है कि पलाण्डु दुर्गन्धित होता है।[2]

उपयोग—

प्याज सामान्यतः भोजन द्रव्यों में मसाले और सब्जी के रूप में प्रयुक्त होता है। सम्भवतः अपनी दुर्गन्ध के कारण यह प्राचीन समय में भोजन का दैनिक अंग नहीं बन सका था। इसको दुर्गन्ध और मुखदूषक नाम दिये गये। यह यवनों का

---

१. पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः।

—भाव० हरीतक्यादि वर्ग २२६।

२. अनर्घराघव २-२।

प्रिय आहार (यवनेष्ट) माना गया था। 'महाभाष्य' के अनुसार भोजन में इसका प्रयोग वर्जित है और उच्च वर्ण के लोग इसका व्यवहार नहीं करते।[1] परन्तु वर्तमान समय में भोजन में इसका प्रयोग बहुत बढ गया है।

चिकित्सा के लिये प्याज का प्रयोग काफी रहा है। इस पर साहित्य भी बहुत लिखा गया है। स्वास्थ्य की रक्षा करने के कारण ही इसको पलाण्डु (पल् रक्षणे+आण्डु) प्रत्यय) कहा गया था। पलाण्डु को उद्दीपक, मूत्रल और पाचक माना जाता है। इसमें विटामिन और खनिज प्रचुर हैं।

१०८. पलाश

संस्कृत नाम—पलाश, किंशुक, पर्ण, यज्ञिय, रक्तपुष्पक, क्षारश्रेष्ठ, वातपोथ, ब्रह्मवृक्ष, समिद्वर।[2]

हिन्दी नाम—ढाक, पलाश, टेसू।

अंग्रेजी नाम—Forest Flame, Bustard Teak.

लैटिन नाम—Butea frondosa Roxb. (पुराना नाम)

कुल—Fabaceae Butea monosperma Tanb (नया नाम)

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

पञ्चरात्र, बालचरित, मृच्छकटिक, उत्तररामचरित, अनर्घराघव, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

पलाश वन्य वृक्ष हैं और प्रायः सारे भारत में होता है। हिमालय में यह ४००० फीट की ऊँचाई तक मिलता है।

पलाश वृक्ष मध्यम आकार के २५-३५ फीट तक ऊँचे होते हैं। पुराने वृक्ष और भी ऊँचे हो जाते हैं। तना टेढा-मेढा खुरदरा और मटमेला होता है। पत्ते तीन-तीन के पत्रक के समूहों में होते हैं। एक पत्ता आगे तथा दो पीछे युग्म में होते हैं। पत्ती ५-६ इंच लम्बी, ३-४ इंच चौड़ी, अण्डाकार, आगे से नोकीली, तल भाग पर चिकनी और पृष्ठ भाग पर खुरदरी होती है। वसन्त में पतझड़ होकर वृक्ष

---

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी २-२-२६ पर महाभाष्य।

२. पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः।
क्षारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः।
—भाव० वटादिवर्ग। ४९।

पिंगल पुष्पों से भर जाता है। पुष्प--वृन्त गहरे हरे रंग का श्यामल होता है। इसमें तोते के आकार की पिंगल (वासन्ती) पंखुड़ी निकली रहती है। इस कारण इस वृक्ष को किंशुक नाम दिया गया था (किञ्चित् शुक इव)। ग्रीष्म में पुष्प झड़ कर फली आ जाती है। यह ५-६ इंच लम्बी, १–१½ इंच चौड़ी चपटी रोमश होती हैं। इसमें आगे की ओर एक चपटा गोल बीज रहता है। पलाश को चीरा लगाने से लाल रंग का गोंद निकलता है। कभी-कभी यह स्वतः भी निकलता रहता है।

काव्यात्मक वर्णन –

पलाश या किंशुक वृक्षों के सौन्दर्य ने कवियों के रसिक सहृदय मानस को बहुत अधिक प्रभावित किया था। अनेक कवियों ने इसके नयनाभिराम सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना की है। सामान्यतः पलाश और किंशुक को पर्यायवाची माना जाता है। परन्तु किंशुक पलाश को वह जाति है, जिसके पुष्प अधिक लाल होते हैं।

पलाश को प्राचीन ऋषियों ने धार्मिक महत्त्व दिया था। यज्ञ की समिधाओं के लिये पलाश लकड़ी अच्छी मानी गई थी। अतः इसके यज्ञिय और समिद्वर नाम पड़े। ब्रह्मचारियों को पलाश के दण्ड के धारण करने का निर्देश दिया गया था। अतः इसको ब्रह्मदण्ड भी कहा गया। परन्तु इस वृक्ष को आम की अपेक्षा हीन कोटि का माना गया।[1]

पलाश के पुष्प बहुत सुन्दर होते हैं। वसन्त ऋतु का आरम्भ होते ही कलियाँ आकर पुष्प विकसित हो जाते है।[2] पुष्पों के नीचे का वृन्त भाग गहरा हरा-श्यामल होता है तथा ऊपर का पिंगल-स्वर्णिम।[3] ये पुष्प अग्नि-कणों के समान चमकीले होते हैं।[4] पुष्पों की आकृति कुछ गोलाई लिये आगे से नोकीली होती है, अतः मुरारि ने इनको सिंहों की नखों की पंक्ति के समान कहा है।[5] कालिदास इनको नखक्षतों का उपमान बताते है।[6] पलाश पुष्पों में मधु प्रचुर मात्रा में भरा रहता है। वसन्त में इन पुष्पों के विकसित होते ही मधुपान के लिये भ्रमर मंडराने लगते हैं।[7]

कवियों ने पलाश के पत्तों के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। वसन्त में पलाश पर नव पलाश (पत्ता) विकसित होने पर इसका सौन्दर्य अनुपम हो जाता है।[8] ये

---

१. मृच्छ० पृ० ३१२।
२. बालरा० ५-४०, विद्ध० १-२५।
३. कर्पूरमञ्जरी। ४. उत्तर० ६-४१
५. अनर्घ० २-२७। ६. कुमार० ३-२९।
७. विद्ध० १-२५।
८. नवपलाशपलाशवनं पुरः। शिशुपालवध—अष्टम सर्ग।

पत्ते वायु में हिलते अति मनोरम लगते हैं।[१] पत्तों के अति प्रशस्त होने के कारण ही इसका नाम पलाश हुआ था (प्रशस्तानि पलाशानि यस्य सः पलाशः)।

पलाश वृक्षों का वर्णन वनों में ही अधिक हुआ है। वाटिकाओं में इसके वर्णन सामान्यतः नहीं हैं। लंका के वनों में पलाश प्रचुर थे। राम-रावण युद्ध में वानरों ने इनको प्रहार के लिये आयुद्ध बनाया था।[२] गोदावरी के तट पर पलाश बहुतायत से थे। मुरारि ने वर्णन किया है कि राम इसकी कलियों के साथ सीता से विलास-क्रीडा किया करते थे। भास ने यमुना के तट पर पलाश का उल्लेख किया है। कृष्ण ने यमुना के ह्रद में कूद कर जब कालिय नाग का दमन किया तो गोपाल-बालकों ने पलाश वृक्ष पर चढ कर उस दृश्य को देखा था।[३] तपोवनों के साथ की भूमि में वृक्ष अवश्य होते थे तथा विद्यार्थी इनको सींचा करते थे।[४]

कवियों ने पलाश वृक्ष के माध्यम से अनेक कोमल कल्पनायें की हैं। पलाश कलियाँ मानों प्रणयी-प्रणयिनी की विलास-क्रीड़ाओं की नखक्षत हैं। कलियां और पुष्प प्रेमियों की क्रीडा के साधन हैं। पलाश को कुसुमित देखकर विरही जनों की पीड़ा बहुत अधिक बढ जाती है और वे कृश होने लगते हैं। इसी कारण इस वृक्ष को पलाश (पलं वियोगिनां मांसम् अश्नाति इति पलाशः) कहा गया है। पलाश-पुष्प मानों कामदेव का अर्धचन्द्राकार बाण है, जो विरही पथिकों के मांस को खाकर अपने नाम को सार्थक करता है। इसके गहरे हरे रंग के वृन्त मानों इन पथिकों के हृदयों के खण्ड हैं।[५]

उपयोग—

पलाश अति उपयोगी वृक्ष है। यह बंजर भूमि में भी खूब उगता है। इसकी लकड़ी ईंधन के लिये उपयोगी है। यह यज्ञ की समिधा के रूप में विहित है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी पलाशदण्ड धारण करते थे। पलाश पर ताख को सरलता से रोपित और वर्धित किया जा सकता है।

---

१. नदीपलाशाः पवनवशाच्चलितैकपर्णहस्तः। —पञ्चरात्र १-१९।

२. बालरा० पृ० ५२८।

३. इमं तावत्कुम्भपलाशमारुह्य निध्यायामि।

—बालच० पृ० ७४।

४. अनर्घ० २-२७।

५. स्मरार्धचन्द्रेषु निभेक्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्।
—नैषध० १-८४।

पलाश का प्रत्येक अंग चिकित्सा और अन्य व्यवहार में उपयोगी है। बीज, पत्र, पुष्प, छाल, गोंद और क्षार काम में लाये जाते हैं। पलाश के बीजों से पीले रंग का तेलीय द्रव्य निकलता है। यह उदरक्रिमियों कष्ट करता है। पलाश के पत्ते छाल संग्राही, मूत्रल और अमर्तयप्रवर्तक हैं। इसकी छाल के तन्तुओं से रस्सी बन सकती है। पत्तों को छाते के रूप में लगा कर वर्षा से रक्षा पाई जा सकती है। इनके दोने और पत्तलें भी बनते हैं। पलाश के पुष्पों से वासन्ती रंग बनाया जाता है। ये पुष्प रक्तस्तम्भक, ज्वरघ्न, श्वेतप्रदरनाशक और मूत्रल भी होते हैं। पलाश का गोंद गहरे लाल रंग का होता है और इसके मटर के बराबर दाने मिलते हैं। यह स्तम्भक, अम्लपितनाशक, वृष्य और बल्य है। पलाश का क्षार भेदक है।

१०९. पाट

'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में पलाश नामक वृक्षों की उपस्थिति कही गई है।[१] इस वृक्ष की पहचान नहीं हो सकी है। सन जाति की एक वनस्पति पटसन (जूट) को पाट कहा जाता है। परन्तु यह वनस्पति पूर्वी भारत में होती है और इसके लिये अधिक आर्द्रता की आवश्यकता है। अतः 'हनूमाटक' में कही गई पट वनस्पति की इससे पहचान करना उचित नहीं है।

११०. पाटला

संस्कृत नाम—

लाल पाटला—पाटति, पाटला, समोपा, मधुदूत, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थाती, अलिबल्लभा, ताम्रपुष्पी।

श्वेत पाटला—पाटला सिता, मुष्कक, मोक्षक, घण्टापाटलि, काष्ठपाटला।[२]

हिन्दी नाम—पाठल

अंग्रेजी नाम—Red Lodhra.

लैटिन नाम—Sterospermum suave olens DC

कुल—Bignoniaceae

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।

२. पाटलिः पाटला मोधा मधुदूतो फलेरुहा।
कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी कालस्थात्यतिबल्लभा।
ताम्रपुष्पी च कथिताऽपरा स्यात् पाटला सिता।
मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १९-२०।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, वेणीसंहार, मालतीमाधव, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका।

पाटला वन्य वृक्ष है। उत्तरी भारत के मैदानों और हिमालय के तराई क्षेत्रों में यह अधिक होता है। इसको वाटिकाओं में भी लगाये जाने के वर्णन मिलते हैं।

पाटला के मध्यम आकार के वृक्ष होते हैं। बड़े वृक्ष ६० फीट तक भी हो सकते हैं। वसन्त में पतझड़ होता है। तना सीधा चला जाता है और ऊँचाई पर जाकर शाखायें होती हैं। नई शाखायें चिपचिपी, रोमश और ग्रन्थित होती हैं। पत्ते ५-९ पत्रकों वाले होते हैं। पत्ती ३-७ इंच लम्बी, २-३ इंच चोड़ी, अण्डाकार आगे से नौकीली, मृदु और रोमश होती है। वृक्षों के काफी पुराना होने पर ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं। अति सुगन्धित, बाहर से लाल और भीतर से पीली धारियों वाले घण्टाकृति पुष्पों की मंजरियाँ होती हैं। इनमें से केसर बाहर झांकते हैं। शरद् ऋतु में फलियां आती हैं। ये १–१½ फीट लम्बी, आधा-एक इंच व्यास की चार अस्पष्ट रेखाओं तथा बिन्दुकों से चिह्नत होती हैं। प्रत्येक फली में १२-२० बीज होते हैं।

भावप्रकाशनिघन्टु में सिता पाटला का भी उल्लेख है। इसके पुष्प पीले-गुलाबी रंग के बड़े आकार के घण्टे के समान होते हैं। यह घण्टापापलि कहलाता है। इसके वृक्ष दक्षिण भारत में अधिक होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

अपने रक्तवर्ण, चमकीले पुष्पों के कारण पाटला कवियों को बहुत प्रिय लगा। ये वृक्ष मूलतः आरण्य हैं। भवभूति ने दक्षिण वनों में पाटला वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया है।[1] राजशेखर के अनुसार राम-रावण युद्ध में राक्षसों पर प्रहार करने के लिये वानरों ने पाटला की शाखाओं को हथियार बनाया था।[2] पाटला वृक्ष वाटिकाओं में भी लगाये जाते थे। वत्सराज उदयन का प्रमदोद्यान इन वृक्षों से सुशोभित था।

पाटला के पुष्पित होने के सम्बन्ध में कवियों ने विविध कल्पनायें की हैं। भट्टनारायण के अनुसार पाटला पर शरद् ऋतु में पुष्प आते है।[3] 'रत्नावली' और विद्धसालभञ्जिका' में[4] इनके वसन्त में पुष्पित होने का वर्णन है। 'विद्धसालभञ्जिका' में ही एक अन्य स्थान पर इनके ग्रीष्म में पुष्प होने का संकेत किया गया है।[5] कालिदास ने वर्णन किया है कि ग्रीष्म ऋतु में पाटला के पुष्पों के सम्पर्क से वन की

---

१. मालती० पृ० १८०। २. बालरा० पृ० ५२८।
३. वेणी० पृ० ५२। ४. विद्ध० १-२५।
५. विद्ध० ४-७।

वायु शीतल हो जाती है।[१] शरद् में पाटला के पुष्पित होने की कल्पना असंगत प्रतीत होती है। सम्भावना यह है कि पाटला पर बसन्त में कलियाँ आनी प्रारम्भ हो जाती हैं।[२] और ग्रीष्म में पुष्पों का पूर्ण रूप से विकास हो जाता है।[३]

पाटला की कलियाँ[४] और पुष्प[५] गहरे लाल होते हैं। ये अतिशय सुगन्धित होते हैं। पुष्पों में रस भर जाने पर भ्रमर और मधुमक्षिकायें मंडराने लगते हैं। पुष्पों को मसलने पर उनकी सुगन्धि और भी फैल जाती है।[६] पुष्प के लाल होने पर भी पाटल का वृन्त गहरा हरा-काला होता है। अतः पाटला को कृष्णवृन्ता कहा गया है।[७] भ्रमरों का प्रिय होने से यह अतिप्रिया भी है। श्रीहर्ष ने पाटला के पुष्प-गुच्छों में कामदेव के तूणीर की कल्पना की है, जिसको देखकर वियोगियों का हृदय कांप जाता है।[८]

उपयोग—

नाटकों में पाटला का वर्णन पुष्पों के सौन्दर्य के कारण हुआ है। इस प्रयोजन से यह वाटिकाओं में लगाया जा सकता है।

पाटला का चिकित्सा में प्रचुर प्रयोग है। यह दशमूल गण की प्रसिद्ध औषधि है। पाटला की छाल कुछ उष्ण, कटु-तिक्त, त्रिदोष नाशक, रुचिवर्धक, मूत्रल, अश्मरी भेदक, ज्वरघ्न और दाहशामक है। इसका पुष्प हृदय और शरीर के लिये पौष्टिक और वाजीकरण है। पुष्पों का गुलकन्द पौष्टिक माना जाता है।

पारिजात (कल्पवृक्ष)

संस्कृत नाम—पारिजात, निम्बतरु, मन्दार, पारिभद्र।[९] कल्पवृक्ष।
हिन्दी नाम—फरहद
अंग्रेजी नाम—Indian coral Tree
लैटिन नाम—Erythrina indica Lamk. **कुल**—Pabilionaceae.

---

१. पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः। —अभिज्ञान० १-३।
२. बालरा० ५-४। ३. बालरा० ३-२६।
४. विद्ध० १-१५, बालरा० ५-४०।
५. विद्ध० ४-७। ६. मालती० पृ० १५५।
७. अकरकोष २-४-५४।
८. स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः।
—नैषध० १-८५।
९. पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दार पारिजातकः। —भाव० गुडूच्यादिवर्ग १००।

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

प्राचीन साहित्य में पारिभद्र, पारिजातक, मन्दार, कल्पवृक्ष आदि वृक्षों की देवतरुओं के रूप में कल्पना की गई है। इनके वर्णनों में पौराणिक कथाओं का इतना सघन आवरण है कि उसको भेद कर वनस्पति की ठीक पहचान करना अति कठिन है। किन्हीं वर्णनों के अनुसार ये वृक्ष अलग-अलग प्रतीत होते हैं और किन्हीं वर्णनों के अनुसार ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं। 'अमरकोष' में पाँच देवतरुओं की गणना है—मन्दार, पारिजातक, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन।[१] परन्तु एक अन्य स्थान पर पारिभ्रद्र, मन्दार और पारिजातक को पर्यायवाची कहा गया है।[२] यही बात 'भावप्रकाशनिघण्टु' में भी है। साहित्यक वर्णनों में मन्दार, पारिजातक, पारिभद्रा और कल्पवृक्ष इन सबका वर्णन इस प्रकार है कि ये शब्द एक ही वृक्ष के अनेक नाम हैं। अतः इस प्रसंग में इसी तथ्य को आधार मानकर विवरण दिया जा रहा है।

पारिजात या कल्पवृक्ष की पहचान विवादास्पद है। पुराणों के अनुसार समुद्र का मन्थन करके जो चौदह रत्न निकले थे, उनमें कल्पवृक्ष भी एक था। इसको नन्दन वन में लगा दिया गया था। इसकी विशेषता थी कि यह याचकों की सभी मांगों को पूरा करता था। अधिक सम्भव है कि कल्पवृक्ष काल्पनिक ही था, क्योंकि वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों में इसका नाम नहीं है। कोष ग्रन्थों में मन्दार आदि के साथ इसकी गणना देवतरुओं में की गई है तथा इनको पर्यायवाची माना गया है।

संस्कृत कवियों ने सामान्यतः मन्दार, पारिभद्र, पारिजातक और कल्पवृक्ष को पर्यायवाची मान कर देवतरु के रूप में इसका वर्णन किया है। कालिदास के काव्यों से, विशेष रूप से मेघदूत से यह स्पष्ट है जबकि वे अलकापुरी के घरों में और मन्दाकिनी के तट पर मन्दार तथा कल्पवृक्षों की उपस्थिति का वर्णन करते हैं। परन्तु भगवतशरण उपाध्याय मन्दार और पारिजात को अलग वृक्ष कहते हैं। वे पारिजातक को हरसिंगार और मन्दार को मनार कहते हैं।[३] निघण्टु ग्रन्थों में मन्दार और पारिभद्र अन्य वनस्पतियों के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुये हैं। मन्दार शब्द श्वेत अर्क और महानिम्ब का तथा पारिभद्र नीम का पर्यायवाची है।

---

१. पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पंसि वा हरिचन्दनम्। —अमरकोष २-२-२६

२. भावप्रकाशनिघण्टु—गुडूच्यादिवर्ग १००।

३. कालिदास का भारत भाग प्रथम पृ० ७३।

देहरादून की वन्य अनुसन्धानशाला के श्री के० एम०वेद ने कल्पवृक्ष पर प्रशंसनीय अन्वेषण कार्य किया है और उनके लेख विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं।[1] उनके अनुसार यह वृक्ष न तो काल्पनिक है और नाहीं स्वर्गीय है। मूलतः यह वृक्ष अफ्रीका का है और वहाँ भूमध्यरेखा के दोनों और २०° अक्षांश तक होता है। भारतवर्ष में भी यह कहीं-कहीं मिलता है। राजस्थान में अजमेर के समीप मंगलियावास में, रामेश्वरम् में, उत्तर प्रदेश में बाराबंकी के समीप बरुलिया में और इलाहाबाद के समीप झूसी में ये वृक्ष हैं। यहाँ इस वृक्ष की कल्पवृक्ष या पारिजात के रूप में पूजा होती है और इनको स्वर्ग से अवतरित माना जाता है। इस प्रकार का एक वृक्ष वेद महोदय ने अपने घर में भी लगा रखा है तथा अनेक पौधे तैयार करा कर विभिन्न स्थानों में वितरित किये हैं।

कहा जाता है कि प्राचीन समय में अफ्रीका के पूर्वी तट से भारतवर्ष के पश्चिमी तट के व्यापारिक सम्बन्ध थे। उस समय अफ्रीका से यह वृक्ष समुद्र को पार करके भारतवर्ष में आया होगा। इस प्रकार वह पौराणिक कथा प्रसिद्ध हो गई कि समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाले १४ रत्नों में कल्पवृक्ष भी एक था।

इस वृक्ष को अफ्रीका में तथा हिन्दी में बओबाव (Baobab) और लैटिन में एडन्सोनिया डिजिलाटा बाओबाब (Adansonia digilata Baobab) कहा जाता है और यह बौम्बेवेसी (Bombacaceae) कुल की वनस्पति है। यह वृक्ष सामान्यतः ६५—८० फीट तक ऊँचा होता है। तने का घेरा ६० फीट तक होता है। पुराने वृक्ष १४० फीट और इससे भी अधिक ऊँचे हो सकते हैं। इसकी लकड़ी, फल, पुष्प आदि मनुष्यों के निवास, वस्त्र और भोजन की आवश्यकता को पूरा कर सकते है। श्वेत पंखुड़ियों वाले इसके पुष्प रात्रि में विकसित होते हैं और इनकी सुगन्धि दूर-दूर तक फैल जाती है। फल विशाल आकार के १२ इंच तक लम्बे होते हैं। पकने पर हल्के खट्टे गूदें में वृक्क के आकार के गहरे आकलेटी बीज भरे रहते हैं। इसके तने के खोल में प्रचुर मात्रा में जल भर जाता है, जो प्यासे पथियों की प्यास बुझा सकता है।

बाओबाब वृक्ष की आकृति ऊपर शाखाओं-प्रशाखाओं से इस प्रकार की होती है कि मानों किसी ने जड़ को ऊपर करके वृक्ष को उलट कर रख दिया हो। इस आधार पर वेद महोदय का मत है कि 'भगवद्गीता' में जिस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन है और जिसका मूल ऊपर तथा शाखायें नीचे कही गई है[2], वह यही कल्पवृक्ष और कृष्ण

---

१. धर्मयुग १९ दिसम्बर १९७७, साईंस टुडे, एप्रिल १९७८।
२. ऊर्ध्वमूलमधः साखमव्यक्तं प्राहुरव्ययम्। —भगवद्गीता १५-१।

के समय में अफ्रीका से भारत में, सम्भवतः द्वारिका में सर्वप्रथम आया था। वर्तमान समय में अश्वत्थ का जो पीपल अर्थ किया गया है, वह अशुद्ध है।

इस सब प्रतिपादन को दृष्टि में रख कर भी प्राचीन साहित्य में वर्णित कल्पवृक्ष बाओबाब प्रतीत नहीं होता। अधिक विवाद में न जाकर यह कहना ही पर्याप्त होगा कि प्राचीन साहित्य में कल्पवृक्ष या मन्दार को हिमालय के ऊँचे क्षेत्रों में वर्णित किया गया है, जबकि वेद महोदय द्वारा वर्णित वृक्ष सूखे मैदानों का है। बाओबाब के पुष्प अलग-अलग होते हैं, जबकि कल्पवृक्ष के पुष्पों की मंजरियाँ होती है।

कल्पवृक्ष, मन्दार या पारिजातक की पहचान करना निश्चयात्मक रूप से कठिन है। प्राचीन साहित्य के वर्णनों के अनुसार कल्पवृक्ष और उसके पर्यायवाची शब्द किसी काल्पनिक वृक्ष का संकेत करते हैं। वनस्पतियों की उपयोगिता और लोकप्रियता ने कल्पवृक्ष की कल्पना को उसी प्रकार जन्म दिया होगा, जैसेकि गौ की उपयोगिता और लोकप्रियता ने कामधेनु की कल्पना को जन्म दिया था। वनस्पतियाँ मानव की सभी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। अतः सभी कामनाओं को पूरा करने वाले कल्पवृक्ष की कल्पना होना अस्वाभाविक नहीं है। यही कारण है कि विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न वृक्षों को कल्पवृक्ष समझा जाता है। दक्षिण भारत में नारियल का वृक्ष अधिक लोकप्रिय है तथा आर्थिक दृष्टि से उपयोगी माना जाता है। अतः अनेक समालोचक इसको कल्पवृक्ष मानते हैं। उपयोगिता और लोकप्रियता की दृष्टि से अनेक समालोचक आम को यह स्थान देते हैं, गढवाल में जोशीमठ (ज्योतिमठ) में उस शहतूत वृक्ष को कल्पवृक्ष माना जाता है, जिसके नीचे श्री शंकराचार्य ने तपस्या की थी।

कल्पवृक्ष को काल्पनिक मानने पर भी उसके कुछ पर्याय लौकिक वृक्षों के रूप में व्यवहृत हैं। उनके आधार पर इसका कुछ विवरण देना समुचित होगा। निघण्टु ग्रन्थों में पारिजातक को फरहद कहा गया है, अतः उसका इसी रूप में परिचय दिया जा रहा है। पुराणों तथा काव्यों में वर्णित कल्पवृक्ष तो काल्पनिक ही है।

पारिजात वृक्ष प्रायः सभी प्रान्तों में मिलता है। विशेष रूप से हिमालय के क्षेत्रों में यह अधिक होता है। इसके मध्यम आकार के वृक्ष शीघ्रता से बढ़ जाते हैं। छाल चिकनी, हरी तथा श्वेत खड़ी रेखाओं से युक्त होती है। पत्ते त्रिपत्रक होते हैं। पत्तियाँ ४-६ इंच लम्बी, गोलाकार और कुछ नोकीली होती हैं और आगे की ओर कुछ बढ़ी होती हैं। वर्षा के अन्त तथा शरद् के प्रारम्भ में पुष्प आते हैं। सुगन्धित पुष्प

मंजरियों के रूप में आते हैं। पुष्पदण्ड चार इंच लम्बा और मंजरी ६ इंच लम्बी होती है। पुष्पों का रंग चमकीला लाल होता है। इनके मध्य में से लाल पुकेसर निकला रहता है। पुष्प झड़ने पर फलियाँ लगती हैं। पकने पर यह ६–१० इंच लम्बी तथा काली हो जाती है। प्रत्येक फली में ६–१२ चिकने, भूरे-लाल, अण्डाकार, तथा एक इंच के बीज होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

पारिजात या कल्पवृक्ष की गणना स्वर्ग के वृक्षों में की गई है। यह नन्दन वन में होता है।[१] देवता इसके पुष्पों को धारण करते है।[२] सत्यभामा को प्रसन्न करने के लियेभगवान् कृष्ण इस वृक्ष को स्वर्ग से लाये थे।[३]

संस्कृत कवियों ने पारिजात के सम्बन्ध में अनेक मधुर कल्पनाये की हैं। इसको रमणियों का प्रिय कहा गया हैं। इसके पल्लव अति कोमल और सुखद है। ये तरुणियों के हाथों के योग्य उपमान है।[४] स्वर्ग की तरुणियां पारिजात (मन्दार) के रक्त वर्ण किसलयों को कानों में आभूषण के रूप में धारण करती है।[५]

कालिदास ने अलकापुरी में मन्दार वृक्ष (कल्पवृक्ष) का सौन्दर्य विशेष रूप से अभिव्यक्त किया है। यज्ञ की यक्षिणी ने अपने गृहोत्सव में एक मन्दार वृक्ष लगाया था, जो अभी छोटा ही था। इसको वह पुत्र के समान पालती थी। हाथ बढ़ा कर ही इसके पुष्प-गुच्छों को तोड़ा जा सकता था।[६] अलकापुरी में मन्दार वृक्ष प्रचुर संख्या में थे। मन्दाकिनी के तट पर उगे हुये इन वृक्षों की छाया में यक्षिणियाँ धूप से बचने के लिये बैठ जाती थीं और शीतल वायु का सेवन करती थीं।[७] वे मन्दार पुष्पों को केशों में सजाती थीं। शीघ्रता से चलने पर ये पुष्प भूमि पर बिखर जाते थे।[८] इन

---

१. बालरा० पृ० १८०।
२. कुन्द० १-१।
३. सुभद्रा० पृ० ९९।
४. श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः। —रत्ना० २-१८।
५. तपती० १-१३।
६. यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितः बालमन्दारवृक्षः। —उत्तरमेघ १५।
७. मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भिः
मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
—उत्तरमेघ ६।
८. गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारवृक्षैः।
—उत्तरमेघ ११।

मन्दार वृक्षों से तरुण यक्षिणियों को प्रसाधन-अलंकरण को सभी सामग्रियाँ प्राप्त हो जाती थीं। पहनने को सुन्दर वस्त्र, पीने के लिये मदिरा, किसलयों के विविध आभूषण और पैरों पर लगाने के लिये लाक्षारस ये वृक्ष प्रदान करते थे।[१] कल्पवृक्षों से प्रचुर मदिरा (मधु) प्राप्त थी।[२]

कालिदास ने मन्दार या पारिजात को देवताओं का तरु मान कर कल्पवृक्ष के रूपमें उसकी बहुत प्रशंसा की है। इसके पुष्प कभी मुरझाते नहीं। ये अति दुर्लभ और स्पृहणीय हैं। इन्द्र ने लालसा से भरी हुई जयन्त की दृष्टि की उपेक्षा करके मन्दार के पुष्पों की माला को अपने गले से उतार कर दुष्यन्त के गले में डाल दिया था।[३]

कालिदास ने अप्सराओं द्वारा मन्दार (पारिजात) पुष्पों को अलंकार के रूप में धारण करने का अति मनोरम चित्र खींचा है। उर्वशी ने मन्दार की माला वक्ष पर धारण की हुई थी। श्वास लेने पर वक्ष के उपर उठने के साथ ही यह ऊपर को उठती थी और नीचा होने पर नीची हो जाती थी।[४] अप्सराओं की वेणियाँ मन्दार के पुष्पों की मालाओं से सुगन्धित रहती थी।[५] नन्दन कानन में पारिजात के किसलय और पुष्प बिखरे रहते थे। इनकी शय्या पर सोना अति सुखद है। इस पर सोये व्यक्ति को इस कानन का पवन और भी अधिक सुखी करता है।[६]

मन्दार या कल्पवृक्षों की स्थिति कवियों ने देवर्षियों के तपोवनों में प्रदर्शित की है। मारीच के आश्रम में कल्पवृक्ष थे, जिनके नीचे बैठ कर तपस्वीजन तप करते थे।[७] स्वयं मारीच की पत्नी इन वृक्षों का सिंचन करती थी।[८]

---

१. लासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
लाक्षारागं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षा रागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या–
मेकः सूते सकलमबलामंडन कल्पवृक्षः।—**उत्तरमेघ** १२।

२. आसेवन्ते मधुरतिफल कल्पवृक्ष प्रसूतम्। —**उत्तरमेघ** ५।

३. मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।—**अभिज्ञान**० ७-२।

४. मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।—**विक्रमो**० ४-६५।

५, मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामवमर्पणीयः।
—**विक्रमो**० २-१२।

६. ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाताः।—**विक्रमो**० ४-६१।

७. सत्कल्पवृक्षे वने।—**अभिज्ञान**० ७-१२।

८. अदितिपरिवर्धितवान्मन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमम्।
— **अभिज्ञान**० पृ० ४६७।

कल्प वृक्षों के साथ ही कल्प लताओं का वर्णन भी प्राचीन कवियों ने किया है। कल्पलता से निर्मित वस्त्र-खण्डों पर दुष्यन्त की स्तुति को देवता लिख रहे थे।[1] सम्भवतः छोटे आकार के कोमल कल्प वृक्षों को कल्पलता कह दिया गया होगा।

उपयोग—

कल्पवृक्ष या पारिजात के काल्पनिक, पौराणिक देवतरु होने के कारण इसके उपयोगों के विषय में लिखना कठिन ही है। तथापि यदि इसको फरहद माना जावे, तो इसके भौतिक उपयोग कहे जा सकते हैं। पुष्पों के सौन्दर्य के कारण वाटिकाओं में लगाने के लिये यह उपयोगी हो सकता है। फरहद की छाल ग्राही तथा ज्वरघ्न हैं। इसको ज्वर से युक्त अतिसार में भी दिया जा सकता हैं। फरहद के पत्तों के क्वाथ को दूध में मिला कर आर्तव-शुद्धि तथा स्तन्यवर्धन के लिये दिया जाता है। फरहद के मूल को पीस कर दूध में देने से यह वाजीकरण है।

११२. प्रियङ्गु

संस्कृत नाम— प्रियङ्गु, फलिनी, कान्ता, लता, महिला (स्त्रीव चक सभी नाम), गुन्द्रा, गन्ध, फला, श्यामा, विष्वक्सेनाङ्गना, प्रिया।[2]

हिन्दी नाम—प्रियंगु, डइया।

अंग्रेजी नाम—Priyangu Creper.

लैटिन नाम—Callicarpa macrophiylla Vahl.

कुल—Verbenacea.

वर्ग— कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

स्वप्नवासवदत्तम्, मालविकाग्निमित्रम्, पादताडितक, मालतीमाधव।

वनस्पति का परिचय—

प्रियंगु सामान्यतः सभी प्रान्तों में होती है। हिमालय के तराई प्रदेशों में यह काश्मीर से आसाम तक प्रचुर है।

प्रियंगु के छोटे पौधे कोमल लताओं और क्षुपों के रूप में गुल्मों में लगते है। शाखाओं, पत्तियों और वृन्तों पर रूई के समान घने रोम होते हैं। पत्तियाँ ५-१०

---

१. कल्पलतांशुकेषु दिवौकसस्तवच्चरितं लिखन्ति।—अभिज्ञान० ७-५।

२. प्रियङ्गुः फलिनी कान्ता लता च महिलाह्वया।
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गना प्रिया॥
—भाव० कर्पूरादिवर्ग १०१-१०२।

इंच लम्बी, पतली, चिकनी और आगे से नौकीली होती है। इस पर वर्षा ऋतु में छोटे-छोटें गुलाबी पुष्प गुच्छों में आते हैं। डालियाँ पुष्पों से भर कर उनके भार से झूक जाती है। सरदियों में नन्हें फल आ जाते हैं। पकने पर ये रस और गुदे से भर जाते हैं। मसलने पर सुगन्धि आती है। अन्दर गुठली होती है और उसको तोड़ने पर अन्दर १–२ बीज निकलते हैं।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में प्रियंगु के दो भेद कहे गये हैं—प्रियंगु और गन्धप्रियंगु ऊपर का वर्णन प्रियंगु का है। गन्धप्रियंगु के वृक्ष बिलोचिस्तान में अधिक होते हैं। यह अधिक सुगन्धित होता है। गुजराती में इसको घउला और महाठी में गहुला कहते है। इसका लैटिन नामप्रुन्स महालेवलिन (Prunus mahaleb Linn. है और यह रोजेसी (Rosaceae) कुल की वनस्पति है।

काव्यात्मक वर्णन—

अपनी कोमलता और सौन्दर्य केकारण प्रियंगु कवियों को बहुत सुन्दर लगी। भारतीय वाटिकाओं में इसको प्रायः लगाया जाता था। रूपको में प्रियंगु की वीथिकाओं का उल्लेख मिलता है।[1] इससे विदित होता है कि प्रियंगु को उद्यानों में व्यवस्थित रूप से लगाया जाता था। वाटिकाओं में प्रियंगु लताओं के कुन्ज भी होते थे। इनमें विश्राम के लिये शिलापट्ट रखे जाते थे.[2]

प्रियगु के गुल्म रूप में होने पर भी कवियों ने इसकी लता के रूप में कल्पना की है और इसके साथ मनोरम कल्पनाओं की संजोया है। इसको प्रणयि-युगल का मिलाने वाला समझा गया था (प्रियं गमयति इति प्रियङ्गुः)। दर्शन मात्र से तृप्त करने के कारण इसका नाम प्रियक हुआ (प्रीणाति इति प्रियकः) । कवियों ने प्रियंगु लताओं में विरह से क्षाम व्यक्ति का सादृश्य देखा था। भवभूति ने विरह से क्षाम माधव के शरीर की उपमा प्रियगु लता से दी है।[3] कहा जाता है कि यह लता युवतियों के स्पर्श से विकसित होती है।

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य और काण्ड की कोमलता के कारण प्रियंगु को वाटिकाओं में लगाया जाता है। यह चिकित्सोपयोगी भी है। पत्तों, कलियों और फलों का प्रयोग होता है। ये शीतल और तिक्त-मधुर है। इनको त्रिदोष नाशक, दाहनाशक, दीपन, रक्तशोधन और सचरघ्न समझा जाता है। प्रियंगु के रूप में फलों का व्यवहार होता है।

---

१. पादताडितक पृ० २०४।

२. प्रियङ्गुशिलापट्टके उपविष्ठा······स्वप्नवासवदतम् पृ० ६५।
प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तशिलापट्टकम्···।— मालविका० पृ० ६५।

३. मालती० ३-९।

११३. प्रियाल

संस्कृत नाम—प्रियाल, खरस्कन्ध, चार, बहुवल्कल, राजादन, तापसेष्ट, सन्नकद्रु, धनुष्पट।[१]

हिन्दी नाम—पियाल, प्याल, चिरौंजी।

अंग्रेजी नाम—Cudappah Almond.

लैटिन नाम—Buchania latibolia Roxb.

कुल—Anacardiaceae.

वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

प्रियाल वृक्ष ३००० फीट तक की ऊँचाई पर प्रायः सभी स्थानों पर मिलते है। ये वन्य वृक्ष है। हिमालय, मध्य तथा दक्षिणी भारत, उड़ीसा और छोटा नागपुर में ये वृक्ष प्रचुर होते हैं।

प्रियाल के मध्यम आकार के सदाहरित वृक्ष होते हैं। तना खुरदरा और प्रचुर छिलके वाला होता है। अतः इसको खरस्कन्ध और बहुवल्कल कहा गया है। शाखायें अपेक्षाकृत कमजोर होती है। पत्ते ६-१० इंच लम्बे, २-२½ इंच चोड़े अण्डाकार तथा आगे से नोकीले होते हैं वसन्त में हरिताभ-श्वेत पुष्प आते है। तदनन्तर फल आते हैं, जो ग्रीष्म में पक कर गहरे बैंजनी-काले होते हैं। ये छोटी मटर के दाने के बराबर होते है। ऊँपर मीठा गूदा रहता है और उसके अन्दर कठोर गुठली होती है। गुठली के अन्दर गिरी निकलती है, जो चिरौंजी के नाम से बिकती हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

प्रियाल का वर्णन सस्कृत नाटकों में कम ही है। हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में प्रियाल वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन है।[२] कालिदास ने इन वृक्षों का वर्णन हिमालय क्षेत्र में किया है। प्रियाल की मंजरियों का पराग मृगों की आंखों में गिरता हैं।[३]

---

१. प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुवल्कलः।
राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः।—**भाव० आम्रादिफलवर्ग ८३।**

२. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।

३. मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणाम्।—**कुमारसम्भव ३-३१।**

उपयोग—

प्रियाल का उपयोग मुख्य रूप से फलों और गिरी के लिये है। वन्य वृक्ष होने से वनों में रहने वाले तपस्विजन प्रियाल के फलों और गिरी को आहार में लेते थे। इस कारण इसको तापसेष्ट भी कहा गया था।

प्रियास के फल की गिरी चिरोंजी के नाम से व्यवहार में आती है। यह पौष्टिक तथा बलवर्धक है। इसका उबटन भी बनता है। चिकित्सा में इसको वृष्य, हृद्य, वाजीकरण और मूत्रल माना गया है।

११४. बकुल

संस्कृत नाम—बकुल, मधुगन्ध, सिंहदेसरल।[१]

हिन्दी नाम—मौलसिरी, बकुल।

अंग्रेजी नाम—Surinam Medlar.

लैटिन नाम—Mimusops elengi Linn.

कुल—Sapotaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, तापसवत्सराज, हनूमन्नाटक, मालतीमाधव, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

बकुल (मौलसिरी) वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में वाटिकाओं में लगाये जाते हैं। मार्गों के किनारे भी इनको लगाया जाता है। पश्चिमी घाट के बनों में ये प्रचुर है।

बकुल मध्यम आकार का वृक्ष है। पुराने वृक्ष ५० फीट तक ऊँचे हो जाते है। सदाहरित इस वृक्ष की छाल बाहर से खाकी और अन्दर से लाल होती है। ताजी छाल तोड़ने से दूध निकलता है। काण्ड से कुछ ही ऊपर शाखायें—प्रशाखायें निकल कर वृक्ष घना हो जाता है। पत्तियाँ घनी, चिकनी, २-४ इंच लम्बी, १-२ इंच चौड़ी, अण्डाकार तथा आगे से नोकीली होती है। ग्रीष्म से शरद् तक पुष्प आते रहते है। श्वेत, सुगन्धित पुष्प मंजरियों में आते हैं। सूखने पर भी उनमें सुगन्धि बनी रहती है। बकुल पुष्पों के पुकेसर लम्बे, पिंगल और सुगन्धित होते हैं। अतः इनको केसर या सिंहकेसर कहते है। शरद् में इस पर फल आने लगते है। कच्चा फल हरा एक इंच लम्बा, दूधयुक्त और कसैला होता है। पकने पर पीत-नारंगी और कुछ मधुर हो जाता है। प्रत्येक फल में एक चपटा भूरे रंग का बीज होता हैं।

१. बकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्तथा।—**भाव० पुष्पवर्ग ३३।**

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन भारत में कवियों ने बकुल को बहुत आदर दिया था। इसके पुष्पों के सौन्दर्य और सुरभि ने सहृदयों को आकृष्ट किया था। भारतीय वाटिकाओं में बकुल वृक्षों के दर्शन अवश्य होते थे। वनों में भी ये वृक्ष प्रचुर संख्या में होते थे। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में बकुल वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है।[१] राजशेखर के अनुसार राम-रावण युद्ध में वानरों ने बकुल वृक्षों को उखाड़ कर राक्षसों को मारा था।[२] साहित्य में इस वृक्ष को केसर नाम भी दिया गया है।

कवियों ने बकुल के पुष्पों के मनोरम सौन्दर्य का वर्णन किया है। ये वसन्त ऋतु में विकसित होते है।[३] इनमें बहुत अधिक सुगन्धि होती है। पुष्पों के मसलने से यह और भी अधिक फैल जाती है।[४] बकुल शब्द का पर्याय केसर भी है और काव्यों में केसरलता का उल्लेख है।[५] सम्भवतः यहाँ छोटे और कोमल बकुल को केसरलता कहा गया है। कालिदास ने वर्णन किया है कि वसन्त ऋतु में केसर के पुष्प चारों बिखर जाते है।[६]

कवियों ने बकुल पुष्पों के उपलक्षण से अनेक मधुर कल्पनायें की हैं। ये वृक्ष सहृदयों को अति प्रिय थे। वायु से शाखाओं के हिलने से ऐसा लगता है कि मानों कोई प्रियजन संकेत से बुला रहा हो।[७] प्रेमी जब बकुल पुष्पों की मालाये अपनी प्रेमिकाओं के लिये गूंथा करते थे।[८] युवतियाँ केसर पुष्पों की मालायें पहनती थी।[९] इनको शुभ समझा जाता था और ये बहुत समय तक मुरझाती नहीं थी। शुभ अवसरों के लिये इनको संभाल कर रखा जाता था।

बकुल पुष्पों के प्रति कवियों ने एक मनोरम कल्पना यह की है कि ये तभी पुष्पित होते हैं, जबकि कोई तरुणी अपने मुख में मदिरा भर कर इसके मूल में कुल्ला कर दे। संस्कृत नाटकों में तरुणियों द्वारा मुख-मदिरा का कुल्ला करा कर बकुल पुष्प का पुष्पित होना प्रदर्शित किया गया है।[१०]

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. बालरा० पृ० ५८०।
३. रत्ना० १-४।—मालविका० पृ० ४५।
४. विमर्दसुरभिः बकुलावलिका।—मालिका० पृ० ७०।
५. केसरलतावीथिषु।— तापस० २-११।
६. मालविका० पृ० १८८।
७. वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिराकारयतीव मां केसर वृक्ष कः।
—अभिज्ञान० पृ० १५४।
८. मालती० पृ० ४५।
९. कालान्तरक्षमा······केसरमालिका।— अभिज्ञान० पृ० २८४।
१०. तापस० १-२३ —रत्ना० १-१८।

उपयोग—

बकुल का उपयोग इसके पुष्पों को सुगन्धि और सौन्दर्य के कारण है। घना होने से इसकी छाया शीतल और सुखद है। इसके पुष्पों से इतर भी बनाया जाता है। मौलसिरी की लकड़ी गहरी-लाल, मजबूत, कठोर तथा चिरस्थायी होती है। यह भवनों को बनाने के काम में आती है। फलों को खाया जा सकता है। बीजों से तेल निकलता है। यह दीपकों को जलाने और खाने के काम में आ सकता है।

बकुल का चिकित्सा में भी उपयोग है। छाल कसैली और पौष्टिक है। इसको दन्त-मंजनों में डाला जाता है। इसकी दातुन बहुत लाभदायक है। पुष्प संग्राही है। ये प्रदर और शुक्रमेह में उपयोगी है। आंव होने पर फलों को खिलाया जाता है।

११५. बदरी

संस्कृत नाम—कर्कन्धू, बदरी, कोल।

हिन्दी नाम—बैर।

अंग्रेजी नाम—Jujube.

लैटिन नाम—*Zizyphus jujuba* Lam.

कुल—Rhamnaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

उत्तररामचरित

वनस्पति का परिचय—

बैर प्रायः सारे भारतवर्ष में होता है। इस झाड़ीदार पौधे की शाखाओं पर तीक्ष्ण काटे रहते है। बेरों की झाड़ियाँ वनों में प्रचुर होती है। इसको वाटिकाओं में भी लगाया जाता है। वाटिकाओं में लगाये जाने वाले बेर अधिक बड़े और स्वादिष्ट होते है। काटेदार होने से इसको कर्कन्धू (कर्कं कण्टकं दधाति) कहा गया है।

बेर का काण्ड छोटा और कंटीला होता हैं। इस पर शाखायें निकलकर घना झाड़ हो जाता है। पत्ते १-१½ इंच घेरे में अण्डाकार होते हैं। सितम्बर के अन्त में हरिताभ श्वेत पुष्प आते हैं। तदनन्तर फल आते है। प्रकार के अनुसार ये फल छोटे और बड़े तथा हरित लाल होते हैं। झड़बेरी के वन्य फल पककर चमकीले लाल हो जाते हैं। बेर में ऊपर कोमल गूदा और अन्दर कठोर गुठली रहती है।

१. पुंसि स्त्रियां चकर्कन्धूर्बदरी कोलमित्यपि।

—भाव० आम्रादिफलवर्ग ७१।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में तीन प्रकार के बेर कहे गये है—सौवीरकबदर, कोलबदर और कर्कन्धूबदर। सौवीरबदर बड़े आकार का, चौड़ा अण्डाकार होता है। यह उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में अधिक होता है और उन्नाव कहलाता है। कोलबदर इसमे छोटा होता है। ककंन्धूबदर सबसे छोटा, लगभग आधे इंच व्यास का गोल होता है। इसको झड़बेरी का बेर भी कहते हैं। तीनों प्रकार के बेरों के लैटिन नाम और कुल इस प्रकार है—

सौवीर बदर—*Zizyphus Satiue Linn* Rhamnaceae

कोल बदर—*Zizphus Jujunba Lam.* Rhamnaceae

ककंन्धू बदर—*Zizyphus nummulara WtA.* Rhamnaceae

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में बैर का उल्लेख कम ही आया है। यह फलदार झाड़ी वनों में प्रचुर होती है। तपस्वी जन इसका प्रचुर प्रयोग करते थे। इसको शाक के साथ भी पका कर खाते थे। इससे अतिथियों का भी सत्कार किया जाता था। भवभूति ने कर्कन्धू बेर का उल्लेख किया है। वसिष्ठ आदि मुनियों के बाल्मीकि के आश्रम में आने पर उनके आतिथ्य के लिये कर्कन्धू के फलों को शाक के साथ मिला कर पकाया गया था।[१]

उपयोग —

बेर का भोजन में फल के रूप में प्रयोग होता है। ये फल शीतल, पाचक और ग्राही होते हैं। प्राचीन मान्यताओं के अनुसार बेर शरीर को मजबूत करता है। इस कारण ही इनको बदर (बदं स्थैर्यं राति ददाति) कहा गया था। बेर की लकडी अच्छा ईंधन है।

भारतीय साहित्य में बदरीफल को पवित्र माना गया है। शिवपूजन में यह प्रयुक्त होता है। भगवान् नर और नारायण ने बदरीवन में तप किया था। अतः उनको बदरीनाथ कहा गया। उनका स्थान बदरीनाथधाम कहलाया, जो परम तीर्थ है। यह स्थान वर्तमान समय में गढवाल के चमोली जिले में अलकनन्दा के तट पर अवस्थित है और लगभग १०००० फीट ऊँचा है। यहाँ की तीर्थ यात्रा का बहुत पुण्य माना गया है।

बेर का चिकित्सा में भी उपयोग है। सौवीरबदर (उन्नाव) का शरबत खांसी की अच्छी दवा है। पत्तों को पीस कर लगाने से विच्छू के काटे में आराम मिलता है। इसको त्वचा के विकारों में तथा फोड़ों पर भी लगाया जा सकता है। बेर के पत्तों को चबा लेने से १५-२० मिनट तक सभी प्रकार के जीभ के स्वाद समाप्त हो जाते हैं।

---

१. कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते।—उत्तर० ४-१।

११६. बन्धूक

संस्कृत नाम—बन्धूक, बन्धुजीव, रक्त, माध्याह्निक ।[१]

हिन्दी नाम—दोपहरिया ।

अंग्रेजी नाम—Bandhuka Tree.

लैटिन नाम—Pentapetus phoenicea Linn. **कुल**—Sterculaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

स्वप्नवासवदत्तम्, प्रियदर्शिका, आश्चर्यचूडामणि, चण्डकौशिक, हनूमन्नाटक, बालरामायण ।

वनस्पति का परिचय—

बन्धूक सामान्यतः उत्तर-पश्चिम भारत, बंगला और गुजरात में अधिक होता है। कम गहरे जलाशयों और धान के खेतों में स्वतः भी उग आता है। इसको वाटिकाओं में प्रायः सभी स्थानों पर लगाते हैं।

बन्धूक के क्षुप २–३ फीट ऊँचे होते हैं। ३–५ इंच लम्बे पत्ते पतले और भाले के समान नोकीले होते हैं। एक बड़े दण्ड पर दो पुष्प एक साथ नीचे की ओर लटके रहते हैं। इनके अत्यधिक लाल होने से बन्धूक को रक्त कहा गया है। दोपहर के समय अधिक खिलने से यह माध्याह्निक कहलाया। अति आकर्षक और चित्त को बांधने वाला होने से इसको बन्धूक और बन्धुजीव (बध्नाति चित्तम्) कहा गया। बन्धूक को जुलाई में बो देने पर सितम्बर-अक्टूबर में पुष्प मिल जाते हैं। पुष्प गिरने पर अण्डाकार, खुरदरा, पांच विभागों से युक्त छोटा फल लगता है। प्रत्येक विभाग में ८–१२ बीज रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

बन्धूक (दोपहरिया) के पुष्प अपने रक्तिम सौन्दर्य के कारण कवियों को और सहृदयों को अति प्राचीन काल से ही अति प्रिय रहे। वाटिकाओं में इनको प्रायः लगाया जाता था। संस्कृत रूपकों के प्रमदोद्यानों को कवियों ने बन्धूक पुष्पों से बहुधा सजाया है।[२] वनों में भी ये स्वतः उगे देखे जा सकते थे।[३]

बन्धूक पुष्पों के खिलने के समय के सम्बन्ध में कवियों के विभिन्न वर्णन हैं। 'चण्डकौशिक' के अनुसार बन्धूक पुष्प वसन्त में विकसित होता है और ग्रीष्म में मुरझा जाता है।[४] राजशेखर का कथन है कि ये पुष्प वर्षा में खिलते हैं और शरद् में मुरझाते हैं।[५] परन्तु कवियों के ये वर्णन सम्भवतः तथ्य के अनुसार नहीं हैं। बन्धूक

---

१. बन्धूको बन्धुजीवश्च रक्तो माध्याह्निकोऽपि च। —भाव० पुष्पवर्ग ५७।

२. प्रिय० पृ० २२।
३. हनू० पृ० ६८–७०।

४. चण्ड० १-२१।
५. बालरा० पृ० २५८।

का पौधा सामान्यत: वर्षा में बोया जाता है और शरद् के आरम्भ में पुष्पित होता है।

बन्धूक पुष्प के रक्तिम सौन्दर्य में कवियों ने मनोहर कल्पनायें की हैं। उनको सायंकालीन सूर्य की किरणों का उपमान बनाया गया है।[1] हर्ष ने विवरण दिया है कि हरी घास पर बिखरे हुये बन्धूक पुष्प वीरबहूटियों के समान प्रतीत होते हैं।[2] भास का कथन है कि इन पुष्पों के कारण वाटिकाओं की भूमि बहुत सुन्दर प्रतीत होती है।[3]

उपयोग—

बन्धूक पुष्पों के मोहक सौन्दर्य ने भारतीयों को बहुत अधिक आकृष्ट किया था। इनको सजावट के लिये वाटिकाओं में लगाया जाता था। चिकित्सा में यह विषघ्न और स्नेहन है।

११७. बालधि

संस्कृत नाम—जटामांसी, जटिला, भूतजटा, तपस्विनी, मांसी, बालधि।[4]

हिन्दी नाम—बालछड़, जटामांसी।

अंग्रेजी नाम—Spikenard, Nardus Root.

लैटिन नाम—Nardostachys jatamansi DC.

कुल—Valerianaceae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

यह वनस्पति ऊंचे हिमालय पर्वतों पर १०००० से १६००० फीट की ऊँचाई तक मिलती है। कुमायूं से भूटान तक यह अधिक उपलब्ध है।

जटामांसी के छोटे पौधे होते हैं। काण्ड ४–२० इंच तक होता है। यह ऊपर से रोयें वाला और नीचे से चिकना होता है। काण्ड के शिखर पर पत्तियों का गुच्छा रहता है। ६–७ इंच लम्बे और एक इंच चौड़े पत्ते ऊपर को पतले होते जाते है।

---

१. आश्चर्य० २.२१।

२. प्रिय० २-३।

३. पतितबन्धुजीवकुसुमविरलपातरमणीयं प्रमदवनम्।

—स्वप्न० पृ० ११५-११६।

४. जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी। —भाव० कर्पूरादिवर्ग ८९।

इनके मध्य से १–५ तक पुष्प निकलते हैं। तदनन्तर श्वेत रोमों से युक्त छोटे श्वेत फल आते हैं। जटामांसी का मूल २–३ इंच लम्बा, आधा इंच मोटा कन्द के रूप में होता है। गहरे-भूरे कन्द पर लम्बे श्यामल रेशे बालों के समान होते हैं। इसी कारण इसको बालधि (बाला: धीयन्ते अत्र) कहा गया। परन्तु यह नाम निघण्टुओं में नहीं है। केवल शब्दकोषों में ही है। तोड़ने पर मूल अन्दर से श्वेत निकलती है। वाष्पशील तेलीय अंश के कारण यह सुगन्धित होती है। यह मूल ही जटामांसी के रूप में व्यवहार में आता है।

काव्यात्मक वर्णन—

बालधि का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं हैं। राजशेखर ने केवल एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है कि यह शीतलता प्रदान करता है।[१]

उपयोग—

बालधि (जटामांसी) को निघण्टु ग्रन्थों में शीतल और कटु-तिक्त-कषाय कहा गया है। अतः राजशेखर द्वारा इसको शीतलतादायक कहना उचित है। चिकित्सा में इसका बहुत उपयोग हैं। यह दाहशामक, दीपन, पाचन, हृद्य और बुद्धिवर्धक है। बेहोशी में इसको पीस कर आँखों पर लेप करते हैं। जटामांसी केशों के लिये हितकर है, अतः इससे केश तेलों को सिद्ध करते हैं। सुगन्धित होने से इसको हवन-सामग्री में मिलाया जाता है।

११८. बिभीतक

संस्कृत नाम—बिभीतक, अक्ष, कर्षफल, कलिद्रुम, भूतवास, कलियुगालय।[२]

हिन्दी नाम—बहेड़ा, बहेरा।

अंग्रेजी नाम—Beleric myrobalau.

लैटिन नाम—Terminalia belerica Roxb. **कुल**—Combretaceae.

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

बहेड़ा वन्य वृक्ष है। यह भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों पर वनों में मिलता है। पर्वतों पर यह ३००० फीट की ऊंचाई तक होता है।

---

१. विद्धसालभञ्जिका।

२. बिभीतकस्त्रिलिंग स्यादक्षः कर्षफलस्तु सः।
कलिद्रुमो भूतवासस्तथा कलियुगालयः॥
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग ३५।

बहेड़ें के वृक्ष मध्यम आकार के होते हैं। परन्तु पुराने वृक्ष अधिक बड़े भी हो जाते हैं। भूमि से काफी ऊपर जाकर शाखायें फूटती हैं। छाल मोटी तथा सफेदी लिये होती है। पत्ते ४-९ इंच लम्बे, १-२ इंच चौड़े, आगे से नौकीले और घने होते हैं। वर्षा के अन्त में हरे-पीले सुगन्धित पुष्प आते हैं। तदनन्तर फल लगते हैं। एक इंच लम्बे फल गोल अण्डाकार होते हैं। इनके ऊपर गूदा तथा अन्दर कठोर गुठली रहती है। गुठली को तोड़ने पर अन्दर मीठी गिरी निकलती है।

काव्यात्मक वर्णन--

बिभीतक से भारतीय जन अति प्राचीन काल से परिचित हैं। 'ऋग्वेद' के अक्ष सूक्त में बिभीतक का उल्लेख है। इससे बने पासों (अक्षों) से जुआरी जुआ खेलते हैं। द्यूत में उपयोगी होने के कारण इसको अक्ष कहा गया है। कहा जाता है कि इस गुण के कारण बहेड़े पर कलि और भूत निवास करते हैं। अतः इसको कलि-द्रुम, भूतावास और कलियुगालय कहा गया। 'ऋग्वेद' के अनुसार बिभीतक अक्ष का संकेत है।[1]

संस्कृत रूपकों में बिभीतक का उल्लेख 'हनूमन्नाटक' में हुआ है कि दक्षिण वनों में प्रचुर बिभीतक हैं।[2] इसको पवित्र भी माना गया था, क्योंकि यज्ञ में इसकी समिधायें प्रयुक्त होती है।[3]

उपयोग—

बहेड़े का उपयोग मुख्य रूप से इसके फल के कारण है। इसकी काष्ठ केवल ईंधन के लिये उपयोगी हैं। बहेड़े की छाया शीतल और सुखद होती है।

चिकित्सा में बहुत उपयोगी होने के कारण ही इस वृक्ष को बिभीतक (विगतं भीतं रोगभयं यस्मात्) कहा गया था। यह उष्ण और कषाय-मधुर है। आँखों के लिये हितकर और बुद्धिवर्धक है। पके फलों को एकत्रित करके गुठली को अलग कर गूदे को सुखा लेते हैं। यह त्रिफला का अनिवार्य घटक है।

बहेड़े की गुठली की गिरी मधुर स्वादिष्ट खाद्य है। इसका तेल भी निकाला जाता है। बहेड़े का फल रंगाई तथा चमड़ा उद्योग में उपयोगी है।

११९. बिम्बी

संस्कृत नाम—बिम्बी, रक्तफला, तुण्डी, तुण्डिकेरी, बिम्बिका, ओष्ठोपमफला, पीलुपर्णी।[4]

---

१. ऋग्वेद १०-३४-१। २. हनू० पृ० ६८–७०।

३. हनू० १२-१८.

४. बिम्बी रक्तफलातुण्डी तुण्डकेरी च बिम्बिका।
ओष्ठोपमफला प्रोक्ता पीलुपर्णी च कथ्यते। —भाव० शाकवर्ग ७१।

हिन्दी नाम—बिम्बी, कुन्दरु, कुनरी।

अंग्रजी नाम—Ivy-gaurd

लैटिन नाम—Coccinia indica WTA. **कुल**—Cucurbitaceae.

वर्ग—शाक वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

वनस्पति का परिचय—

बिम्बफल या तुण्डीलतायें प्राय: सारे भारत में पाई जाती हैं। ये दो प्रकार की हैं—वन्य और ग्राम्य। ग्राम्य लताओं को शाक के निमित्त खेतों में बोया जाता है। वन्य लतायें स्वयं वनों में होती हैं।

बिम्बी की आरोहो लतायें स्वयं समीपस्थ वृक्षों पर आश्रय के लिये चढ जाती हैं। ये अनेक वर्षों तक जीवित रहती हैं। काण्ड कोमल, चिकना और नाली-दार होता है। पत्ते २–४ इंच लम्बे पान के से आकार के पांच खण्डों में विभक्त होते हैं। वर्षा ऋतु के अन्त में श्वेत रंग के पुष्प आते हैं। शरद् में फल आ जाते हैं। ये ये १–२ इंच लम्बे, ½१ इंच मोटे बेलनाकार होते हैं। आगे चोंच की तरफ कुछ मुड़े रहते हैं। इसी कारण इसको तुण्डी या तुण्डिकेरी (तुण्डं चञ्चु: अस्ति यस्य) कहा गया। कच्चा हरा फल अनुलम्ब दिशा में श्वेत धारियों से युक्त होता है। पकने पर यह गहरा चमकीला लाल हो जाता है। अत: इसको रक्तफला कहा गया था।

बिम्बी के ग्राम्य फल सब्जी के लिये उपयोगी हैं, किन्तु वन्य फल कड़वे-तीखे होते हैं। फल के अन्दर गूदा और गोल-चपटे-भूरे बीज भरे रहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

कवियों को बिम्बी का फल इसके चमकीले रक्त वर्ण के कारण बहुत मनोरम और आकर्षक लगा था। उन्होंने तरुणियों के रक्त वर्ण के अधरों का इसको उपमान बनाया है।[१]

उपयोग—

बिम्ब को शाक के निमित्त खेतों में बोया जाता है। परन्तु यह अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। यह बुद्धि को मन्द करता है। वन्य बिम्बी चिकित्सा में उपयोगी है। यह उष्ण और कटु-तिक्त होती है। अल्प मात्रा में दीपन, पौष्टिक और यकृत के लिये उद्दीपक है। अधिक मात्रा में वमन और विरेचन करती है। पत्तों का स्वरस मधुमेह में उपयोगी कहा जाता है। पत्र-स्वरस व्रण और त्वचा के रोगों में उपयोगी है।

---

१. प्रकृतिताम्रबिम्बाधरम्। —अविमारक २-६।
बिम्बमधरम्। —अभिज्ञान० ६-२०।

१२०. बिल्व

संस्कृत नाम—बिल्व, शाण्डिल्य, शैलूष' मालूर, श्रीफल ।[१]

हिन्दी नाम—श्रीफल, बेल ।

अंग्रेजी नाम— Bael, Bengal Ouince.

लैटिन नाम—Aegle marmelos Correa. **कुल**—Rutaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

पद्मप्राभृतक, कौमुदीमहोत्सव, मालतीमाधव, चण्डकौशिक ।

वनस्पति का परिचय—

बिल्व वृक्ष हिमालय के तराई प्रदेशों में मध्य और दक्षिणी भारत में, बंगाला तथा बिहार के वनों में मिलते हैं । यह वृक्ष वन्य है और वाटिकाओं में भी लगाया जाता है । वाटिकाओं के वृक्षों के फल अधिक बड़े और स्वादिष्ट होते हैं । शिव-मन्दिरों के समीप इनको प्रायः लगाया जाता है ।

बिल्व वृक्ष मध्यम आकार के २५-३० फीट ऊँचे होते हैं । पुराने वृक्ष अधिक बड़े भी हो सकते हैं । शाखाओं पर लम्बे मजबूत काटें होते हैं । पत्तियां तीन-तीन के समूह में होती हैं । पत्ती २–४ इंच लम्बी, १–१½ इंच चौड़ी, आगे से लम्बी नोक वाली होती है । पत्तियां स्वाद में कसेली होती हैं तथा इनको मसलने से विशिष्ट गन्ध आती है । इन पर ग्रीष्म में पतझड़ होता है । वर्षा के अन्त में हरिताभ-श्वेत सुगन्धित पुष्प खिलते हैं । तदनन्तर फल आते हैं और वसन्त के अन्त तक पकने लगते हैं । पके फल सुनहरे-पीले और विशिष्ट सुगन्धित होते हैं । फल के कठोर आवरण के अन्दर पीले रंग का गूदा भरा होता हैं । जंगली फल छोटा और बदस्वाद गूदे का होता है । परन्तु वाटिकाओं में लगाये गये अच्छी जाति के बिल्वफल बड़े और सुमधुर होते हैं ।

काव्यात्मक वर्णन—

कवियों ने बिल्व फल का काफी वर्णन किया है । यह कांटों से युक्त है ।[२] 'हनूमन्नाटक' में इसका दक्षिण वनों में वर्णन है ।[३] वाटिकाओं में भी इसको लगाने के उल्लेख हैं ।

बिल्व को अति पवित्र माना गया था । देवपूजन और हवन के लिये यह विहित था । इस प्रयोजन के लिये विद्यार्थी बिल्व-पत्र तोड़ कर लाते थे ।[४] बिल्वको

---

१. बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषा मालूरश्रीफलावपि ।—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १६ ।

२. पद्म० पृ० १६ । ३. हनू० पृ० ६८–७० ।

४. चण्ड० पृ० १५७ ।

शिव का अति प्रिय माना गया था। बिल्व के पत्तों और फलों से शिव का पूजन करने की परम्परा वर्तमान में भी प्रचलित है। इस कारण मन्दिरों के समीप बिल्व वृक्ष अवश्य लगाये जाते थे।[१]

कवियों ने बिल्व के पके पिंगल फलों में सौन्दर्य को परिलक्षित किया था। यह ग्रीष्म में पक जाता है। पका हुआ फल विशेष सुगन्धि से भरा होता है।[२] श्रीहर्ष ने वर्णन किया है कि बिल्व के पके फल अपने ही कांटों से क्षत होकर ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि विलासी प्रेमियों के नखों से क्षत वेश्याओं के स्तन हों।[३]

उपयोग—

बिल्व बहुत उपयोगी वृक्ष है। इसको पवित्र माना गया है। शिव के पूजन के लिये पत्तों और फलों का प्रयोग होता है। बिल्व के फल अच्छे खाद्य हैं। इनमें फलशर्करा और खनिज-विटामिन प्रचुर होते हैं। बिल्व के गूदे का शरबत ताजगी प्रदान करता है।

बिल्व का चिकित्सा में भी उपयोग है। पके फल का गूदा मृदु विरेचक है। इसको गूदे तथा शरबत के रूप में लिया जा सकता है। यह पेट की सारी मलिनता को बाहर निकाल देता है। यह वृष्य, हृद्य और बल्य भी है और अच्छा पथ्य है। कच्चा बेल संग्राही होता है। इसके गूदे के टुकड़े करके सुखा लेते हैं। इसके लिये प्रायः वन्य बिल्व काम में आता है। बिल्व का मुरब्बा भी बनता है। बेल की जड़ तथा छाल का क्वाथ हृदय की धड़कन, अनिद्रा तथा पागलपन में लाभदायक है। पत्तों का स्वरस १–२ तोला मात्रा में तीन बार लेने से मधुमेह ठीक हो जाता है।

१२१. बीजपूरक

संस्कृत नाम—बीजपूर, मातुलुङ्ग, रुचक, फलपूरक।[४]
हिन्दी नाम—बिजोरा नीबू।
अंग्रेजी नाम—Citron.
लैटिक नाम—Citrus medica Linn. **कुल**—Rutaceae.
वर्ग—आम्रादिफलवर्ग।

---

१. कौमुदी० पृ० २७।

२. परिणतमालूरमुरभयः। —मालती० पृ० ३८०।

३. मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥
—नैषध० १-९३।

४. बीजपूरो मातुलुङ्गो रुचकः फलपूरकः।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग १६०।

नाटकों के उल्लेख—

मालविकाग्निमित्र, पादताडितक, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

बीजपूरक (बिजौरा नीबू) हिमालय की घाटियों तथा तराई के क्षेत्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। सामान्यतः यह सारे भारत में वाटिकाओं में लगाया जाता है।

बीजपूरक के छोटे वृक्ष या गुल्म १०–१५ फीट तक ऊँचे होते हैं। शाखा-प्रशाखायें निकल कर यह खूब फैल जाता है। इस पर मजबूत कठोर काटें रहते हैं। पत्ते नीबू और नारंगी के समान, परन्तु उससे कुछ बड़े होते हैं। पत्तों को मसलने पर विशेष गन्ध आती है। वर्षा के अनन्तर श्वेत, सुगन्धित पुष्प आते हैं। तदनन्तर शरद् के प्रारम्भ में फल आकर शीत अधिक होने पर पक कर तैयार हो जाते हैं। पका फल ४–६ इंच लम्बा, अण्डाकार पीत वर्ण का होता है। इसमें प्रभूत खट्टा रस निचोड़ने से प्राप्त होता है। इसके गूदे में बीज बहुत होते हैं, अतः इसका नाम बीजपूरक (बीजं पूरयति) नाम हुआ।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में बीजपूर का पर्याय मातुलुंग दिया गया है। परन्तु मातुलुंग इसी की जाति का कुछ भिन्न फल है। अतः इसका पृथक् वर्णन किया गया है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत रूपकों में बीजपूरक का कई स्थानों पर उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह लोकप्रिय वनस्पति थी। भारतीय वाटिकाओं में इसको सामान्य रूप से लगाया जाता था।[1] वनों में भी इसके वृक्ष स्वतः उग आते थे। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में बीजपूरक वृक्षों की उपस्थिति का संकेत है।[2]

बीजपूरक फल को पवित्र माना गया था। चौक्ष सम्प्रदाय (वैष्णवों का विशेष सम्प्रदाय) के लोग इस फल को परस्पर भेंट में दिया करते थे।[3] कालिदास ने भी बीजपूरक को भेंट में देने की परम्परा का उल्लेख किया है।[4]

उपयोग—

बीजपूरक के फल भोजन के सामान्य अंग थे। अम्ल रस के निमित्त इनका उपयोग किया जाता था। इसको लेने से भोजन पच जाता है तथा रुचि खुल जाती है, अतः इसको रुचक नाम मिला। यह हृद्य, वमनरोधक, पाचन तथा अरुचिनाशक है। बीजपूर का छिलका ग्राही होता है। मूल को पीस कर क्रमि, वमन तथा मूत्राश्मरी में देते हैं। पुष्प तथा कलियां लेने से अधिक स्वप्न आते हैं।

---

१. मालती० ६-१९।
२. हनू० पृ० ६८–७०।
३. पाद० पृ० १६५।
४. मालविका० पृ० ४६–४७।

१.२२ भल्लातक

संस्कृत नाम—भल्लातक, अरुष्क, अरुष्कर, अग्निक, अग्निमुखी, भल्ली, वीरवृक्ष, शोफकृत् ।[१]

हिन्दी नाम—भिलावा ।

अंग्रेजी नाम—Marking Nut.

लैटिन नाम—Semecarpus anacardium Linn.

कुल—Anacardiaceae.

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक ।

वनस्पति का परिचय—

भल्लातक (भिलावा) वन्य वनस्पति है। यह उष्ण प्रदेशों में होता है। बंगाल, आसाम, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, तामिलनाडु, आन्ध्र आदि प्रदेशों में यह वनों में स्वतः उगा हुआ पाया जाता है। हिमालय के तराई प्रदेशों में भी यह होता है। इसके वृक्ष ३५०० फीट की ऊंचाई तक मिलते है।

भिलावे के वृक्ष छोटे और मध्यम आकार के (२०–४० फीट) झूण्डों में मिलते हैं। छाल मोटी और धूसर होती है। छाल पर आघात लगने से काले भूरे रंग का गाढा द्रव निकलता है। स्पर्श करने से यह दाह तथा छाले उत्पन्न करता है। छोटी शाखाओं पर तीक्ष्ण रोयें होते हैं। शाखाओं के अन्त भाग पर सघन पत्ते रहते हैं। ये ६–२४ इंच लम्बे ५–१४ इंच चौड़े गोल या हृदयाकार तथा पृष्ठ भाग पर रोमश होते हैं। वसन्त में पतझड़ होता है। ग्रीष्म के आगमन पर छोटे पीत वर्ण पुष्प गुच्छों या मञ्जरियों के रूप में विकसित होते हैं। तदनन्तर फल आते हैं। ये शरद् और हेमन्त में परिपक्व होते हैं। फल लगभग एक इंच व्यास का गोल, चपटा तथा पकने पर काला चमकदार होता है। इसके ऊपर के भाग में मधुर गूदा तथा अन्दर कठोर भित्ति की गुठली होती है। इसके अन्दर काले रंग का दाहक द्रव भरा रहता है। गुठली के अन्दर के भाग में गिरी होती है। इसको पौष्टिक माना गया है। इसमे तैलीय अंश रहता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में भल्लातक का वर्णन कम ही है। केवल 'हनूमन्नाटक' में एक स्थान पर उल्लेख है कि दक्षिण वनों में भल्लातक के वृक्ष हैं।[२]

१. भल्लातकं त्रिषु प्रोक्तमरुष्कोऽरुष्करोऽग्निकः ।
तथैवाग्निमुखी भल्ली वीरवृक्षश्च शोफकृत् ॥

—भाव० हरीतक्यादिवर्ग २२८।

२. हनू पृ० ६८-७० ।

उपयोग--

भिलावे का चिकित्सा में तथा उद्योगों में उपयोग होता है। छाल पर चोट लगने से स्रवित होने वाले रस का तथा फल के अन्दर से निकलने वाले रस का वार्निश बनाने में उपयोग होता है। फल के अन्दर के रस से वस्त्रों पर चिह्न लगाये जा सकते हैं।

भिलावे का चिकित्सा में उपयोग के लिये शोधन किया जाता है। प्रयोग करने के लिये अच्छे पके तथा जल में डूब जाने वाले भिलावे लिये जाते हैं। इनको काट कर ईंटों के टुकड़ों के साथ बोरी में डाल कर रगड़ कर काम में लाते हैं। फलों को उबाल कर तथा शीतल जल से धोकर भी प्रयोग किया जा सकता है। शोधन से पहले खुले अंगों में नारियल का तेल लगाना चाहिये। अन्यथा भिलावे का रस लगने से छाले पड़ सकते हैं।

भिलावे का फल दीपक, पाचक, उत्तेजक, कृमिनाशक, वाजीकरण और कुष्ठनाशक है। यह यकृत और प्लीहा के रोगों को नष्ट करता है।

भिलावे का प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। इसके रस के लग जाने से तीव्र दाह होकर छाले पड़ जाते हैं। इसी कारण इसके अरुष्कर (अरुः व्रणं करोति), अग्निक, अग्निमुखी शोफकृत् आदि नाम पड़े।

१२३. भूर्जपत्र

संस्कृत नाम—भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी, बहुवल्कल।[१]

हिन्दी नाम—भोजपत्र

अंग्रेजी नाम—Birch Tree

लैटिन नाम—Betula utilis D. Don.

कुल—Betulaceae

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

भोजपत्र ऊँचे हिमालय क्षेत्रों में ८०००–१३००० फीट की ऊँचाई पर वहाँ मिलते हैं, जहाँ से बरफ की रेखा प्रारम्भ होती है।

भोजपत्र के वृक्ष मध्यम आकार के ३०–६० फीट की ऊँचाई तक होते हैं। छाल चिकनी, लालिमा लिये श्वेत, कुछ धारीदार तथा कागज के पत्तों के समान लिपटी होती है। पत्ते २–३ इंच लम्बे, १–$1\frac{1}{2}$ इंच चौड़े, कुछ दन्तुर और आगे से

१. भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी बहुवल्कलः। भाव० वटादिवर्ग ४७।

नोकीले होते हैं। नये पत्ते चिपचिपे होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में बारीक मञ्जरियों में पुष्प आते हैं। तदनन्तर छोटे गोल फल लगते हैं।

काव्यात्मक वर्णन--

भोजपत्र की त्वचा हल्की पाण्डुता लिये श्वेत वर्ण की मनोरम होती है। अतः इसके वृक्षों की पंक्तियाँ सुन्दर प्रतीत होती हैं। राजशेखर ने लिखा है कि हेमन्त ऋतु में भोजपत्र सुन्दर प्रतीत होता है।[१] परन्तु राजशेखर ने इस ऋतु में इस ऊँचाई पर किसी समय जाकर भोजपत्र वृक्षों को देखा होगा, यह सन्देहास्पद है। सम्भवतः वह ग्रीष्म में इस ऊँचाई पर गया होगा और वहाँ की शीत को देख कर उसने हेमन्त कह दिया होगा।

संस्कृत कवियों ने लेखन कार्य के लिये भोजपत्र के उपयोग का वर्णन किया है।[२] कालिदास ने भोजपत्र को प्रेमपत्र लिखने के योग्य कहा है।[३] उत्तरीय के रूप में भी इसके प्रयोग का वर्णन है।[४] कालिदास के अनुसार शिव के गण भोजपत्र के वस्त्र पहना करते थे।[५]

उपयोग—

प्राचीन समय में भोजपत्र का उपयोग लिखने के लिये अधिक होता था। वृक्ष के तनों और मोटी शाखाओं पर बारीक पतरों के रूप में छाल लिपटी रहती है। इसको उतार कर खोल कर लम्बी चौड़ी बन जाती है। इसी को भोजपत्र कहते हैं। इसका लेखन के लिये उपयोग किया जाता है।

स्थानीय जन भोजपत्र की काष्ठ का उपयोग भवन-निर्माण के लिये और ईंधन के लिये करते हैं। प्राचीन समय में वे इसके पतरों को वस्त्र के रूप में पहनते थे।

भोजपत्र का चिकित्सा में भी उपयोग है। छाल का क्वाथ वात वेदनाओं और कामला में हितकर है। पत्ते उत्तेजक और स्तम्भक होते हैं। भूतबाधा में इसकी धूप देते हैं।

१२४. मञ्जिष्ठा

संस्कृत नाम—मञ्जिष्ठा, विकसा, जिङ्गी, समङ्गा, कालमेषिका, मण्डूक-

---

१. बालरा० ३-२६।

२. भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः। —विक्रमो० पृ० १८०।

३. न्यस्ताक्षरः धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रियया्पयोगम्॥
—कुमारसम्भव १-७।

४. भोजपत्रेण सम्पादितोत्तरीयाम्। —विक्रमो० पृ० १८०।

५ भूर्जत्वचः स्पर्शवतीः दधानाः। —कुमारसम्भव १-५।

पर्णी, भण्डीरी, भण्डी, योजनवल्ली, रसायनी, अरुणा, काला, रक्ताङ्गी, रक्तयष्टिका, भण्डीतकी, गण्डीरी, मञ्जूषा, वस्त्ररञ्जनी ।[१]

हिन्दी नाम—मजीठ, मंजीठ
अंग्रेजी नाम—Indian Madder
लैटिन नाम—Rubia Cordifolia Linn.
कुल—Rubiaceae
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

उत्तररामचरित, हनूमन्नाटक, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

मञ्जिष्ठा की लतायें हिमालय पर्वत के ऊँचे क्षेत्रों में लगभग ८००० फीट की ऊँचाई पर होती हैं । यह अफगानिस्तान से लेकर नेपाल तक प्रचुर होती है ।

मञ्जिष्ठा लतायें भूमि पर फैलती हैं और बहुत दूर-दूर तक इसकी लम्बी जड़े भूमि में प्रविष्ट हो जाती हैं । अतः इसको योजनवल्ली भी कहते हैं । इसका काण्ड कई गज लम्बा, खुरदरा और कठोर होता है । छाल ऊपर से पाण्डु, परन्तु भीतर से गहरी लाल होती है । काण्ड पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर गाठें होती हैं । प्रत्येक गाँठ पर चार-चार के चक्रों में ताम्बूल के आकार के नोकीले पत्ते निकलते हैं । शरद् में पीताभ-श्वेत नन्हें पुष्प निकलते हैं । तदनन्तर १/८–१/६ इंच लम्बे दो बीजों से युक्त फल आते हैं । पकने पर ये बैंजनी-काले होते हैं । मञ्जिष्ठा का मूल लाल, लम्बा तथा मोटा होता है । औषधि में यही प्रयुक्त होता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

मञ्जिष्ठा का प्रयोग तथा वर्णन अति प्राचीन काल से किया जाता रहा है । यह उज्ज्वल रक्त वर्ण के लिये प्रसिद्ध है ।[२] वर्ण के बहुत सुन्दर होने से ही इसको मञ्जिष्ठा (मञ्जी शोभने वर्णे तिष्ठति, अथवा अतिशयेन मञ्जुः) कहा गया था ।

मञ्जिष्ठा का प्रयोग वस्तुओं को लाल रंगने के लिये किया जाता था । इससे लोग बालों को भी लाल रंगते थे ।[३] वस्त्र रंगने के लिये भी यह उपयोगी था ।

---

१. मञ्जिष्ठा विकसा जिङ्गी समङ्गा कालमेषिका । मण्डूकपर्णी भण्डीरी भण्डी योजनवल्ल्यपि । रसायन्यरुणा काला रक्ताङ्गी रक्तयष्टिका । भण्डीतकी च गण्डीरी मञ्जूषा वस्त्ररञ्जनी ।

—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १७८-१७९ ।

२. विद्ध० १-२५ । ३. हनू० १२९ ।

ब्रह्मचारी मञ्जिष्ठा से लाल रंगे वस्त्रों को पहना करते थे।[1] प्रसाधन के लिये उपयोग करती थीं। वे अपने शरीर के विभिन्न अवयवों को मञ्जिष्ठा से रग लेती थी।[2]

उपयोग—

मञ्जिष्ठा का उपयोग उद्योगों में तथा चिकित्सा में किया जाता है। उद्योगों में इसका मुख्य उपयोग लाल रंगने के लिये है। लाल होने के कारण इसको अरुणा, रक्ताङ्गी तथा रक्तयष्टिका नाम दिये गये। वस्त्रों को रंगने के कारण यह वस्त्र रंजनी कहा गया।

चिकित्सा में मञ्जिष्ठा का बहुत उपयोग है। इस प्रयोजन के लिये अफगानी मञ्जिष्ठा अच्छी मानी जाती है। इसका मुख्य उपयोग रक्तशोधन के लिये है। इसके लिये मञ्जिष्ठाद्यासव, मञ्जिष्ठादिक्वाथ आदि दिये जाते हैं। यह ग्राही, पौष्टिक, गर्भाशय संकोचक, मूत्रल और शामक है। कुछ समय तक देने से मूत्राश्मरी गल सकती है। इसको आर्तवशुद्धि के लिये भी देते हैं। घिस कर लगाने से त्वचा के विकार ठीक होते हैं।

१२५. मधूक

संस्कृत नाम—मधूक, गुडपुष्प, मधुपुष्प, मधुस्रव, वानप्रस्थ, मधुष्ठील, मधूलक।[3]

हिन्दी नाम—महुआ

अंग्रेजी नाम—Indian Butter Tree

लैटिन नाम—Madhuca indica Gmel.
Bassia latifolia Roxb.

कुल—Sahotaceae

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

उरुभंग, महावीरचरित, हनूमन्नाटक, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में महुये के वृक्ष होते हैं। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, छोटा नागपुर, उड़ीसा और इसके उत्तरवर्ती वनों में प्रचुर मधूक वृक्ष हैं। ग्रामों के बाहर प्रायः इसको लगा दिया जाता है।

---

१. अधो वासश्च मञ्जिष्ठकम्। —उत्तर० ४-२०।

२. बालरामायण ३-२६

३. मधूको गुडपुष्पः स्यान्मधुपुष्पो मधुस्रवः।
वानप्रस्थो मधुष्ठीलो जलजेऽत्र मधूलकः॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ९५।

मधूक के ऊंचे वृक्ष ५०–६० फीट तक चले जाते हैं। इसके पत्ते ५–९ इंच लम्बे, ३–४ इंच चौड़े अण्डाकार होते हैं। ये शाखाओं के सिरे पर गुच्छों में लगते हैं। कोमल पत्तों के पृष्ठ भाग पर रोम होते हैं। वसन्त में पतझड़ होकर ग्रीष्म के आगमन पर श्वेत सुगन्धित पुष्प गुच्छों में आते हैं। इस समय सारे वन में विशिष्ट सौरभ फैल जाती है। पुष्पों में गूदा भरा होता है और इसमें ५५ प्रतिशत तक शर्करा होती है। अतः इसको गुडपुष्प, मधुपुष्प, मधूक, मधुस्रव, मधुष्ठील आदि नाम दिये गये हैं। ये खाने में स्वादिष्ट होते हैं। सूखने पर मुनक्का के समान हो जाते हैं। पुष्प झड़ कर फल जाते हैं। १–१ इंच लम्बे फल वर्षा ऋतु में पक कर पीताभ हो जाते हैं। ऊपर गूदा और अन्दर गहरे लाल रंग की २–४ गुठली निकलती है। इनके अन्दर गिरी होती है। गिरी से गाढा जमने वाला तेल निकलता है। इसकी मात्रा ५५ प्रतिशत तक होती है। जल बहुल स्थान में उत्पन्न होने वाला महुआ मधूलक (Bassia longi folia linn) कहलाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

कवियों ने मधूक वृक्ष का और उसके पुष्प आदि का मनोरञ्जक चित्रण किया है। 'हनूमन्नाटक' में कहा गया है कि दक्षिण वनों में प्रभूत संख्या में मधूक वृक्ष हैं।[१]

नाटकों के वर्णनों के अनुसार मधूक वृक्ष वसन्त में पुष्पित होते हैं।[२] इसकी कलियों का वर्ण पिंगल कहा गया है[३], परन्तु पुष्पों का वर्ण श्वेत वर्णित है।[४] मधूक पुष्पों में मादक सुरभि होती है तथा प्रचुर मात्रा में मधुर रस भरा रहता है।

मधूक पुष्पों में कवियों ने अद्भुत कोमलता, मादकता और सौन्दर्य के दर्शन किये थे। इनको नारी के अंगों का उपमान भी बनाया गया है। भवभूति ने सीता के अंगों की उपमा मधूक पुष्पों से दी है।[५] कालिदास ने वर्णन किया है कि युवतियाँ मधूक पुष्पों की मालाओं को केशों में बाँधा करती थीं।[६]

उपयोग—

भारतीय अर्थव्यवस्था में महुये का काफी योग रहा है। पुष्पों के सौन्दर्य और सुरभि के कारण यह आकर्षक तो है ही, इसका आर्थिक उपयोग भी कम नहीं है। महुये के फलों और पुष्पों में प्रचुर शर्करा होती है। इसको कच्चा, पका कर और मिठाई बना कर खाया जाता है। एक वृक्ष से ४-८ मन तक पुष्प एकत्रित हो जाते हैं। मधूक-पुष्पों से मदिरा भी बनाई जाती है। मधूक की गिरी का तेल

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ७८–७०। २. बालरा० ५-४२।
३. मधूकमुकुलोन्नतपिंगलाक्षा। —उरुभंग १-११।
४ बालरा० पृ० ३३ ५. महावीर० २-२१।
६. कुमारसम्भव ७-१४।

भोजन में चिकनाई के काम आ सकता है। यह दीपक जलाने के लिये भी उपयोगी है। साबुन के उद्योग में इसका बहुत महत्व है। खली से उत्तम खाद बनती है। महुये की छाल रंगाई में उपयोगी है। मधूक की लकड़ी से अच्छा फर्नीचर बन सकता है, तथापि पुष्पों और फलों की उपयोगिता के कारण इसको कम ही काटा जाता है।

महुये का चिकित्सा में भी उपयोग है। पुष्प और फल उष्ण तथा मधुर होते हैं। पुष्पों को वातनाशक, बल्य, वृष्य तथा मूत्रल माना जाता है। फलों की मज्जा आर्तवजनक है। तेल वातनाशक होता है। महुये की छाल का खुजली तथा सन्धिवात में प्रयोग किया जाता है।

१२६. मरिच

संस्कृत नाम—मरिच, वेल्लज, कृष्ण, ऊपण, घर्मपत्तन,[७]

हिन्दी नाम—काली मिरच

अंग्रेजी नाम—Black Pepper.

लैटिन नाम—Piper rigrum Linn.

कुल—Piheraceae

वर्ग—हरीतक्यादिवर्ग

नाटकों के उल्लेख--

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

काली मिर्च दक्षिण भारत में कोंकण, तमिलनाडु और केरल में अधिक होती है। इसका उत्पादन पूर्वी भारतीय द्वीप समूह, लंका और मलाया प्रायद्वीप में भी किया जाता है।

काली मिर्च की आरोही लतायें होती हैं। वर्षा ऋतु में इसके काण्ड के टुकड़ों को बड़े वृक्षों की जड़ के समीप गाड़ देते हैं। वृक्ष के आश्रय से लता बढ़ती जाती है। एक बार लता के लगाने से २५–३० वर्षों तक फल मिलता रहता है।

काली मिर्च की लता का काण्ड मोटा, दृढ़ और गाँठ दार होता है। गाँठ से मूल निकल कर आश्रय को पकड़ लेता है। पत्ते ४–७ इंच लम्बे, २–५ इंच चौड़े, नीचे से फैले तथा ऊपर की ओर पतले होते जाते हैं। पुष्प २–६ इंच लम्बी मञ्जरियों के रूप में आते हैं। इन पर छोटे-छोटे गोल फल आते हैं। कुछ पकने पर ये चौथाई इंच के लगभग मोटे लाल रंग के होते हैं। इसी अवस्था में इनको तोड़ कर सुखा लिया जाता है। सूखने पर ये काले-भूरे से झुर्रियों दार होते हैं। ये हीं

७. मरिचं वेल्लजं कृष्णभूषणं घर्मपत्तनम्। —भाव हरीतक्यादिवर्ग ५९।

काली मिर्च के नाम से बिकते हैं ; इनमें तीखा-चरपरा स्वाद और विशिष्ट गन्ध होती है।

काव्यात्मक सौन्दर्य—

काली मिर्च का विवरण संस्कृत नाटकों में कम ही है। केवल एक स्थान पर 'मृच्छकटिक' में स्वर को मधुर बनाने के लिये इसका संकेत है। हींग ओर काली मिर्च को मिला कर कोयल के मांस को तेल-घी मे भून कर खाने से स्वर मधुर हो जाता है।[1]

उपयोग—

काली मिर्च का उपयोग भोजन में मसाले के रूप मे प्रचुर होता है। इन्हीं मसालों की खोज करने के लिये यूरोप के साहसी नाविकों ने भारत की खोज की थी। इसका प्रयोग चिकित्सा में भी प्रचुर है। यह उष्ण, कटु, दीपन और पाचन है। पाचक चूर्णों में इसको डाला जाता है। त्रिकटु सोंठ, काली मिर्च और पिप्पली का यह अनिवार्य घटक है।

१२७. मरुबक

संस्कृत नाम—मारुत, मरुबक, मरुत्, मरु, फर्णी, फणिज्जक, प्रस्तपुष्प, समीरण।[2]

हिन्दी नाम—मरुआ

अंग्रेजी नाम—Sweet Majoram

लैटिन नाम—Majorana hortensis Moench.
Origanum majoraua Linn.

कुल—Limiaceae

वर्ग—पुष्प वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

मरुबक भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में होता हैं। इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है। मरूबक के छोटे पौधे १–२ फीट ऊँचे होते हैं। इनमें विशिष्ट सुगन्धि

---

१. हिंगूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथंनाहं मधुरस्वर इति॥
—मृच्छ० ८-१४।

२. मारुतोऽसौ मरुबको मरुन्मरुरपि स्मृतः।
फणी फणिज्जकश्चापि प्रस्थपुष्पः समीरणः॥ —भाव० पुष्पवर्ग ६४।

होती हैं। पत्ते लम्बे अण्डाकार. कुछ लालिमा लिये श्वेत होते हैं। इनमें तुलसी के समान मंजरियां आती हैं। मरूबक दो प्रकार का होता है—काला और श्वेत।

काव्यात्मक वर्णन—

मरूबक का वर्णन वाटिकाओं और वनों सभी जगह किया गया है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार यह वनस्पति दक्षिण वनों में प्रचुर होती थी[1]। मरूबक के पुष्प शिशिर ऋतु में विकसित होते हैं[2]। पुष्प-मंजरियों की आकृति सर्प के फण के समान होने से इसको फणी और फणिज्जक कहा गया था. मरूबक के पुष्पों की यह भी विशेषता कही गई है कि इनकी सुगन्धि मुरझा जाने पर भी समाप्त नहीं होती[3]।

उपयोग—

पुष्प-मंजरियों के सौन्दर्य और सुगन्धि के कारण मरूबक को बाटिकाओं में लगाया जाता है। काला मरूबक शिव को अति प्रिय है, अत: देवपूजन में यह व्यवहृत होता है।

श्वेत मरूबक के पंचांग का चिकित्सा में प्रयोग होता है। यह उष्ण और कटुतिक्त है। इसका उपयोग उदरवुल, आध्मान, प्रतिश्याय आदि के लिये करते हैं। यह आतंव को खोलता है। सामान्य दुर्बलता में भी लाभदायक है।

१२८. मल्लिका

संस्कृत नाम—मल्लिका, मदयन्ती, शीतभीरू, भूपदी[4]।

हिन्दी नाम—मल्लिका, मोतिया।

अंग्रेजी नाम—Arabian Jasmin.

लॅटिन नाम—Jasminum Sambac Ait.

कुल—Oleaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मृच्छकटिक, कौमुदीमहोत्सव, तपतीसंवरण, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

मल्लिका भारत में प्राय: सभी स्थानों पर होती है और बाटिकाओं में लगाई जाती है।

---

१. हनू० पृ० ६८–७०। २. बालरा० ५–३७।
३. विद्ध० पृ० ८०।
४. मल्लिका मदयन्ती च शीतभीरुश्च भूपदी। —भाव० पुष्पवर्ग ३९।

चमेली वर्ग की मल्लिका वनस्पति के आरोही लतानुमा क्षुप होते हैं। शाखाओं पर रोम रहते हैं। पत्तियाँ तीन-तीन के समूहों में आती हैं। पुष्प भी प्रायः तीन-तीन के समूहों में आते हैं, परन्तु अकेले भी आ जाते हैं। श्वेत वर्ण के पुष्प अत्यधिक सुगन्धित होते हैं। मस्त बना देने वाली पुष्प-सुगन्धि के कारण इसको मदयन्ती कहा गया है। यह लता सरदियों में नष्ट हो जाती है, अतः शीतभीरु कही गई। भूमि में दूर-दूर तक फैलने वाली होने के कारण इसका नाम भूपदी हुआ।

काव्यात्मक वर्णन—

पुष्पों की सुगन्धि और सौन्दर्य के कारण मल्लिका ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की थी[१]। भारतीय वाटिकाओं में इसको खूब लगाया लगाया जाता था। वनों में भी यह उपलब्ध थी। भास ने वर्णन किया है कि अवन्ती के सैनिकों ने भगवान में कृत्रिम हाथी को मल्लिका की लताओं से ढक दिया था[२]।

मल्लिका पर वसन्त में पुष्प आते हैं[३]। परन्तु ग्रीष्म में भी इनको देखा जा सकता है[४]। शीतकाल में यह मुरझाई सी रहती है। कवियों ने वर्णन किया है कि श्वेत वर्ण के मल्लिका के पुष्प[५] दूध के समान स्वच्छ होते हैं[६]। इनमें अति मनोरम सुगन्धि होती है। इसी कारण इसको मल्लिका नाम दिया गया (मल्लते धारयति गन्धम्)। वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होने पर मल्लिका के पुष्प नष्ट होने लगते हैं[७]।

मल्लिका पुष्प युवतियों को अति प्रिय थे। वे इनको अपनी वेणी में गूँथा करती थीं[८]। घरों की सजावट के लिये भी इन पुष्पों का प्रयोग किया जाता था। शूद्रक ने वर्णन किया है कि समृद्ध जनों के घरों के द्वारों पर मल्लिका-पुष्पों की मालायें लटकाई जाती थीं[९]।

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि के कारण मल्लिका को वाटिकाओं में लगाया जाता था। इसके पुष्पों से तथा पुष्पों की मालाओं से युवतियाँ शृङ्गार करती हैं। इन पुष्पों से इतर भी बनाया जाता है। मल्लिका से केशों के लिये प्रयोग में आने वाले पुष्पों को सुगन्धित किया जाता है। देवार्चन के लिये भी इनका प्रायः प्रयोग होता है।

मल्लिका का प्रयोग चिकित्सा में भी है। यह उष्ण और कटु-तिक्त है। पुष्पों

---

१. मृच्छ० पृ० १७६, कौमुदी० पृ० ४४।
२. प्रतिज्ञा० पृ० १७। ३. बालरा० ५–४०।
४. ग्रीष्मकालसुभगफुल्लमल्लिकाकुसुमाट्टहासम्। —कौमुदी० पृ० ४४।
५. विद्ध० पृ० १७। ६. कर्पूर० १–१६।
७. तपती० ६–३। ८. विद्ध० २–७।
९. मल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य। —मृच्छ० पृ० १७०।

को पीस कर शिरोवेदना में लगाते हैं। पत्तियों का काढा ज्वर को दूर करता है। रजोरोध और कष्टार्तव में मूल का काढा देते हैं। त्वचा रोगों में पत्तियों को पीसकर लगाते हैं।

१२९. मातुतुङ्ग

संस्कृत नाम—बीजपूर के प्रसंग में दिये जा चुके हैं।

हिन्दी नाम—मातुलुंग।

अंग्रेजी नाम—Lemon.

लैटिन नाम—Citrus anacardium Linn. **कुल**—Rutaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाकटों के उल्लेख—

मालतीमाधव।

वनस्पति का परिचय—

मातुतुंग प्रायः सारे भारत में वाटिकाओं में लगाया जाता है। हिमालय की तराइयों के वनों में ये प्राकृतिक रूप से प्रचुर मिलते हैं।

मातुतुंग के पौधे बीजपूर के समान होते हैं। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में मातुतुंग और बीजपूर को पर्यायवाची कहा गया है। 'अमरकोष' की रामाश्रमी टीका में भट्टक्षीरस्वामी के मत को उद्धृत करके बताया गया है कि वे इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानते थे[१]। परन्तु 'अमरकोष' के अनुसार बीजपूर और मातुतुंग अलग-अलग हैं। रामाश्रमी टीका में इस बात का समर्थन किया गया है। वस्तुतः मातुतुंग और बीजपूर के पौधे एक जैसे होते हैं। फल भी बहुत कुछ मिलते हैं। परन्तु बीजपूर के फल अधिक बड़े एवं अण्डाकार होते हैं, जबकि मातुतुंग के फल कुछ छोटे और गोल होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने मातुतुंग का अधिक वर्णन नहीं किया है। भवभूति ने एक स्थान पर कहा है कि पद्मपुर नगर के नगरदेवता के मन्दिर की वाटिका के चारों ओर मातुतुंग के वृक्षों की बाढ थी[२]।

उपयोग—

मातुतुंग का उपयोग सामान्य रूप से बीजपूर के ही समान होता है।

---

१. फलपूरो बीजपूरः केसरी बीजपूरकः।
बीजकः केसराम्लश्च मातुतुङ्गश्च पूरकः॥
—अमरकोष २–४–७८ पर रामाश्रमी टीका से।

२. भागाः प्रेङ्खितमातुतुङ्गवृतयः। —मालती० ९–१९।

१३०. माधवी

संस्कृत नाम—माधवी, वासन्ती, पुण्ड्रक, मण्डक, अतियुक्त, विमुक्त, कामुक, भ्रमरोत्सव[1]।

हिन्दी नाम—माधवी, वासन्ती।

अंग्रेजी नाम—Clustured Hiptage.

लैटिन नाम—Hiptage madablate Gaertn.

कुल—Malphighiaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, स्वप्नवासवदत्तम्, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, कौमुदीमहोत्सव, पद्मप्राभृतक, रत्नावली, तापसवत्सराज, नागानन्द, मालतीमाधव, सुभद्राधनञ्जय, विद्धसालभञ्जिका, कुन्दमाला।

वनस्पति का परिचय—

भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों पर माधवी लतायें वाटिकाओं में पाई जाती हैं। हिमालय के तराई क्षेत्रों में ये वनों में भी मिलती हैं।

माधवी खूब फैलने वाली लता है। यह समीपस्थ वृक्ष पर चढ़ कर उसको ढक लेती है। काण्ड मजबूत होता है। ४–७ इंच लम्बे, ढाई इंच चौड़े, चिकने, चमकीले और नोकीले पत्ते होते हैं। वसन्त में श्वेत, सुगन्धित आकर्षक पुष्प आते हैं। अन्दर की पंखुड़ी कुछ पीली होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटककारों ने माधवी का प्रचुर वर्णन किया है। भारतीय वाटिकाओं की यह लता मनोरम शृङ्गार रही। सुगन्धित सुन्दर पुष्पों के कारण इसको बहुत आदर मिला। उपवनों में इसको अवश्य लगाया जाता था।[2]

माधवी लता वसन्त में पुष्पित होती है। अतः इसको माधवी (मधौ पुष्यति) और वासन्ती (वसन्ते पुष्यति) कहा गया था।[3] वसन्त का पवन इसके सौन्दर्य में वृद्धि करता है।[4] इसके पुष्प अत्यधिक श्वेत होते हैं[5] और मोतियों को भी मात देते हैं। अतः इसका नाम अतिमुक्तक (अतिक्रान्तः मुक्तकं शौक्ल्यात्) हुआ। नागरिक

---

१. माधवी स्यात्तु वासन्ती पुण्ड्रको मण्डकोऽपि च।
अतिमुक्तो विमुक्तश्च कामुको भ्रमरोत्सवः॥
—भाव० पुष्पवर्ग ४०–४१।

२. नागानन्द २-३।
३. मृच्छकटिक पृ० ३७०।

४. निषञ्चन् माधवीं लक्ष्मीम्। —विक्रम० २-४।

५. रत्ना० पृ० २८।

इस को बहुत पसन्द करते थे और वाटिकाओं में इसके सौन्दर्य को देखकर आनन्दित होते थे।[१] राजशेखर ने लाल पुष्पों वाली माधवी का भी उल्लेख किया है।[२] माधवी में सौरभ बहुत होता है, अतः इस पर भ्रमर बहुत मडराते हैं। अतः इसको भ्रमरोत्सव कहा गया।

माधवी लता में बहुत अधिक कोमलता की कल्पना की गई थी। यह तीव्र पवन के आघात को सहन नहीं कर सकती। इससे माधवी के पत्ते सूख जाते हैं।[३] माधवी की कोमलता के कारण इसके पुष्प अति कोमलता और सावधानी से तोड़े जाते हैं।[४]

माधवी लता में कवियों ने विशेष मार्दव और शृङ्गार रस की भी कल्पना की है। यह आम का आश्रय लेकर बढ़ती है।[५] इसकी वृद्धिरूप यौवन का वेग इतना उद्दाम होता है कि प्रभूत बढ़ती हुई इस लता के भार को मजबूत आम वृक्ष ही वहन कर सकता है।[६] युवतियों को वासन्ती पुष्प अति प्रिय थे, अतः वे इसकी मालाओं को धारण करती थी।[७]

माधवी लताओं के मध्य विश्राम करना और विश्रम्भ वार्तायें करना भारतीय जनों को अति प्रिय था। इन लताओं को मण्डप के रूप में लगाया जाता और इनमें शिलापट्ट रख कर विश्राम करना अति सुखद था।[८] राजाओं के अन्तःपुरों के प्रमदोद्यानों में माधवी लतायें अवश्य होती थीं। इन लताओं को घेर कर मण्डप बनाये जाते थे।[९] अन्तःपुर की रानियाँ और अन्य जन इनमें विश्राम करते थे और विविध विलासों का आनन्द लेते थे।[१०] युवतियाँ इनमें छिप कर बैठ जाती थीं तथा

१. मृच्छ० पृ० १८४।
२. विद्ध० पृ० २८।
३. पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी। —अभिज्ञान० ३-७।
४. मृच्छ० पृ० ३७०।
५. आश्रयति माधवी चेदाश्रमसहकारपादपस्कन्धम्।
स्वार्थं क्रीतां लभते निर्वृतिमारण्यको वर्गः॥ —कौमुदी० २-२।
६. कः सहकारमन्तरेण अतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।
—अभिज्ञान० पृ० २३९।
परिगृहाण सखे सहकारतां त्वमतिमुक्तलाचरितं मयि।
—मालविका० ४-१३।
७. पद्म० श्लोक ३६, मालती० ५-८।
८. मणिशिलापट्टकसनाथेऽतिमुक्तलतामण्डपः। —विक्रमो० पृ० १७४।
९. माधवीलतामण्डपस्य पार्श्वतः। —स्वप्न० पृ० ६२।
१०. रत्ना० पृ० ६० सुभद्रा० पृ० ५२।

औरों के कार्यों का निरीक्षण करती थी।[१] वे धूप से बचने के लिये भी इनमें प्रवेश करती थी।[२] रसिक जन माधवी के लता मण्डपों में बैठ कर अपने विश्राम का समय व्यतीत करते थे।[३]

तपोवनों तथा आश्रमों में भी माधवी लता-मण्डपों के उल्लेख मिलते हैं। ये स्थान विश्राम के लिये उपयोगी थे।[४] आश्रमों की कन्यायें तथा युवतियाँ इनमें बैठ कर मनोविनोद करती थी।[५]

उपयोग—

माधवी का उपयोग पुष्पों की सुगन्धि और सौन्दर्य के लिये अधिक था। इसकी मालाओं को बहुत पसन्द किया जाता था। वाटिकाओं में इसके मण्डप पसन्द होते थे। माधवी पुष्पों से इतर भी बनाया जा सकता है।

माधवी चिकित्सा में भी उपयोगी है। छाल तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है। छाल कड़वी और सुगन्धित होती है। इसको आमवात और श्वास में देते हैं। पत्तों का रस उदरक्रिमियों को नष्ट करता है। त्वचा के रोगों में पत्तों को पीस कर लगाते हैं। चक्रदत्त के अनुसार कमर को पतला करने के लिये माधवी के मूल की छाल को तक्र के साथ लेना चाहिये।

१३१. मालती

संस्कृत नाम—मालती, सुमनस्।

हिन्दी नाम—मालती।

अग्रजी नाम—Jasmine.

लैटिन नाम—Jasminum flexile Vahl.

कुल—Obaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, मालविकाग्निमित्र, नागानन्द, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

मालती को भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों पर वाटिकाओं में लगाया जाता

१. माधवीलतामण्डपं प्रविशामः।—**स्वप्न० पृ० १२४।**

२. दुःसह आतपः तदिदं तावन्माधवीलतामण्डपं प्रविशामः।

—**स्वप्न० पृ० १२४।**

३. माधवीलतामण्डपे इमां वेलामतिवाहयिष्ये।—**अभिज्ञान० पृ० ४०५।**

४. तापस० पृ० ६५।　　५. कुन्द० पृ० १६१।

है। असम के पर्वतीय प्रदेशों तथा दक्षिण के पठारों में यह प्राकृतिक रूप में मिलती है।

मालती और जाति को निघण्टु ग्रन्थों में पर्यायवाची कहा गया है। वस्तुत: दोनों ही वनस्पतियाँ एक ही जाति की और बहुत कुछ समान होते हुये भी भिन्न है। जाति को जैस्मीनम ग्रान्डोफोलियम लिन (Jasminum grandifolium Linn) और मालती को जैस्मीनम फ्लेक्साइल वाहूल समझना चाहिये। दोनों का ही कुल औलिपसी है।

जाति के समान ही मालती के भी आरोही लतानुपा क्षुप होते है। शाखाओं की छाल श्वेतिमा लिये होती है। तीन-तीन पत्तियों के पर्णक होते है। इनमें आगे की पत्ती अधिक लम्बी और पीछे की छोटी होती है। श्वेत रंग के पुष्प गुच्छों में आते हैं। वसन्त में अधिक पुष्प आते है, परन्तु कुछ वर्ष भर आते रहते हैं। सुगन्धित पुष्पों के लिये मालती की खेती की जाती है। मालती का एक भेद सुनहरे पुष्पों का भी होता है। इसको स्वर्ण मालती कहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

पुष्पों की सुगन्धि और सौन्दर्य के कारण मालती भारतीयों को अति प्रिय रही है। भारतीय उद्यान इन लताओं के पुष्पों से सदा अलंकृत और सुरभित रहे हैं। उद्यानों में मालती को निकुलों के रूप में भी लगाया जाता था।[१] कवियों ने अरण्यों में मालती की उपस्थिति का वर्णन किया है।[२]

मालती वसन्त में पुष्पित होती हैं और इसका सौन्दर्य मन को हरण करने वाला है। सौन्दर्य के इस अतिशय के कारण ही इसको सुमनस् (सुष्ठु मन्यते) और मालती (मां लक्ष्मीं सौन्दर्य लतति) कहा गया था।

मालती-पुष्प श्वेत और सुगन्धित होते है।[३] किन्हीं कवियों ने इनको श्वेत-स्वर्णिम भी कहा है।[४] मालती का सुनहरा भेद स्वर्ण मालती कहलाता है। मादक सुगन्धि और पुष्परस के कारण भ्रमर इसको सदा घेरे रहते है।[५] मालती पुष्पों की मालायें बहुत कोमल कही गई हैं। एक बार धारण करने के पश्चात् रस देने पर वे मुरझा जाती है।[६]

उपयोग—

मालती का उपयोग पुष्पों की सुन्दरता और सुगन्धि के लिये है। इतर प्राप्त

---

१. विद्ध० पृ० ३१। २. हनू० पृ० ६८-७०।
३. नागा० २-२। ४. मृच्छ० पृ० १८४।
५. भ्रमरकवलिताधां मालतीमालिकैव। —कर्पूर० ३-२।
६. अनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लायमाना। —मालविका० पृ ४८।

करने के लिये मालती की खेती की जाती है। चिकित्सा में भी इसका उपयोग है। इस सम्बन्ध में इसका व्यवहार जाति (चमेली) के समान हैं।

१३२. मालुधान

मालुधान कौनसी वनस्पति है, इसका पहचान नहीं की जा सकी है। इसका वर्णन राजशेखर ने किया है। यह लता जाति की वनस्पति है। इसके पत्ते बड़े आकार के होते है। इनके दोने बनाये जा सकते हैं।[१]

१३३. माष

संस्कृत नाम—माष।

हिन्दी नाम—उड़द।

अंग्रेजी नाम—Black-gram, Kidney-bean.

लैटिन नाम—Phaseo-us mungo Linn,

कुल—Leguminosae.

वर्ग—धान्य वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

माष (उड़द) प्राय: भारत के सभी प्रान्तों में होती है। मध्यप्रदेश और राजस्थान में इसकी खेती अधिक होती है।

माष एकवर्षीयु क्षुप है। इसको वर्षा के प्रारम्भ में खेतों में बोया जाता है। आधा फीट ऊँचा क्षुप रोमों से व्याप्त होता है। २–४ इंच लम्बे पत्ते आगे से नोकीले होते है। शरद् के प्रारम्भ में पीले पुष्प आकर फलियाँ लगती हैं। ये शरद् के अन्त तक पक कर तैयार हो जाती हैं। $1\frac{1}{2}$ —$2\frac{1}{2}$ इंच लम्बी फली में बाहर से काले, गहरे-भूरे या हरे और अन्दर से श्वेत बीज होते है। इनका ही माष के रूप में व्यवहार होता है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में माष के दो भेद कहे गये हैं— माष और राजमाष।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन वैज्ञानिकों ने माष की गणना शमीधान्यों में की है।[२] संस्कृत नाटकों में इसका वर्णन कम ही है। शूद्रक ने माष के काले रंग की अभिव्यक्ति करते हुये

---

१. बालरा० ६-५०।

२. माषादय: शमीधान्ये। —अमरकोष २-९-२४।

कहा है कि यदि माष के ढेर में स्याही की गुटिका पड़ जावे, तो उसको पहचानना कठिन है।[१]

उपयोग—

माष का भोजन में उपयोग अति प्राचीन काल से प्रचलित है। निरामिष भोजन में यह प्रोटीन का प्रमुख स्रोत है। भोजन में इसको प्राय: दाल के रूप मे लेते है। माष के अन्य व्यंजन भी बनते हैं। माष का चिकित्सा मे उपयोग है। यह मधुर, उष्ण, वातनाशक और स्तन्यवर्धक है। अस्थिशूल के शमन के लिये माष की जड़ देनी चाहिये। यह मादक होती है। वात-वेदनाओं में माष की रोटी गरम अवस्था में बाँधी जाती है।

१३४. मुचुकुन्द

संस्कृत नाम—मुचुकुन्द, क्षत्रवृक्ष, चित्रक, प्रतिविष्णुक।[२]
हिन्दी नाम—मुचुकुन्द, मचकन।
अंग्रेजी नाम—Muchukunda,
लैटिन नाम—Pterosferumum Suberifolium willd.
कुल—Sterculiaceae.
वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

मुचुकुन्द वृक्ष भारत के पूर्वी और दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तों, विशेष रूप से आसाम, बंगाल, मणिपुर और कोकंण में अधिक होते है। अन्य स्थानों पर भी इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है।

मुचुकुन्द के ऊचे घने वृक्ष होते हैं। कोमल शाखाओं पर रोग रहते है। पत्ते ६–१५ इंच लम्बे, ५–१० इंच चौड़े गहरे हरे चिकने होते हैं। पत्तों का पृष्ठ भाग रोमश होता है। वसन्त में श्वेत रंग के सुन्दर सुगन्धित पुष्प खिलते हैं। ये बड़े आकार के ५–६ इंच व्यास के होते है। पुष्पों के अनन्तर फल आते हैं, जो लम्बेगोल तथा पकने पर गाढे-भूरे और बाहर से कठोर होते हैं। इसके अन्दर पांच कोष्ठ होते हैं तथा प्रत्यक कोष्ठ में एक बीज रहता है।

---

१. मृच्छ० पृ० ३६।
२ मुचुकुन्दः क्षत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। —भाव० पुष्पवर्ग ५।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में मुचुकुन्द का वर्णन कम ही है । केवल राजशेखर ने एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि इसको वाटिकाओं में लगाया जाता था और इसका पराग पीले रंग का होता है ।[1]

उपयोग—

सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पों के लिये मुचुकुन्द को लगाया जाता है। पवित्र माना जाने के कारण इसका उपयोग देवार्चन में होता हैं । पुष्पों में वाष्पशील सुगन्धित तेल होता है, जिसको पुष्पों से अलग किया जा सकता है ।

मुचुकुन्द का चिकित्सा में भी उपयोग है । इसके पुष्प उष्ण और कटु-तिक्त होते हैं । ये त्वच्य, वेदनाहर और रक्तस्तम्भक है । रक्तपित्त और खूनी बवासीर में मुचुकुन्द के पुष्पों का चीनी और घी में हलवा बना कर खिलाना चाहिये । त्वचा से रक्त बहने पर इसको पीस कर लगाया जा सकता है । यह बाह्य वेदना को भी दूर करता है । सिर के दर्द में पुष्पों को पीस कर लगाते है तथा इनसे सिद्ध तेल की मालिश की जाती है ।

१३५. मुञ्ज

संस्कृत नाम—भद्रमुञ्ज, शर, बाण, तेजन, वेष्टन, मुञ्ज, मुञ्जातक, स्थूलदर्भ, सुमेखल ।[2]

हिन्दी नाम—मूंज ।

अंग्रेजी नाम—Sacred Girdle grass

लैटिन नाम—Saccharum munja Roxb.

कुल—Gramineae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

मूंज प्रायः सारे भारतवर्ष में, विशेष रूप से उत्तरी भारत में नदियों के रेतीले कछारों में उगता है ।

मूंज एक ऊँची घासनुमा वनस्पति है । इसकी पत्तियाँ चमकदार, लम्बी

---

१. कर्पूरमञ्जरी ३-२५ ।

२. भद्रमुञ्जः शरो बाणस्तेजनश्चेक्षु वेष्टनः ।
मुञ्जो मुञ्जातको बाणः स्थूलदर्भः सुमेखलः ।।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १५८-१५९ ।

(५–७ फीट) और तीखी नोक वाली होती है। काण्ड गांठ वाला होता है। शरद् के प्रारम्भ में काण्ड के सिरे पर रक्ताभ-श्वेत बारीक फूल आते है। काण्ड और पत्तियों के रेशों को अलग करके उसकी डोरियाँ और रस्सियाँ बनाई जाती है। निघण्टु ग्रन्थों में मूंज दो प्रकार की कही गई है—मुञ्ज और भद्रमुञ्ज। दोनों के गुण एक से हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

मूंज का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं है। एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मचारी मूंज की मेखला बांधा करते थे।[१] ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिये मूंज की मेखला का विधान शास्त्रों में किया गया था। कालिदास ने वर्णन किया है। कि पार्वती ने तपस्या करते हुये मूंज की मेखला बांध रखी थी।[२]

उपयोग—

भारतीय अर्थव्यवस्था में मूंज का प्रचुर उपयोग है। इसके रेशे रस्सियाँ बनाने के लिये उपयोगी है। पत्तों से छतों की कुटीरे छाई जा सकती हैं। इससे कागज भी बन सकता है। मूंज की जड़ तृषा शामक, मूत्रल और वृष्य होती है। प्रसूता के कमरे में मूंज की जड़ की धूप दी जाती है।

१३६. मुस्ता

संस्कृत नाम—मुस्तक, मुस्त, वारिद (मेघवाचक सभी नाम), कुरुविन्द, क्रोडकसेरुक, भद्रमुस्त, गुन्द्रा, नागरमुस्तक।[३]

हिन्दी नाम—मोथा, नागरमोथा।

अंग्रेजी नाम—Nut-grass.

लैटिन नाम—Cyherus rotundus Linn.
Cyherus Scariosus R. Br.

कुल—Cyheraceae.

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, चण्डकौशिक

---

१. हनू० ९-२१।

२. व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार सा। —कुमार० ५-१०।

३. मुस्तके न स्त्रियां मुस्तं त्रिषु वारिदनामकम्।
कुरुविन्दश्च संख्यातोऽपरः क्रोऽकसेरुकः॥
भद्रमुस्त च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः।
—भाव० कर्पूरादिवर्ग० ९१–९३।

वनस्पति का परिचय—

मोथा प्रायः सारे भारत में होता हैं और जलीय स्थानों में मिलता है। पर्वतों पर यह ६००० फीट की ऊँचाई तक प्राप्त है।

मोथे का भूमि में कन्द होता है, जिससे मूली के समान लम्बे पतले पत्ते निकलते हैं। कन्द लगभग दो इंच लम्बा और आधा इंच मोटा होता है। इस पर बाहर काले भूरे शल्क रहते हैं। इनको छीलने पर गाढ़े-भूरे रंग का कन्द निकलता है। काटने पर यह अन्दर श्वेत होता है। पत्तों के मध्य में १–२ फीट लम्बा काण्ड निकलता है। वर्षा में इसके सिरे पर २-४ इंच लम्बे पुष्प खिलते हैं। मोथे के रूप में कन्द का व्यवहार होता है। इसमें विशेष सुगन्धि रहती है।

मोथा वर्षा ॠतु में जलीय स्थानों में खूब हो जाता है। अतः इसको वारिद कहते हैं। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में मोथे के दो भेद कहे गये है—मुस्ता और नागर-मुस्ता (भद्रमुस्ता)। अन्य निघण्टुओं में एक और भेद केवतंमुस्ता भी है। इनके रूप तथा गुण समान हीं है। मुस्ता की अपेक्षा नागरमुस्ता अधिक सुगन्धित होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत रूपकों में मुस्ता और भद्रमुस्ता का शूकर के प्रिय आहार के रूप में वर्णन किया गया है। वनों में शूकर मुस्ता को खोद कर खाते देखे जा सकते थे।[१] कालिदास ने वर्णन किया है कि दुष्यन्त के मृगया से विरत हो जाने पर वराहों को मुस्ता उखाड़ने की खुली छूट मिल गई।[२]

मुस्ता की अपेक्षा भद्रमुस्ता (भद्रश्चासौ मुस्ता च) अधिक सुगन्धित है और सूअरों को अधिक प्रिय भी है।[३] मुस्ता का प्रयोग मसालों में भी करने का वर्णन है। इसको कण्ठ को मधुर करने वाला समझा गया था।[४]

उपयोग—

मुस्ता अन्य वनस्पति है। वनों में इसका वर्णन शूकरों के प्रिय आहार के रूप में मिलता है निर्धन मनुष्यों का यह आहार हो सकता है। इसका स्वाद मधुर-तिक्त होता है तथा इसमें हलकी सुगन्धि हैं।

मुस्ता चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह शीतल, कफ-पित्तशामक, दीपन, पाचन, तृषा शामक बलवर्धक और वृद्धिवर्धक है। यह स्वेद और मूत्र को बढ़ाता है, दुग्धवर्धक है, आर्तव को खोलता है। गोघृत में पीस कर लगाने से घाव शीघ्र भरते हैं।

---

१. चण्डकौशिक पृ० ३६९।

२ विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभि. मुस्ताक्षतिः पल्वले।
—अभिज्ञान० २-६।

३. चण्ड० २-१। ४. मृच्छ० ८-१३-१४।

१३७. मर्वा

संस्कृत नाम—मूर्वा, मधुरसा, देवी, मोरटा, तैजनी, स्रुवा, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी, पीलुपर्णी ।[१]

हिन्दी नाम--मरुआ बेल ।

अंग्रेजी नाम—Bow-sting Creeper.

लैटिन नाम--Marsdenia tenaeissima wt A.

कुल--Asclchiadaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

महावीरचरित, उत्तररामचरित

वनस्पति का परिचय—

हिमालय की तराई के प्रदेशों और विन्ध्य वनों में मूर्वा प्रचुर होती है । यह एक प्रकार की आरोही लता है (मरुआबेल) । इसका मजबूत काण्ड धूसर वर्ण का होता है, जिस पर रोम रहते है । ४-६ इंच लम्बे और ३-५ इंच चौडे पत्ते पान के आकार के, आगे से नोकीले और कोमल होते है । ग्रीष्म के प्रारम्भ में छोटे पीताभ-हरित अरुचिकर गन्ध वाले पुष्प गुच्छों में आते हैं । शरद् में ४–६ इंच लम्बी और १--१½ इंच मोटी रोमश फलियां आती है । इनमें आधा इंच लम्बे बीज होते हैं । मूर्वा के पत्ते शाखा आदि को तोड़ने पर श्वेत दूध निकलता हैं ।

काव्यात्मक वर्णन—

मूर्वा का वर्णन प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रचुर है । संस्कृत नाटकों में भी इसका उल्लेख हुआ हैं । इसका उपयोग डोरी बनाने के लिये होता था । क्षत्रिय ब्रह्मचारी मूर्वा की बटी मेखला को कटि में बांधा करते थे[१] मूर्वा का उपयोग धनुष की डोरी बनाने के लिये भी किया जाता था, अतः धनुष की डोरी को मौर्वी (मूर्वायाः विकारः) कहा गया था ।

मूर्वा के काण्ड और शाखाओं को कूटने से श्वेत रेशम जैसे तन्तु निकलते हैं । ये बहुत मजबूत होते है । इनसे मजबूत डोरियाँ बनाई जा सकती है । मूर्वा का मूल चिकित्सा में उपयोगी है । यह रक्तदोष, प्रमेह और तृषा को शान्त करता है । इसको कुष्ठ तथा विषमज्वर का नाशक माना जाता है ।

---

१. मूर्वा मधुरसा देवी मोरटा तेजनी स्रुवा ।
मधूलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि ।।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग २४४ ।

२. महावीर० २-१, उत्तर० ४-२० ।

१३८. मूलक

संस्कृत नाम—छोटी मूली —लघुमूलक, शालामर्कटक, विस्र, शालेय, मरुसम्भव, चाणक्यमलक, तीक्ष्ण, मूलकपोतिका।

बड़ी मूली—नेपालमूलक।[१]

हिन्दी नाम—मूली।

अंग्रेजी नाम—Raddish.

लैटिन नाम—Raphanus Sativus Linn.

कुल—Guciferae.

वर्ग—शाक वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक, मृच्छकटिक।

वनस्पति का परिचय—

मूली भारत के सभी प्रान्तों में पाई जाती है। यह प्रायः सारे वर्ष मिलती है, परन्तु शरद् में अधिक होती है। इसका कन्द लम्बा, नीचे को पतला, नोकीला होता जाता है। परन्तु पर्वतीय क्षेत्रों में यह शलजम के समान मोटे कन्द वाली भी होती है। मूली प्रायः श्वेत होती है, परन्तु लाल रंग की भी मिलती हैं। मूली के कन्द के ऊपर तुरन्त पत्ते निकले होते है। परिपक्व होने पर इसमें से पतले काण्ड निकलते है, जिन पर पुष्प विकसित होते है। तदनन्तर फलियाँ आती है। पकने पर इनमें लाल रंग के नन्हें गोल बीज निकलते है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में मूली का वर्णन शाक के रूप में किया गया है। प्राचीन समय में यह लोक प्रियशाक था।[२] मूली का कन्द प्रयोग में अधिक आता है, अतः इसका मूलक नाम दिया गया था (मूल प्रतिष्ठायाम्) श्वेत मूली को तलवार की मियान के समान वर्ण का कहा गया है।[३]

---

१. मूलकं द्विविधं प्रोक्तं तत्रैकं लघुमूलकम्।
शालामर्कटकं विस्रं शालेयं मरुसम्भवम्॥
चाणक्यमूलकं तीक्ष्णं तथा मूलकपोतिका।
नेपालमूलकं चान्यद् भवेद् गजदन्तवत्॥
—भाव० शाकवर्ग ९९–१००।

२. पाद० श्लोक १६।

३. मूलकपेशिवर्णम्। —मृच्छ० १-५२।

मूली लाल रंग की भी होती है। शूद्रक के अनुसार लाल मूली को मदिरा के साथ लिया जाता है।[१] मूली को कच्चा भी खाया जाता है। श्यामिलक ने वर्णन किया है कि दाशेरक मूली को खाते हुये आ रहा है।[२]

उपयोग—

मूली का प्रयोग शाक के रूप में बहुत प्राचीन है। मूली स्वयं तो देर से पचती है, परन्तु अन्य भोजनों को पचा देती है। इसका स्वरस मूत्रल होता है। मूली के पत्ते भी शाक के रूप में खाये जाते है। मूली के पंचागं का क्षार बनता है। यह पाचक और मूत्रल है। मूली के बीच चिकित्सोपयोगी है। ये वामक, मूत्रल और आर्तवप्रवर्तक होते हैं।

१३९. यव

संस्कृत नाम—यव, सितशूक।
हिन्दी नाम—जौ, जव।
अंग्रेजी नाम—Barley.
लैटिन नाम—Hordeum vulgare Linn.
कूल—Gramineae.
वर्ग—धान्य वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

चारुदत्त, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

जो प्रायः सारे भारतवर्ष में बोया जाता है। इसका प्रयोग बहुत प्राचीन है। यव को वर्षा के बाद शरद् के प्रारम्भ में खेतों में बो दिया जाता है। चैत्र के अन्त तक यह पक कर तैयार हो जाता है। पौधे २-३ फीट लम्बे होते है, जिन पर लम्बी बालियां होती है। जौ के दानों से छिलका कठिनाई से अलग होता हैं। इसको पानी में भिगोकर कूट कर अलग करते है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में यव का कुछ स्थलों पर उल्लेख किया गया हैं। भास नें उल्लेख किया है कि यव के दाने बलि के रूप में बखेरे जाते थे।[३] यव का वर्ण शुभ होता है। राजशेखर लिखते हैं कि चन्द्रमा की किरणें यव की बालियों के समान

१. आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य। —मृच्छ० पृ० २७८।
२. आयाति मूलकमदन् कपिपिंगलाक्षो
   दाशेरको यदि न नूनमयं पिशाचः। —पाद० श्लोक ६७।
३. चारुदत्त १-२।

पाण्डु वर्ण है।[१] प्राचीन समय से यव के अंकुरों को शुभ अवसरों पर लगाने की प्रथा रही है। पार्वती के विवाह के समय यवाकुंर उसके कानों में लगाये गये थे।[२] वर्तमान समय में भी यह प्रथा है। विजयादशमी के पर्व पर यवाकुंरों को कानों में लगाया जाता है।

उपयोग—

खाद्य अन्न के रूप में यव का प्रयोग सम्भवतः सबसे प्राचीन है। परन्तु उत्तरवर्ती युग में यव का स्थान गोधूम (गेहूँ) ने ले लिया। यव को अधिक सुपच समझा जाता है। इसके आटे की रोटी बनती है। यव को भून कर और पीस कर सत्त बनता है। इससे मण्ड, पेया, यवागू आदि आहार बनते हैं। ये शीतल और सुपच हैं। यव के पंचांग को जला कर यवक्षार बनता है। यह पाचन तथा मूत्रल है और मूत्राश्मरी में हितकर है।

१४०. यूथिका

संस्कृत नाम—यूथिका, गणिका, अम्बष्ठा[३], मागधी।
हिन्दी नाम—जूही।
अंग्रेजी नाम—Jasmine.
लटिन नाम—Jasminum auriculatum Vahl.
कुल—Oleaceae.
वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, मालतीमाधव।

वनस्पति का परिचय—

यूथिका प्रायः सारे भारत में होती है। सुगन्धित पुष्पों के लिये और उनसे इतर पाने के लिये इसकी खेती की जाती है। उत्तरप्रदेश में कन्नौज में इसकी विशेष खेती होती है।

यूथिका की आरोही लतानुमा झाड़ियाँ होती है। इसके तीन-तीन पत्तियों के पर्णक होते हैं। आगे की पत्ती पार्श्व की पत्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक बड़ी होती है। पत्तियाँ चिकनी और कोमल होती है। इस पर श्वेत वर्ण के छोटे सुगन्धित पुष्प

---

१. विद्ध० ३-१०।
२. कर्णार्पितो·····यवप्ररोहः। —कुमार सम्भव ७-१७।
३. यूथिका गणिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका।
— भाव० पुष्पवर्ग २९।

प्रचुर संख्या में गुच्छों में आते हैं। एक पुष्प में प्रायः आठ पंखुड़ियाँ होती है। वर्षा ऋतु से आरम्भ करके वसन्त तक खिलते रहते हैं।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में दो प्रकार की यूथिका कही गई है--श्वेत पुष्पों वाली और पीले पुष्पों वाली। पहली को यूथिका और दूसरी को पीतयूथिका या हेमपुष्पिका कहा गया है। उत्तराखण्ड में दूसरी को सोनाजाही कहा जाता है। लैटिन में यह जैस्मीनम ह्यूमाइल लिन (Jasminum hmnili Linn.) कहलाती है। हिमालय प्रदेशों में यह ६००० फीट तक होती है और काश्मीर से नेपाल तक उपलब्ध है। पीले सुगन्धित पुष्पों वाली यह यूथिका बहुत सुन्दर लगती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने यूथिका के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन किया है। यह मगध देश में अधिक होती होगी, अतः इसको मागधी कहा गया है (मगधे देशे भवा)। अति चित्ताकर्षक होने से इसका नाम गणिका हुआ। यह लता शीघ्र बढ कर घनी हो जाती है और इसका झुण्ड (यूथ) सा बन जाता है, अतः इसका नाम यूथिका (यूथम् अस्याः अस्ति) हुआ।

यूथिका उन स्थानों पर अधिक होती है, जहाँ प्रचुर मात्रा में जल हो। इस कारण नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में इसके खिले पुष्प देखे जा सकते है।[1] कालिदास ने वन्य नदियों के तटों पर उगने वाली यूथिकाओं का मेघों द्वारा सींचे जाने का वर्णन किया है।[2]

यूथिका के पुष्प सामान्यतः श्वेत और सुगन्धित होते हैं। ये युवतियों को बहुत प्रिय है। प्रसाधन के समय गूँथे गये इन पुष्पों से केश शबल दिखाई देते हैं।[3] सुन्दर पुष्पों को प्राप्त करने के लिये यूथिका का वाटिकाओं में लगागा जाता था।

शूद्रक ने सुनहरे पुष्पों वाली यूथिका का उल्लेख किया है।[4] निघण्टु तथा कोष ग्रन्थों में पीले पुष्पों वाली यूथिका को हेमपुष्पिका कहा गया है।[5]

उपयोग—

यूथिका का उपयोग इसके पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि के कारण है। वाटिकाओं में यह अति लोकप्रिय रही। इसके पुष्प युवतियों के शृंगार है। पुष्पों से इतर भी बनाया जाता है। इससे तेल भी सिद्ध करते है।

---

१. पर्यन्तेषु च यूथिकासुमनसामुज्जृम्भितं जालकैः।

—मालविका० ६-१५।

२. वननदीतीरजातानि सिञ्चन्……यूथिकाजालकानि।—पूर्वमेघ० २८।

३. यूथिकाशबलकेशी। —विक्रमो० ४-४६।

४. सुवर्णयूथिकाप्रभृतिकुसुमैः। —मृच्छ० पृ०१८४।

५. सा पीता हेमपुष्पिका। —अमरकोष २-४।

चिकित्सा में यूथिका का प्रयोग मालती के ही समान है। मुखपाक में इसके पत्तों को चबाना चाहिये। अंगुलियों का मध्य भाग पक जाने पर पत्तों को पीस कर लगाते हैं। पत्तों से सिद्ध तेल कान में डालने से कान के रोगों में लाभ होता हैं। क्षय रोग में यूथिका-पुष्प लाभ करते है।

१४१. रसाञ्जन (दारूहरिद्रा

संस्कृत नाम—दावी, दारुहरिद्रा, पर्जन्या, पर्जनी, कटङ्कटेरी, पीता, पचम्पचा, कालीयक, कालेयक, पीतद्रू, हरिद्रु, पीतदारु, पीतक।[1]

हिन्दी नाम—दारुहल्दी, रसोत, किलमोड़ा, किमोरा

अंग्रेजी नाम—Indian Berbery.

लैटिन नाम—Berberis aristata De.

कुल—Berberidaceae.

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

रसाञ्जन को दारुहरिद्रा नामक वनस्पति से प्राप्त किया जाता है। यह हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में प्रचुर होती है। इसके तीन मुख्य भेद है—बेरबेरिस अरिस्टाटा डौसी, बेरबेरिस एशियाटिक्स रोक्सब एक्स डोसी, और बेरबेरिस लाइ-सियम रायल।

दारुहरिद्रा के पौधे सामान्यत: ३-५ फीट ऊँचे होते हैं। अधिक ऊँचे भी हो सकते हैं। झाड़ियाँ खूब फैल जाती है। काण्ड मोटा, मजबूत और खाकी होता है। पतियाँ १–२ इंच लम्बी, मोटी, किनारों पर तथा नोक पर कांटों से युक्त होती हे। शाखाओं और पत्तियों को तोड़ने से पीले रंग का दूध निकलता है। वसन्त में श्वेत-पीले फूल मंजरी के रूप में खिलते हैं। तदनन्तर ग्रीष्म में फल आकर पक जाते है। ये नन्हें पतले और नील श्याम हो जाते हैं। ऊपर गूदा और अन्दर बारीक गुटली होती हे। खाने में स्वादिष्ट खट्टे-मीठे होते हैं। दारुहरिद्रा की काष्ठ हल्दी के समान पीली होती है।

---

१. दार्वी दारुहरिद्रा च पर्जन्या पर्जनीति च।
कटङ्कटेरी पीता च भवेत्सेव पचम्पचा॥
सैव कालीयकः प्रोक्तस्तथा कालेयकोऽपि च।
पीतद्रुश्च हरिद्रुश्च पीतदारु च पीतकम्॥
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग २००-२०२।

दारुहरिद्रा से रसाञ्जन बनाया जाता है। काष्ठ के छोटे-छोटे टुकड़े करके १६ गुना जल में पकाते हैं। चौथाई रह जाने पर छान लेते हैं। तदनन्तर इस क्वाथ में समान मात्रा में दूध मिला कर हलकी अग्नि पर पका कर माढा कर लेते हैं। यही रसाञ्जन हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत रूपकों में रसाञ्जन का अधिक वर्णन नहीं है। केवल राजशेखर ने इसका उल्लेख 'बालरामायण' में किया है। नया रसाञ्जन काले से रंग का होता है।[1]

उपयोग—

दारुहल्दी का चिकित्सा में प्रचुर उपयोग है। यह अल्प मात्रा में दीपन और ग्राही है। अधिक मात्रा में स्वेदल, ज्वरहर और मृदुविरेचक है। मलेरिया तथा अन्य ज्वरों में यह उपयोगी है। हृदय के लिये उत्तेजक है। फल शीतल, रोचक और मृदुविरेचक होती हैं।

रसाञ्जन नेत्रों के लिये हितकर है। गुलाबजल में घोल कर आंखों में डालने से दुःखती आंखों को आराम होता है। सूजी पलकों पर इसका लेप किया जाता है। श्वेत प्रदर और गर्भाशय की शिथिलता में रसाञ्जन के जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिये। खूनी बवासीर (अंश) में इसको मक्खन के साथ देना चाहिये। इसके जल से मस्सों को धोते है। पुराने व्रणों में इसको लगाने से लाभ होता है।

१४२. रुद्राक्ष

संस्कृत नाम—रुद्राक्ष।

हिन्दी नाम—रुद्राक्ष।

अंग्रेजी नाम—utrasum Beed Tree, Rosaay.

लैटिन नाम—Alaeocarpus ganitrus Roxb.

कुल—Alaeoearhaceae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

उत्तरामचरित

वनस्पति का परिचय—

रुद्राक्ष वृक्ष हिमालय में ३५०० फीट की ऊँचाई पर उत्तराखण्ड और नेपाल में मिलते है। भारतीय पूर्वी द्वीपसमूह मलाया, सुमात्रा आदि स्थानों से इसका भारत में आयात भी किया जाता है। अण्डमान-निकोबार में भी कुछ मात्रा में यह

---

१. बालरा० १०-५०।

है। हिमालल की तराई में भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं और बाहर से लाकर लगाये गये हैं।

रुद्राक्ष वृक्ष मध्यम आकार के २५–३० फीट ऊँचे होते है। पत्ते ३-६ इंच लम्बे। अण्डाकार और आगे से नोकदार होते हैं। शरद् में श्वेत पुष्प खिलते हैं। तदनन्तर फल आने हैं। ये आधा-एक इंच व्यास के गोल तथा पकने पर नील वर्ण होते हैं। ऊपर गूदे वाला छिलका और अन्दर कठोर गुठली होती है। गुठली पर ४-५ खड़ी नालियाँ तथा मुखाकृति सी बन होती है। इन गुठलियों को साफ करके पालिश करते हैं। रुद्राक्ष के रूप में इन्हीं का व्यवहार होता है। छोटा दाना अधिक मूल्यवान होता है। दानों पर बनी आकृतियों की कमी या अधिकता के कारण इसका मूल्य कम या अधिक हो जाता है।

कायात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में रुद्राक्ष का वर्णन अधिक नहीं है। केवल भवभूति ने एक स्थान पर वर्णन किया है कि ब्रह्मचारी अपने हाथ में रुद्राक्ष की माला रखते है।[1]

उपयोग—

रुद्राक्ष का धार्मिक महत्व बहुत प्राचीन है। शिव के साथ सम्बन्धित होने से पूजन द्रव्यों में यह गिना जाता है। धार्मिक जन इसके दानों को अपने पास रखते है। इसकी माला को अपने पास रखना स्वाध्य के लिये उपयोगी माना जाता है।

रुद्राक्ष चिकित्सोपयोगी भी है। फलों का गूदा खट्टा होता है। यह अपस्मार में उपयोगी है। रुद्राक्ष को धारण करने से हृदय और मस्तिष्क को बल मिलता है। उच्च उक्तदाब (high bloodpressure) में इसको लाभप्रद माना गया है।

१४३. लवङ्ग

संस्कृत नाम—लवङ्ग, देवकुसुम, श्री (श्रीवाचक सभी शब्द), श्रीप्रसूनक।[2]

हिन्दी नाम—लवंग, लौंग।

अंग्रेजी नाम—Cloves,

लैटिन नाम—*Zugeuia aromqticus* Kantze.

कुल—Myrtaceae.

वर्ग—कर्पूरादिवर्ग।

---

१. उत्तर० ४–२०।

२. लवङ्गं देवकुसुमं श्रीसंज्ञं श्रीप्रसूनकम्।

—भाव० कर्पूरादिवर्ग ४८।

नाटकों के उल्लेख—

नागानन्द, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक

वनस्पति का परिचय—

भारतवर्ष में लवंग वृक्ष कम ही है और दक्षिण भारत में है। अधिकतर लौंग का आयात किया जाता है। दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका, मेडागास्कर, जंजीबार, में ये अधिक होते है। मारीशस, लंका, सुमात्रा, जावा, बोर्नियों, मलाया आदि में अल्प संख्या में है।

लौंग के छोटे कद के (१८-२५ फीट) सुन्दर वृक्ष होते हैं। ये सदाहरित वृक्ष नीचे से फैले तथा ऊपर को पतले होते हैं। लकड़ी कठोर तथा धूसर होती है। लगभग ४ इंच लम्बी, २ इंच चौड़ी पत्तियाँ नीचे से फैली और ऊपर से पतली होती गई, नौकदार तथा चमकीले हरे रंग की होती है। इनको मसलने से विशिष्ट गन्ध आती है। लोंग पर सारे वर्ष पुष्प खिलते रहते है। छोटे, बैजनी, अति सुगन्धित पुष्प मंजरियों के रूप में होते हैं। कलिकाओं का लोंग के रूप में व्यवहार होता है। प्रारम्भ में ये श्वेत, तदनन्तर हरी और अन्त में लाल हो जाती है। लाल कलिकाओं को तोड़ कर सुखा लिया जाता है। सूख कर ये गहरे-भूरे रंग की हो जाती है।

लौंग की कलिका लगभग एक इंच की होती है। इसमें नीचे का भाग डन्ठल तथा ऊपर का भाग चतुष्कोण होता है। उत्तम लौंग से लगभग १५ प्रतिशत तेल प्राप्त होता है। अच्छी लोंग जल में डूब जाती है। परन्तु तेल निकाल लेने पर तैरने लगती है। तेल के कारण लोंग में विशिष्ट गन्ध तथा स्वाद होता है।

बाजार में उपलब्ध लौंग में प्राय: मिलावट की जाती है। इसका तेल निकाल लेते हैं। इससे यह जल में तैरती है और इसका स्वाद तथा वर्ण भी हलका हो जाता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने दक्षिण वनों में लौंग वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन किया है।[1] मलय के समुद्रतटवर्ती वनों में प्रचुर सख्या में लौंग के वृक्ष थे। इनके पल्लव समुद्र में गिर कर जल का सुगन्धित करते थे।[2]

उपयोग—

लवंग का प्रयोग भारत में अति प्राचीन हैं। पवित्र तथा देवपूजन के उपयोगी होने से इसका नाम देवकुसुम हुआ। सौभाग्य का सूचक होने से यह श्रीं कहलाया।

सुगन्धि तथा स्वाद के कारण लौंग का मसालों में व्यवहार किया जाता है। वह पाचक, रोचक, दीपक, रुचिकर, दुर्गन्धिनाशक, वृष्य और कृमिघ्न है। उष्ण

१. मालवी० १०-३। हनु० पृ० ६८-७०।

२. नागा० ४-४।

होने से कफ, श्वास और कास में लाभदायक है । मूत्रल तथा मूत्रमार्ग का शोधक है। लौंग का फान्ट विषूचिका की प्यास को शान्त करता है। यह वमन को रोकता है।

लौंग का तेल भी लौंग के समान ही उपयोगी है। औषधियों तथा अन्य द्रव्यों को इससे सुगन्धित करते हैं। स्थानीय रूप से लगाने से यह वेदनाओं को शान्त करता है। यह दन्तशूल में विशेष उपयोगी है।

१४४. लवली

संस्कृत नाम—सुगन्धमूला, लवली, पाण्डु, कोमलवल्कला।[1]
हिन्दी नाम—लवली, हरफारेवड़ी, हरफरेरी।
अंग्रेजी नाम—Indian Gooseberry.
लैटिन नाम—Cicca acida Linn
कुल—Euphorbiaceae:
वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, हनूमन्नाटक, विद्धसालमञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

यह वनस्पति भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में होती है। इसको वाटिकाओं में भी लगाया जाता है।

लवली के मध्यम आकार के लगभग २० फीट तक के ऊँचे वृक्ष होते हैं। सुन्दर सुहावने इन वृक्षों के पत्ते ६-१० इंच लम्बे, २-२ चौड़े आगे से नोकीले बहुत सुन्दर लगते हैं। वसन्त में बारीक, गुलाबी पुष्प खिलते हैं। तदनन्तर ८-१० नालियों से युक्त गोल फल आते है। ये स्वाद में खट्टे होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत काव्यों में लवली का सुन्दर आकर्षक चित्रण किया गया है। अनेक कवियों ने इसका लता के रूप में वर्णन किया है, जबकि यह एक वृक्ष है। सम्भवतः वृक्ष के काण्ड की कोमलता तथा पत्तों के सौन्दर्य के कारण कवियों ने इसमें लता के रूप की कल्पना कर ली हो। भवभूति का कथन है कि लवली लतायें लवंग वृक्षों के आश्रय के बढ़ती है और उनसे लिपटी रहती है। लवंग वृक्ष और लवली लता का संयोग अति मनोहारी होता है।[2]

---

१. सुगन्धमूला लवली पाण्डुः कोमलवल्कला।
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ७६।

२. मालती० १०-३।

अन्य कवियों ने भी लवली में लता भाव की कल्पना की है। यह विशेष प्रकार की सुगन्धित वनस्पति है।[१] दक्षिण वनों में प्रचुर होती है।[२] लवली पर वसन्त में पुष्प खिलते है। इनका वर्ण श्वेत होता है।[३]

परन्तु कवियों के ये वर्णन कुछ भ्रान्तिपूर्ण ही है। एक तो लवली को लता नहीं कहा जा सकता और दूसरे इसके पुष्प भी गुलाबी होते है।

संस्कृत कवियों को लवली के कोमल किसलय अधिक सुन्दर, मनोरम और आकर्षक लगे थे। ये पाण्डु वर्ण होते हैं और सुन्दर युवतियों के उपमान हो सकते है।[४] लवली किसलयों के नये अकुंर अधिक गौर वर्ण और कोमल होते हैं। भवभूति ने इनको सीता के हाथों का उपमान बनाया है।[५]

लवली किसलयों का आभूषण के रूप में प्रयोग भी वर्णित है। वनों में युवतियाँ लवली-पल्लवों को कानों में आभूषण के रूप में पहनती थीं। दण्डकारण्य में सीता के कर्णाभूषण लवली पल्लवों को उसका पालतू हाथी सूंड से खींचा करता था।[६]

उपयोग—

लवली के किसलय और पुष्पों का सौन्दर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वाटिकाओं के ये लोकप्रिय वृक्ष रहे हैं। लवली फलों का खाद्य के रूप में भी प्रयोग रहा। खट्टे फलों को कच्चा या पका कर खाया जा सकता है। इसका अचार और मुरब्बा भी बनता है। कोमल पत्ते शाक के लिये उपयोगी हैं।

लवली का चिकित्सा में भी उपयोग है। लवली फल अम्ल तथा संग्राही हैं। मूल और बीज विचेरक होते हैं। पत्ते सर्पविष में उपयोगी हैं। लवली के मूल का स्वरस विषैला होता है।

१४५. लशुन

सस्कृत नाम—लशुन, रसोन, उग्रगन्ध, महौषध, अरिष्ट, म्लेच्छकन्द, यवनेस्ट रसोनक।[७]

---

१. मालती० १०-३।
२. हनू० पृ० ६८-७०। ३. विद्ध० १-३१।
४. लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्। —विक्रमो० ५-८।
५. उत्तर० ३-४०। ६. उत्तर० ३-१५।
७. लशुनस्तु रसोनः स्यादुग्रगन्धो महोषधम्।
अरिष्टोम्लेच्छकन्दश्च यवनेष्टों रसोनकः।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग २१७।

हिन्दी नाम—लहसन, लशुन
अंग्रेजी नाम—Garlic.
लैटिन नाम—Allium Sativum Linn.
कुल—Liliaceae.
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव

वनस्पति का परिचय—

लशुन भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। पश्चिमोत्तर प्रदेश, गढवाल, कुमायूँ, पंजाब और काश्मीर में अधिक होता है।

लशुन के क्षुप वहुवर्षायु होते हैं। पौधा लगभग एक फीट ऊँचा, पत्ते लम्बे-चपटे और एक इंच से कम चौड़े तथा आगे को नोकीले होते है। लशुन की जड़ कन्द के रूप में होती है तथा लशुन के रूप में इसी का व्यवहार किया जाता है। एक कन्द में ८-१० जावे होते हैं। इनमें तीव्र गन्ध होती है।

लशुन के लिये उपजाऊ जमीन आवश्यक है। कन्दों के जावों को मैदानों में सितम्बर-अक्टूबर में और पर्वतों में फरवरी-मार्च में बोते हैं। लगभग चार महीनों में फसल तैयार हो जाती है। वर्ष में दो फसलें ली जा सकती हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

लशुन का वर्णन नाटकों में अधिक नहीं है। भवभूति ने इसकी उग्र गन्ध का वर्णन किया है। नीम के तेल में पकाने से तो इसमें अति अरुचिकर गन्ध आती है। यह मुर्दे के मांस के जलने के समान होती है।[1]

उपयोग—

लशुन को प्राचीन काल से ही स्वास्थ्य के लिये अति हितकर माना गया है। अतः इसका नाम महौषध (महच्च तद् औषधम्) और अरिष्ट (न विद्यते रिष्टम् अशुभम् यस्मात्) हुआ। परन्तु उग्र गन्ध के कारण यह सामान्य भोजन में अधिक प्रचलित नहीं हो सका। पाप का हेतु माना जाने के कारण इसको रसोन और रसोनक कहा गया (रसे आस्वादे ऊन्यते पातकहेतुत्वात्)। यवन जातियाँ इसका प्रचुर व्यवहार करती थीं, अतः इसको म्लेच्छकन्द और यवनेष्ट नाम दिये गये। परन्तु वर्तमान समय में भोजन में मसाले के रूप में इसका व्यवहार निरन्तर बढ़ रहा है, यद्यपि अब भी अनेक लोग इसका प्रयोग नहीं करते। लशुन में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, कैल्सियम, फास्फोरस, लोह, विटामिन आदि सभी पोषक तत्व होते हैं।

---

१. मालती० पृ० २०३।

लशुन का चिकित्सा में प्रयोग होता है। यह फेफड़ों के क्षय, कास, श्वास, स्वरयन्त्र के रोग, पेट का फोड़ा, मन्दाग्नि, आध्मान, वाल आदि रोगों में हितकर है। लशुन के आसवन से प्राप्त तेल कृमिनाशक, पाचक और उद्दीपक है। अनार्तव तथा कष्टार्तव में यह हितकर है। डिप्थीरिया में लहसन की कली को चूसना चाहिये। बाह्य प्रयोग में लशुन का स्वरस कर्णशूल को आराम करता है। स्वरस में में ३–४ भाग जल मिला कर दुर्गन्धित व्रणों का प्रक्षालन करने से वे शीघ्र भर जाते हैं।

१४६. लाङ्गली

संस्कृत नाम—कलिहारी, हलिनी, ताङ्गली, शक्रपुष्पी, विशल्या, अग्निशिक्षा, अनन्ता, वह्निवक्त्रा, गर्भनुत्॥[1]

हिन्दी नाम—कलिहारी, लांगली

अंग्रेजी नाम—Glory, lily Tigers claws

लैटिन नाम—Gloriasa Superba Linn.

कुल—Liliaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग, उपविष

नाटकों के उल्लख—

बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

कलिहारी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में वनों में स्वतः उग आती है। पर्वतों में यह चार हजार फीट तक प्राप्त होती है। सुन्दर पुष्पों के कारण इसको वाटिकाओं में भी लगाया जाता है।

कलिहारी एकवर्षायु आरोही लता है। नये पौधे वर्षा में निकलते हैं और शरद् के अन्त तक सूख जाते हैं। परन्तु कन्द बना रहता है, जो अगले वर्ष पुनः अंकुरित होता है। पत्तियां लम्बी ३–४ के गुच्छों में होती हैं तथा अग्र भाग पर स्प्रिंग के समान मुड़ी होती हैं। इस पर वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं। ये पहले पीले तथा बाद में गहरे लाल हो जाते हैं। कई बार मध्य में अन्य रंग भी हो सकते हैं। ६ केसर और ८ पंखुड़ियों से युक्त ये पुष्प सुन्दर २–३ इंच लम्बे होते हैं। वर्षा के अन्त में $1\frac{1}{2}$—२ इंच लम्बे फल आते हैं। इनमें अनेक गोल बीज भरे रहते हैं।

---

१. कलिहारी तु हलिनी लाङ्गली शक्रपुष्प्यति।
विशल्याऽग्निशिखाऽनन्ता वह्निवक्त्रा च गर्भनुत्।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग ७१।

कलिहारी का कन्द उपयोग में आता है। शरद् में लता के सूख जाने पर इनको एकत्रित करते हैं। यह कन्द आधा इच मोटा और ७–८ इच लम्बा, मध्य में अधिक मोटा और किनारों पर पतला होता है। यह बाहर से लाल और अन्दर से श्वेत होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में लाङ्गली का अधिक वर्णन नहीं है। राजशेखर ने इसका वर्णन किया है कि लांगली पर वर्षा में पुष्प आते हैं। ये चमकदार पिंगल वर्ण होते हैं।[1]

उपयोग—

लांगली की गणना प्राचीन चिकित्साविदों ने उपविषों में की है और यह कन्दविष है। यह उष्ण और कटु-तिक्त होता है। अल्प मात्रा में देने पर यह दीपन और ज्वरनाशन है। अधिक मात्रा में यह कन्द गर्भ को गिरा देता है, अतः इसको गर्भनुत् कहा गया है। सुखप्रसव के लिये जरायु गिराने के लिये लांगली के कन्द का प्रलेप करते हैं और इसको पेड़ पर बांधते हैं।

१४७. लिकुच (लकुच)

संस्कृत नाम—लकुच, क्षुद्रपनस, लिकुच, डहु।[2]
हिन्दी नाम—बड़हल, बरहर
अंग्रेजी नाम—Monkey Jack.
लैटिन नाम—Artacarpus laboocha Roxb.
कुल— Moraceae.
वर्ग—आम्रादिफल वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

महावीरचरित

वनस्पति का परिचय—

लिकुच वृक्ष मध्यम आकार का २०–३० फीट ऊँचा होता है। पत्ते ५–१२ इंच लम्बे, २–६ इंच अण्डाकृति होते हैं। ये रुखे से होते हैं। वर्षा ऋतु और वसन्त में यह एकलिंगी पीले गोल पुष्प आते हैं। फल भी दो बार आते हैं। किन्तु वसन्त में यह अधिक फलता है। फल छोटा होता है। इसमें कटहल के समान रेशे, गूदा तथा बीज होते हैं। अतः इसको क्षुद्र पनस कहते हैं। यह कच्चा होने पर हरा तथा

१. बालरा० पृ० २५६।
२. लकुचः क्षुद्रपनसो लिकुचो डहुरित्यपि। —भाव० आम्रादिफलवर्ग ३०

पकने पर पीला होता है। पत्तों, पुष्पों और फलों के तोड़ने पर श्वेत दूध निकलता है।

काव्यात्मक वर्णन—

लिकुच का वर्णन नाटकों में कम ही है। भवभूति ने उल्लेख किया है कि वनों में लिकुच के ऊँचे वृक्ष होते हैं। इन पर वानरों को उछलते-कूदते देखा जा सकता है।[१]

उपयोग—

लिकुच ग्राम्य और वन्य वृक्ष है तथा इसका फल आहार के उपयोग में आता है। लिकुच का दूध व्रणविरोपण के लिये उपयोगी है। यह सद्यःक्षत की अमोघ औषध है। कए या दो बीजों के चूर्ण को दूध के साथ देने से विरेचन होता है। व्रणों पर छाल का चूर्ण डालने से मवाद सूख जाता है। इसके क्वाथ से व्रणों तथा फुंसियों को धोना चाहिये।

१४८. लोध्र

संस्कृत नाम—

शाबर लोध्र—लोध्र, तिल्व, तिरीट, शाबर, गालव।[२]

पट्टिका लोध्र—पट्टिकालोध्र, क्रमुक, स्थूलवल्कल, जीर्णपत्र, बृहत्पत्र, पट्टी, लाक्षाप्रसाधन।[३]

हिन्दी नाम—लोध, पठानी लोध

अंग्रेजी नाम—Lodh, Symhlocas Bark.

लैटिन नाम— **कुल**—Symhlocaceae,

१. लोध्र—Symhlocos racemosa Roxb.

२. पठानी लोध्र—Symhlocos crataegoides Buch, Ham.

नाटकों के उल्लेख—

वर्ग—हरीतक्यादिवर्ग

प्रतिमानाटक, मालतीमाधव, वेणीसंहार, हनूमन्नाटक

---

१. महावीर० ५-३२।

२. लोध्रस्तिल्वस्तिरीटश्च शाबरो गालवस्तथा।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग २१५।

३. द्वितीयः पट्टिकालोध्रः क्रमुकः स्थूलवल्कलः।
जीर्णपत्रो बृहत्पत्रः पट्टीलाक्षा प्रसाधनः।
—भाव० हरीतक्यादिव २१६।

वनस्पति का परिचय—

लोध्र वृक्ष हिमालय की तराइयों में कुमायूं से आसाम तक मिलता है। विन्ध्य वनों में, बिहार, छोटा नागपुर तथा दक्षिण के मलाबार वनों में भी यह होता है। पठानी लोध्र (पट्टिकालोध्र) खसिया और मरतबान पहाड़ों पर मिलता है।

लोध्र वृक्ष छोटे आकार के १२–२५ फीट ऊँचे होते हैं। तना प्रायः आधे से एक फीट व्यास का खाकी-खुरदरी छाल का होता है। पत्तियाँ चार-छः इंच लम्बी एक-दो इंच चौड़ी अण्डाकार आगे से नोकीली होती है। कोमल पत्तियाँ ऊपर के भाग पर चिकनी तथा पृष्ठ भाग पर रोमश होती हैं। शरद् में पीले-लाल-श्वेत पुष्प मंजरियों के रूप में आते हैं। इनके अन्दर श्वेत रंग का पराग भरा रहता है। फल लगभग आधा इंच के गोल होते हैं। इनमें बाहर गूदा और अन्दर कठोर गुठली होती है। गुठली में १–३ बीज रहते हैं।

पठानी लोध्र का वृक्ष कुछ अधिक ऊँचा होता है। इसकी छाल हलके श्वेत वर्ण की कार्कयुक्त होती है। पुष्प श्वेत और सुगन्धित होते है।

काव्यात्मक वर्णन—

लोध्र के पुष्पों और पराग के सौन्दर्य ने कवियों को बहुत अधिक आकृष्ट किया था। लोध्र पुष्पों से वनों की शोभा दर्शनीय और मनोहर हो जाती है।[१] 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में लोध्र वृक्षों की उपस्थिति का वर्णन है।[२]

लोध्र पुष्प शरद् में विकसित होते हैं। प्रातः काल इन पुष्पों का सौन्दर्य अति चित्ताकर्षक और अवर्णनीय होता है।[३] ये पुष्प अति कान्तिमान् रक्ताभ-श्वेत होते हैं। सुन्दर युवतियों के मुख की कान्ति को लोध्र पुष्प के समान कहा जा सकता है।[४] लोध्र पुष्पों का पराग गौर वर्णका होता है।[५] कालिदास ने एक स्थल पर लोध्र पुष्प को रक्त वर्ण कहा है। वसन्त में मदिरा के मद से विह्वल तरुणियों के नयन लोध्र पुष्पों के समान ताम्र वर्ण हो जाते हैं।[६]

प्राचीन समय में लोध्र पुष्पों का पराग प्रसाधन के उपयोग में आता था। युवतियाँ इस पराग को गालों पर लगा कर मुख को गौरा करती थीं।[७] विवाह के समय पार्वती के कपोल पर लोध्र का पराग लगाया गया था।[८]

---

१. आविगन्धशिलीन्ध्रलोध्रकुसुमस्मेरावनानां ततिः। —मालती० ९-१६।

२. हनू० पृ० ६८–७०। ३. वेणी० पृ० ५२।

४. मालती० ९-२७।

५. लोध्ररागगौरः। —प्रतिमा० ६-४।

६. ऋतुसंहार ६-३३।

७. नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः। —उत्तरमेघ–२।

८. कुमारसम्भव ७–१७।

उपयोग—

लोध्र का पुष्प और पराग सौन्दर्य के कारण लोकप्रिय था। पराग को प्रसाधन के कार्य में लिया जाता था। युवतियाँ इसको गालों पर लगा कर मुख को गौरा करती थीं।

लोध्र का उपयोग चिकित्सा में भी है। छाल का अन्दर का भाग कुछ भूरा और दानेदार होता है। पकाने से लाल रंग आता है। यह शीत और कषाय-कटु है। स्तम्भक, रक्तशोधक और गर्भाशय की शोथ को यह दूर करता है। गर्भाशय के रक्तस्राव और प्रदर में इसका अन्तः और बाह्य प्रयोग किया जाता है। बाह्य प्रयोग करने से यह क्वाथ संकोचक, रक्तस्रावावरोधक और व्रणरोपण है। छाल का लेप करने से फोड़े शीघ्र पकते हैं।

१४६. वच

संस्कृत नाम—

वचा—वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी, शतपर्विका, क्षुद्रपत्री, मंगल्या, जटिला, उग्रा, लोमशा।[1]

श्वेत वचा—पारसीकवचा, शुक्लवचा, हैमवती।[2]

हिन्दी नाम—वचा, घोड़बच, खुरासानी वच

अंग्रेजी नाम—Sweet Flag.

लैटिन नाम—१. Acorus calamus Linn. कुल—Araceae.

२. Paris holyhbylla Smith. कुल—Liliaceae.

नाटकों के उल्लेख—

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

वचा के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—घोड़वच (वच) और श्वेत वच (खुरासानी वच)। इनके अतिरिक्त 'भावप्रकाशनिघण्टु' में तीन भेद और दिये गये

---

१ वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका।
क्षुद्रपत्री च मङ्गल्या जटिलोग्रा च लोमशा।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १०२।

२. पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १०४।

गये हैं—महाभरी वचा (कुलिजन) Alhinia galanga Willd. २. अन्य महाभरी-वचा (नरकचूर) Zinziber Zerumbt Rose ex Smith और ३. द्वीपान्तरवचा (चोपचीनी) Smilex China Linn.। परन्तु वचा कहने पर घोड़वच और श्वेत वच का ही सामान्यतः ग्रहण किया जाता है।

घोड़वच (वचा) हिमालय पर ६००० फीट तक ऊँचाई पर जलाशयों और स्रोतों के किनारे जलीय भूमियों में प्रचुर मिलती है। इसकी पत्तियाँ जड़ से ही ऊपर को २–४ फीट लम्बी और एक इंच चौड़ी चली जाती हैं। ये धारदार होती हैं और इनको कस कर पकड़ने से हाथ कट सकते हैं। वसन्त में इस पर श्वेत, २–४ इंच लम्बे बेलनाकार पुष्प मंजररियों में लगते हैं। तदनन्तर बेरी के समान छोटे फल आते हैं। इनमें बीज भरे रहते हैं। वचा की मूल अदरक के समान गांठदार होती है। और भूमि में फैल जाती है। इसमें १½—३ प्रतिशत वाष्पशील तेल होता है। वचा की जड़ में तीव्र गन्ध होती है तथा चिकित्सा में इसी का व्यवहार होता है। बाजार में इसके भूरे रंग के सुगन्धित टुकड़े मिलते हैं।

श्वेत वचा (पारसीक वचा) हिमालय के क्षेत्रों में छायादार स्थानों में ६००० फीट की ऊँचाई तक मिलती है। भूमि में इसका कन्द होता है। इससे १२-१८ इंच लम्बा शाखारहित काण्ड निकलता है। यहां से ४–६ इंच लम्बी भालाकार नोकीली पत्तियों का गुच्छा, जिसमें ३-९ पत्तियाँ होती हैं, छत्र के समान निकलता है। इसके मध्य में से लम्बा दण्ड निकलता है। इस पर अनेक चक्रों में लगे पुष्प विकसित होते हैं। तदनन्तर सुराही के समान एक इंच व्यास के फल आते हैं। पकने पर ये पीले-भूरे होते हैं और इनमें लाल रंग के अनेक बीज भरे रहते हैं। श्वेत वचा का भी कन्द चिकित्सोपयोगी है। यह तेज गन्ध वाला होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

वचा का अधिक वर्णन संस्कृत नाटकों में नहीं है। शूद्रक ने इसका उल्लेख स्वर को मधुर करने के सम्बन्ध में किया है। हींग, जीरा, नागरमोथा, वचा और सोंठ को गुड़ के साथ लेने से स्वर मधुर हो जाता है।[1]

उपयोग—

वचा को चिकित्सोपयोगी कहा गया है। यह उष्ण और कटुतिक्त है। बाह्य रूप से लगाने पर वेदना और सूजन को दूर करती है। अन्तः प्रयोग करने पर कण्ठ को मधुर करती है और स्मृतिवर्धक है। सामान्यतः बाह्य प्रयोग के लिये घोड़वच का और अन्तः-प्रयोग के लिये खरासानी वच का प्रयोग किया जाता है।

---

१. मृच्छ० ८–१३।

१५०. वञ्जुल

संस्कृत नाम—वेतस, नम्रक, वानीर, वञ्जुल, अभ्रपुष्प, विदुल, रथ, शीत ।[१]

हिन्दी नाम--वेतस, गन्धपुष्प, वेदमुश्क।

अंग्रेजी नाम--Willow, Sallow.

लैटिन नाम--Salix eaprea Linn. **कुल**--Saliaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

उत्तररामचरित ।

वनस्पति का परिचय—

वञ्जुल ईरान, अफगानिस्तान, सीमाप्रान्त, काश्मीर और पंजाब में प्रचुर होता है। भवभूति के अनुसार दण्डकारण्य में यह प्रभूत था। वञ्जुल नदियों और जलाशयों के तटों पर जलीय भूमियों में होता है।

वञ्जुल और वानीर को 'भावप्रकाशनिघण्टु' में पर्यायवाची कहा गया है। यद्यपि दोनों में बहुत समानता है, तथापि ये भिन्न वनस्पति हैं। वञ्जुल वेदमुश्क हैं और वानीर बैंत है।

वञ्जुल का क्षुप १५–२० फीट तक ऊंचा और जाता है। काण्ड पतला गांठ-दार होता है। पत्तें बांस के समान होते हैं। इस पर वर्षा ऋतु में पीले सुगन्धित पुष्प आते हैं। नदियों के किनारे खड़ी इस वनस्पति के पुष्प धारा में गिर कर बहते बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं।

अशोक और तिनिश को भी वञ्जुल कहते हैं। परन्तु संस्कृत नाटकों में वञ्जुल शब्द से इनका ग्रहण नहीं है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने वञ्जुल के सौन्दर्य की प्रशंसा की है। भवभूति ने वर्णन किया है कि दण्डकारण्य में नदियों के तट सुन्दुर वञ्जुल लताओं से भरे हुये थे।[२]

उपयोग—

सुन्दर वञ्जुल वनस्पतियां सुगंन्धित पीत पुष्पों से लदी हुई हृदय में आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करती हैं। वञ्जुल (वेदमुश्क) का चिकित्सा में उपयोग है। यह

---

१. वेतसो नम्रकः प्रोक्तो वानीरो वञ्जुलस्तथा।
अभ्रपुष्पश्च विदुलो रथः शीतश्च कीर्तितः ॥

—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १३५ ।

२. आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि······सरित्तटानि ।

—उत्तर० २-२३ ।

ग्राही, शीतल, दाहशामक, मूत्रल, हृद्य, उत्तेजक और वाजीकर है। थूक में रक्त आने पर इसकी राख खिलाते हैं। वञ्जुल के पुष्पों का अर्क अर्कबेदमुश्क नाम से मिलता है। इसको ज्वर तथा हृदय की निर्बलता में देते हैं। आँखों के दुःखने पर और सिर की वेदना में अर्क से भीगी पट्टी रखनी चाहिये।

१५१. वट

संस्कृत नाम—वट, रक्तफल, शृंगी, न्यग्रोध, स्कन्धज, ध्रुव, क्षीरी, वैश्रवण, वास, बहुपाद, वनस्पति।[१]

हिन्दी नाम—बढ, बरगद।

अंग्रेजी नाम—Banyan Tree.

लैटिन नाम—Ficus Bengalensis Linn. **कुल**—Moraceae.

वर्ग—वटादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

बालचरितम्, वेणीसंहार, उत्तररामचरित, मालतीमाधव, रामाभ्युदय, अनर्घराघव, सुभद्राधनञ्जय, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी।

वनस्पति का परिचय—

वट वृक्ष भारत में प्रायः सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं। पर्वतीय भूमियों में और मैदानों में यह समान रूप से मिलता है। ग्रामों के बाहर और वनों में यह देखा जा सकता है। मार्गों के किनारे इसको छाया के लिये लगाते हैं। वट के बढ़ने के लिये वह भूमि चाहिये, जहाँ जल प्रचुर हो।

वट वृक्ष पुराने होकर बहुत विशाल हो जाते हैं। पुराने वृक्षों से वायव्य जड़ें, जिनको वट की दाढी या जटा कहा जाता है, नीचे झूलने लगती है। यह बढ़ती हुई भूमि तक पहुँच कर जड़ के रूप में वृक्ष को पोषण पहुँचाती है। वट के पत्ते ४-६ इंच लम्बे, २-५ इंच चौड़े, अण्डाकार, मोटे और अग्र भाग में नोकीले होते हैं। नये नये किसलय रक्तवर्ण तथा पुराने हरे होते हैं। बसन्त में इस पर छोटे पुष्प गुच्छों में आते हैं तथा वसन्त के अन्त तक फल आ जाते हैं। कच्चे फल हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके अन्दर दानेदार रेशे होते हैं। वट की शाखा को रोप देने पर नया वृक्ष लग जाता है। वट के पत्तों, फलों और कोमल शाखाओं को तोड़ने पर श्वेत रंग का द्रव पदार्थ, जो वटदुग्ध कहलाता है, वट की गणना पंचक्षीरी वृक्षों में की गई है।

---

१. वटो रक्तफलः शृगी न्यग्रोधः स्कन्धजो ध्रुवः।
क्षीरी वैश्रवणो वासो बहुपादो वनस्पति॥
—भाव० वटादिवर्ग १।

काव्यात्मक वर्णन--

वट के प्राकृतिक सौन्दर्य ने कवियों को बहुत अधिक आकृष्ट किया था। वसन्त में लाल और हरे पत्तों तथा लाल फलों से लदा घनी छाया वाला यह वृक्ष अति सुहावना लगता हैं। पथिक जन इसकी छाया में विश्राम करके सुख पाते हैं।[१] वनों, तपोवनों और ग्रामों में आने-जाने वाले व्यक्तियों को वट वृक्ष की छाया में आश्रय लेते हुये दिखाया गया है। 'रामाभ्युदय' नाटक में राम, सीता और लक्ष्मण न्यग्रोध की छाया में बैठकर विश्राम करते हैं।[२] वनों में तो ये वृक्ष प्रचुर होते ही थे[३], तपोवनों में भी इनका वर्णन है। तपोवनों में आने-जाने वाले जन इसकी छाया में विश्राम करके ही[४] आगे बढ़ कर आश्रम प्रवेश करते थे। ग्रामों के बाहर भी वट वृक्ष अवश्य होते थे जहां पथिक विश्राम करते थे। मथुरा से नन्द ग्राम आने पर वसुदेव ने न्यग्रोघ की छाया में बैठकर विश्राम किया था।[५] यह वृक्ष अति दृढ होता है। हाथी भी इसका आश्रय ले सकते हैं।[६]

प्राचीन साहित्य में वट को अति पवित्र समझा गया है और इसमें देवत्व की कल्पना की गई है। ईप्सित मनोकामनाओं को पूरा करने के लिये वट देवता से प्रार्थना की जाती है। भास ने न्यग्रोध में देवत्व का उल्लेख किया है।[७] साहित्य मे प्रयाग का वट वृक्ष बहुत प्रसिद्ध है। इसका नाम श्याम वट है और यह मनोकामनाओं को पूरा करता है। राम, सीता और लक्ष्मण अयोध्या से निर्वासित होकर वनों की ओर जाते हुये गंगा-यमुना के संगम पर पहुँचे थे। यहाँ सीता ने श्याम वट से कुशलता की याचना की थी।[८] भवभूति ने चित्रकूट जाने वाले मार्ग पर कालिन्दी के तट पर इस वृक्ष की उपस्थिति का वर्णन किया है।[९] राजशेखर ने वर्णन किया है कि वट वृक्ष के नीचे गोरी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की जाती थी।[१०] मन्दिरों के प्रागड़ों में वट वृक्ष अवश्य लगाये जाते थे।

---

१. वेणी० पृ० ११८॥
२. रामाभ्युदय पृ० १३। ३. हनू पृ० ६८–७०।
४. अनर्घ० पृ० ७, सुभद्रा० पृ० ५।
५. न्यग्रोधपादपस्याधस्तात् प्रभातवेलां रजन्याः प्रतिपालयामि।
—बालच० पृ० १४।
६. मालती० पृ० ४:१।
७. भो भो न्यग्रोधदेवताः। —बालचरित पृ० १४।
८. अयं पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
—रघुवंश १३-५३।
९. चित्रकूटयायिन वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम।
—उत्तर पृ० ६४।
१०. कर्पूर० पृ० २२९।

वट में देवत्व की कल्पना के कारण इसके नाम से स्त्रियां व्रत भी रखती थीं। इस व्रत को वटसावित्रीव्रत कहा गया था। दिन भर महिलायें निराहार रह कर सायं समय में वट का पूजन करके इसकी परिक्रमा करती थीं और देवता से प्रार्थना करती थीं कि वह उनकी मनोकामना पूरी करे। कुमारी कन्यायें मन के अनुकूल वर की प्राप्ति की प्रार्थना वट से करती थीं।[१] कहा जाता है कि सावित्री ने वट के नीचे ही सत्यवान् के प्राणों को यम से वापिस पाया था।

उपयोग—

वट मानव के लिये अनेक दृष्टि से उपयोगी है। भारतीय जन देवता के रूप में इसका पूजन करते हैं तथा मनोकामनाओं को पूरा करने की प्रार्थना करते हैं। वट को भगवान् शिव का प्रतिनिधि माना जाता है। इस रूप में शिव के भक्त वट का पूजन करते हैं।

वट की छाया शीतल, सुखद और घनी होती है। धूप और वर्षा से बचाने वाला होने से यह न्यग्रोध कहलाता है (न्यक् रुणद्धि वर्षादीन् इति न्यग्रोधः)। न्यग्रोध पर सुन्दर लाल रंग के फल आते हैं। ये फल वन्य प्राणियों—वानरों, गिलहरियों, पक्षियों आदि के उत्तम आहार हैं। वट के पत्ते बकरियों, भैंसों, ऊंटों और हाथियों के प्रिय भोजन हैं।

न्यग्रोध का चिकित्सा में उपयोग है। पत्र, छाल, जटा, नव कोंपल और दूध सभी उपयोग में आते हैं। वट ग्राही तथा स्तम्भक है। बहुमूत्र और अतिसार में इसको दिया जा सकता है। सभी प्रकार के प्रदर में यह लाभदायक है। बाह्य प्रयोग करने पर यह शोथ और वेदना को दूर करता है और रक्तस्राव को रोकता है। वर्षा में होने वाले अंगुलियों के मध्य के व्रणों पर इसका दूध लगाना चाहिये। दांतों में लगने से उनकी वेदना दूर होती है। वटजटा को सूजाक में तथा वमन को रोकने के लिये दिया जाता है।

१५२. वंश

संस्कृत नाम— वंश, त्वक्सार, कर्मार, त्वचिसार, तृणध्वज, शतपर्वा, यवफल, वेणु, मस्कर, तेजन।[२]

हिन्दी नाम—बांस।

अंग्रेजी नाम—Bamboo.

लैटिन नाम—Bambusa arundinacea Linn. **कुल**—Poaceae.
Bambusa vulgaris.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

---

१. कर्पूर० पृ० २१८।

२. वंशस्त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजः।
शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनः॥ — —भाव० गुडूच्यादि वर्ग १५३।

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिमानाटक, वीणावासवदत्तम्, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण ।

वनस्पति का परिचय—

बांस प्राय: सारे भारतवर्ष में होता है । हिमालय की घाटियों में यह ५००० फीट तक की ऊंचाइयों तक पाया जाता है । बांस की अनेक प्रजातियां हैं । वह मोटा, पतला, छोटा, ऊंचा अनेक प्रकार का मिलता है ।

बांस तृण कुल की वनस्पति है । परन्तु यह काफी ऊंचा हो जाता है । बड़े बांस ८०–९० फीट तक ऊंचे और ६–८ इंच तक मोटे हो जाते हैं । बांस के काण्ड पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांठें होती हैं । अत: यह शतपर्वा कहलाता है । इन गांठों के आश्रय से यह ऊपर को बढता जाता है । बांस का काण्ड अन्दर से खोखला होता है । बाह्य आवरण पर अति मजबूत छिलका रहता है । अत: यह त्वक्सार या त्वचिसार है । बांस यद्यपि सीधा ऊंचा जाता है, परन्तु अधिक बड़ा होने पर अपने ही भार से झुक जाता है । बांस की पत्तियां ७–८ इंच लम्बी एक इंच चौड़ी मालाकार होती हैं । पुराना होने पर इसमें शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं तदनन्तर बालियों के रूप में फल आते हैं । इनमें यव के समान दाने होते हैं । इनको वंशयव कहते हैं ।

पुराने बांस के, जो मादा जाति के हों, खोखलों में वंशलोचन पाया जाता है । बांस में से एक रस स्रवित होकर इनमें संचित होता जाता है, जो सूख कर वंशलोचन कहलाता है । प्राकृतिक वंशलोचन काला मटमैला होता है, परन्तु शोधन करने पर यह श्वेत नीली आभा का हो जाता हैं ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने वंश के प्रति बहुत अनुराग प्रकट किया है । प्राचीन समय में वनों में बहुतायत से बांस होते थे । शक्तिभद्र ने उल्लेख किया है कि वत्स और अवन्ति देशों के मध्य बांसों का एक विशाल वन वेणुवन था ।[१] लंका में भी बांस के विशाल वन रहे होंगे । राजशेखर के वर्णनों के अनुसार राम-रावण युद्ध में वानरों ने बांसों को आयुध बना कर राक्षसों को मारा था ।[२]

कवियों ने वंश का वर्णन इसकी मधुर ध्वनि के कारण बहुत किया हैं । इससे बांसुरी बनती हैं, जो अपनी सुमधुर ध्वनि के कारण अति आदरणीय है । इस ध्वनि के कारण ही इस वनस्पति को वंश (वन्यते शब्दायते इति वंश:) और वेणु (वयन्ति शोभन्ते स्वनेन इति वेणु:) कहा गया था । कृष्ण की वंशध्वनि भारतीय संस्कृति में बहुत प्रसिद्ध है, जिस पर केवल गोपियां ही नहीं, सारा विश्व विमुग्ध हुआ था । वनों में बांसों में छिद्र हो जाते हैं । वायु बहने पर इनमें से मधुर ध्वनियां उत्पन्न

१. वीणा० पृ० १३ । २. बालरा० पृ० ५२८ ।

होती हैं।[१] नन्दिनी को जब दिलीप वन में चरा रहे थे, तो वन ने उनका स्वागत संगीत की ध्वनि द्वारा किया था। उस समय वायु से भरे बांसों ने वाद्य बजाया था।[२] वनों में किन्नरों के गान के समय सछिद्र बांस वायु से भर तान देने का कार्य करते थे।[३]

कवियों ने बांस के खोखलों में बनने वाले वंशलोचन का भी उल्लेख किया है। राजशेखर का कथन है कि श्वेत वंशलोचन मोतियों के समान आभा वाला होता है।[४]

नाटकों में बांस के उपयोग भी वर्णित हैं। इससे बांसुरी का कार्य निष्पन्न होता था और आयुध बनते थे। इसके साथ ही यज्ञ की समिधाओं के रूप में वांस का प्रयोग विहित था। भास के अनुसार यज्ञ की अग्नि में बांस जलाये जा सकते हैं।[५]

उपयोग—

बांस का अनेक प्रकार से उपयोग होता है। यह अनेक घरेलू उद्योगों में काम में आता हैं। इससे बांसुरी बनती है। टोकरियों, बक्सों, आसनों, चारपाइयों, सीढियों आदि के बनाने में यह प्रयुक्त होता है। मकानों को बनाने के काम में आता है। दृढ़ होने से यह स्तम्भ या बल्ली के लिये उपयोगी है। बांस की कोपलों को खाया जा सकता है। इसका अचार भी बनता है।

बांस चिकित्सा में भी उपयोगी है। मूल, पत्र, अंकुर और बीज सभी का उपयोग होता है। बांस के ये अंग शीतल, वात-पित्तनाशक, मूत्रल, ज्वरघ्न तथा कासश्वास में उपयोगी है। बांस का मूल तथा पत्ते गर्भाशय को स्वच्छ करते हैं। प्रसव के बाद इनका क्वाथ देते हैं। मादा पशुओं को प्रसव के बाद बांस के पत्ते खिलाये जाते हैं।

वंशलोचन का चिकित्सा में बहुत उपयोग है। बलवर्धक है और कास-श्वास में लाभदायक है। च्यवनप्राश का यह मुख्य घटक है।

१५३. वानीर

संस्कृत नाम—वानीर, वेतस।

हिन्दी नाम—बेंत।

१. शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः। —पूर्वमेघ ६०।

२. स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्। —रघुवंश २-१२।

३. यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन। —कुमारसम्भव १-८।

४. कर्पूर० पृ० १५।

५. वंशा दह्याना मखाग्निना। —प्रतिमा० १-१३।

अंग्रजी नाम—Cane.

लैटिन नाम—Calamus tenuis Roxb. **कुल**—Arecaceae.

वर्ग—गूडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, महावीरचरित, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, आश्चर्य-चूडामणि, हनूमन्नाटक, विद्वसालभञ्जिका, अनर्घराघव, कुन्दमाला ।

वनस्पति का परिचय—

वानीर (बेंत) भारत के सभी प्रान्तों में जलाशयों और नदियों की तटवर्ती जलीय भूमि में मिलता है। पर्वतीय घाटियों में यह २०००–२५०० फीट तक मिलता है।

'भावप्रकाशनिघण्टु' में वञ्जुल, वानीर, वेतस आदि पद पर्यायवाची कहे गये हैं। परन्तु जैसे कि पहले लिखा जा चुका है कि वञ्जुल और वानीर एक जैसे होते हुये भी भिन्न वनस्पतियाँ हैं। सामान्यतः जिसको बेंत और अंग्रेजी में केन (Cane) कहा जाता है, वह वानीर है।

वानीर के सघन, आरोही, कांटेदार पौधे होते हैं। साहित्य में इसको लता कहा गया है। इसका काण्ड चिकना, पतला और कोमल होता है। इस पर थोड़ी थोड़ी दूर पर गांठें रहती हैं। पत्ते ६–१२ इंच लम्बे, आधे से चौथाई इंच चौड़े, किनारों पर कांटेदार होते हैं। पत्ते घने होते हैं। इनके किनारे से एक लम्बी रचना फुलेजम निकलती है, जो बहुत लम्बी हो सकती है। वर्षा ऋतु में इस पर पुष्प श्वेत मञ्जरियों के रूप में आते हैं। फल प्रायः आधा इंच लम्बा काले किनारे का वल्क-पत्रों से ढका होता है। शीत में ये फल पक जाते हैं। बेंत की अनेक जातियां होती हैं।

काव्यत्मक वर्णन—

प्राचीन संस्कृत नाटकों में वानीर लताओं का बहुधा उल्लेख किया गया है। ये जलीय स्थानों पर नदियों और जलाशयों की तटवर्ती जलीय भूमियों में प्रचुरता से दिखाये गये हैं।[1] कवियों ने वर्णन किया है कि नदियों के तट पर उगे हुये वेतस जल के प्रवाह से कुछ झुक जाते हैं।[2] 'कुन्दमाला' नाटक के अनुसार गोमती का तट वानीर की लताओं से भरा हुआ था।[3] वन्य भूमियों में भी वानीर के प्रचुर मात्रा में होने का वर्णन किया गया है।[4] वानीर के पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि ने कवियों को आकृष्ट किया था। जलीय तटवर्ती प्रदेशों में उगी वानीर लताओं के सुगन्धित

---

१. अनर्घ० २-२६ । २. अभिज्ञान० पृ० १९१ ।
३. कुन्द० पृ० ६१ । ४. हनू० पृ० ६८-७० ।

पुष्प जल में गिर सुरभि भर देते हैं।[1] कालिदास ने वानीर को नदी का हाथ बताया है।[2]

प्राचीन काल में वानीर (बैंत) के आसन, विष्टर आदि बनाने का गृहोद्योग प्रचलित रहा होगा। तपोवन, आश्रम आदि स्थानों पर वेतस के विष्टर, आसन आदि प्रयोग में आते थे।[3] आदरणीय ऋषियों को बैंत से बने आसन (वेत्रासन) पर बिठा कर सत्कार किया जाता था।[4]

उपयोग—

वानीर (बेंत) का गृहोद्योगों में प्रचुर उपयोग होता है। इसके काण्ड के ऊपर का छिलका बहुत मजबूत होता है। इससे टोकरियाँ, बक्से, आसन, आदि बनाये जाते हैं। बैंत का हत्था बना कर उसको डण्डे के रूप में हाथ में भी पकड़ते हैं। इससे कुरसियों आदि की सीट भी बुनी जाती है।

वानीर का चिकित्सा में भी उपयोग है। इसकी जड़ शीतल और कषाय है। यह पित्त को शान्त करती है और ज्वर को कम करती है। हलकी विरेचक और पौष्टिक है। वानीर के फल का गूदा ग्राही होता है। इसके कोमल अंकुर का शाक बनता है, जिसको बहुत पौष्टिक समझा जाता है।

१५४. विचकिल

संस्कृत नाम—कुब्जक, भद्रतरुणी, वृत्तपुष्प, अतिकेसर, महासहा, कण्टकाढ्या, नीलालिकुलसूकुला।[5] विचकिल।

हिन्दी नाम—कूजा, कुजई।

अंग्रेजी नाम—Kuja

लैटिन नाम—Rosa moschata Herrm

कुल—Rosaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

विचकिल की ठीक पहचान करना कठिन है। इसका उल्लेख राजशेखर ने

---

१. वानीरप्रसवैर्निकुञ्जसरितामारक्तवासं पयः। —मालती० ९-१५।

२. महावीर० ५-४०, उत्तर० २-२०।

३. तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखम्। —पूर्वमेघ ४५।

४. आश्चर्य० १-५, वेत्रासनासीनान्। —कुमारसम्भव ६-५३।

५. कुब्जको भद्रतरुणी वृतपुष्पोऽतिकेसरः।
महासहा कण्टकाढ्या नीलालिकुलसूकुला। —पुष्पवर्ग ३७।

किया है। परन्तु कोष ग्रन्थों में यह नाम नहीं मिलता। राजशेखर के अनुसार यह लता है और इस पर श्वेत सुगन्धित पुष्प आते हैं। यह वसन्त में विकसित होता है। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में कुब्जक नामक वनस्पति का उल्लेख है। यह मोटी लम्बी लता है। वसन्त में पुष्पित होती है। इस पर श्वेत वर्ण के सुगन्धित पुष्प आते हैं। अतः कुब्जक को विचकिल माना जा सकता है।

विचकिल पश्चिम और मध्य हिमालय में २०००–११००० फीट तक पाया जाता है। यह गुलाब के समान फैलने वाली विस्तृत लता है। इसका काण्ड ५ इंच तक मोटा और ४० फीट तक लम्बा हो जाता है। शाखाओं पर भूरे रंग के काटें होते हैं। एक पत्रक में ५–९ पत्तियाँ रहती हैं। इनके वृन्त पर लम्बे कांटें होते हैं। पत्तियाँ १–२ इंच लम्बी और पृष्ठ पर कोमल रोमों से भरी होती हैं। पुष्प श्वेत रंग के सुगन्धित १–२ इंच व्यास के होते हैं। इन पर छोटे आकार के नारंगी या हलके लाल रंग के फल आते हैं। यह वसन्त (अप्रैल-मई) में पुष्पित और शरद् में फलित होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

विचकिल का कवियों ने अधिक वर्णन नहीं किया है। केवल राजशेखर का इस ओर ध्यान गया था। विचकिल की लतायें वसन्त में पुष्पित होती है।[१] इन पर श्वेत वर्ण के सुगन्धित पुष्प आते हैं।[२] इनको भ्रमर सदा घेरे रहते हैं। अतः इसको नीलालिकुलसंकुला कहा गया है। युवतियाँ विचकिल पुष्पों की मालायें पहनना पसन्द करती थीं।[३]

उपयोग—

विचकिल का उपयोग सुन्दर सुगन्धित पुष्पों के कारण है। ये पुष्प आभूषण के रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। ये चिकित्सा में भी उपयोगी हैं। इनको त्रिदोषघ्न तथा बलवर्धक कहा गया है। पित्त के विकारों, जलन तथा नेत्र रोगों में ये उपयोगी हैं।

१५५. वैकङ्कत

संस्कृत नाम—विकङ्कत वैकङ्कत, स्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल, स्वादुकण्टक, यज्ञवृक्ष, कण्टकी, व्याघ्रपात्।[४]

---

१. कर्पूर० १-१९। २. विद्ध० १-२५।
३. विद्ध० ४-३।
४. विकङ्कतः स्रुवावृक्षो ग्रन्थिलः स्वादुकण्टकः।
स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि॥
—भाव० आम्रादिफलवर्ग ८७।

हिन्दी नाम—कटाई

अंग्रेजी नाम—Governer's Plum.

लैटिन नाम—Flacourtia ramontchi L Herit.

कुल—Flacourtiaceae

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, बालरामायण

वनस्पति का परिचय—

विकङ्कत के वृक्ष हिमालय, बिहार, मध्य भारत और कोंकण आदि दक्षिण प्रदेशों में होते हैं।

ये वृक्ष आकार में छोटे होते हैं। इनकी शाखाओं पर स्वादिष्ट कांटे रहते हैं। अत: यह कण्टकी और स्वादुकण्टक कहलाता है। लकड़ी के गांठदार होने से इसका नाम ग्रन्थित हुआ। पत्ते प्राय: चार इंच से कम लम्बे, दन्तुर, अण्डाकार, चिकने और चमकीले होते हैं। इस पर पीताभ-हरित बारीक पुष्प आते हैं। आधा इंच परिधि के फल गोलाकार, चिकने तथा पकने पर गूदेदार होते हैं। इनमें अनेक छोटे-छोटे बीज रहते हैं। विकङ्कत की जड़ व्याघ्र के पंजे के समान होती है, अत: यह व्याघ्रपात् कहलाया।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने वैकङ्कत वनस्पति का वर्णन किया है, जबकि निघण्टुओं में विकङ्कत नाम मिलता है। वर्णनों से विकङ्कत और वैकङ्कत में साम्य प्रतीत होता है। अत: विकङ्कत और वैकङ्कत एक ही वनस्पति है।

विकङ्कत का उल्लेख अधिक नहीं है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण भारत के वनों में यह वनस्पति होती है।[1] कालिदास ने इससे कंघी बनाने का उल्लेख किया है। राजशेखर ने वर्णन किया है कि जब राम लंका से अयोध्या वापिस आ रहे थे तो अगस्त्य ने वैकङ्कत वृक्ष के नीचे उनका स्वागत किया था।[2]

उपयोग—

विकङ्कत के काण्ड का उपयोग प्राचीन समय में कंघियाँ (कङ्कत) बनाने में किया जाता था। अत: यह वृक्ष इस नाम से प्रसिद्ध हुआ (विशेषण कङ्कतानि निर्मीयन्ते अनेन)। इसका उपयोग यज्ञ की स्रुवा बनाने के लिये भी होता था, अत: यह स्रुवावृक्ष और यज्ञ वृक्ष कहलाया।

विकङ्कत चिकित्सा में भी उपयोगी है। इसकी छाल मूत्रल होती है। फल

१. हनू० पृ० ६८–७०। २. बालरा० पृ० ६७६।

दीपन और पाचन होते हैं। इनसे कामला और प्लीहावृद्धि की चिकित्सा की जाती है।

१५६. शण

संस्कृत नाम—शण, मातुलानी, जन्तुतन्तु, महाशना।[1]
हिन्दी नाम—सन
अंग्रेजी नाम—Sunn Hemp
लैटिन नाम—Gotalaria juncea Linn
कुल—Papilionaceae
वर्ग—धान्य वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

कर्पूरमञ्जरी

वनस्पति का परिचय—

सन की खेती भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों में होती है। यह जलबहुल स्थानों पर होता है। सन का पौधा अनेक वर्षों तक जीवित रहता है। इसके क्षुप होते हैं, जो झाड़ियों के रूप में ४–१० फीट तक बढ जाते हैं। इसके पत्ते १–३ इंच लम्बे रोमों से भरे होते हैं। वर्षा ऋतु में चमकीले पीले रंग के बड़े आकार के पुष्प आते हैं। उसके बाद एक इंच लम्बी रोमश फलियाँ आती हैं। इसमें १०–१५ बीज होते हैं। शीत काल में यह पक जाती है। छाल के रेशों से रस्सियाँ बनती हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में शण का उल्लेख कम ही है। राजशेखर ने सन से रस्सियों को बनाने का संकेत दिया है। पानी से भीग जाने पर सन की रस्सी की गांठ अधिक गहरी और कठोर हो जाती है।[2]

उपयोग—

सन का मुख्य उपयोग रस्सी, बांध आदि बनाने के लिये किया जाता है। चिकित्सा में इसके पत्ते पुष्प और बीज उपयोगी हैं। चर्म रोगों में पत्तियों को पीस कर लेप करते हैं। प्रदर में, विशेष रूप से रक्तप्रदर में पुष्प उपयोगी है। रजोरोध में और कष्टार्तव में बीजों का चूर्ण देना चाहिये।

---

१. शणः प्रोक्तो मातुलानीं जन्तुतन्तुर्महाशना। —भाव० धान्यवर्ग ८८।
२. सलिलसिक्त इव शणगुणग्रन्थिश्चिरं गाढतरो भवति।
—कर्पूर० पृ० ४३।

१५७: शतपत्र

संस्कृत नाम—शतपत्री (शतपत्र), तरुणी, कर्णिका, चारुकेशरा, महाकुमारी, गन्धाढ्या, लाक्षापुष्पा, अतिमञ्जुला ।[१]

हिन्दी नाम—गुलाब

अँग्रेजी नाम—Rose

लैटिन नाम—Rose centifolia linn.

कुल—Rosaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, मालविकाग्निमित्र

वनस्पति का परिचय—

शतपत्र (गुलाब) के पौधे वाटिकाओं में सर्वत्र लगाये जाते हैं। यह वनों में भी स्वत: उगा मिलटा है।

शतपत्र का पौधा ५–७ फीट तक ऊँचा हो जाता है। शाखायें हरी और कांटेदार होती हैं। एक पत्रक में ५ पत्तियाँ होती हैं। पुष्प गुलाबी रंग के सुगन्धित होते हैं, जो बहुत सुन्दर लगते हैं। अत: इसको गन्धाढ्या और अतिम जुला कहा गया है। इसमें पंखुड़ियों की संख्या बहुत होती है, अतः इसको शतपत्र या शतपत्री कहते हैं। वसन्त में पुष्प आते हैं।

भारतीय गुलाब सुन्दर और सुगन्धित होता है। वर्तमान समय में इस पर बहुत शोध कार्य हुआ है तथा विदेशी पौधे लगाये गये हैं। इनमें विविध रंगों के हरे, पीले, लाल, श्वेत आदि वर्णों के बड़े आकार के पुष्प आते हैं। परन्तु इनमें सुगन्धि विशेष नहीं होती।

शतपत्र का एक भेद सेवती (Rosa alba) है। यह लता है, जो वनों में प्राय: मिलती है। गढवाल और कुमायूं में ५००० फीट तक यह दृष्टिगोचर होती है। इसके पुष्प श्वेत-गुलाबी होते हैं और वसन्त में प्रचुर खिलते हैं।

काव्यात्मक वर्णन--

संस्कृत रूपकों में शतपत्र का अधिक उल्लेख नहीं है। 'हनूमन्नाटक' में यह कहा गया है कि दक्षिण वनों में शतपत्र होते हैं।[२] कालिदास मालविका के चरणों को गुलाबी शतपत्र के समान सुन्दर कहते हैं।[३]

---

१. शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा।
महाकुमारी गन्धाढया लाक्षापुष्पाऽतिमञ्जुला ॥ —भाव० पुष्पवर्ग २२।

२. हनू० पृ० ६८–७०।

३. अरुणशतपत्रमिव शोभते चरणः। —मालविका० पृ० ६८।

उपयोग—

शतपत्र (गुलाब) को पुष्पों के सौन्दर्य ने लोकप्रिय बनाया है। इससे इत्र भी तैयार करते हैं। गुलाब का पुष्प चिकित्सा में भी काम आता है। यह शीतल, मृदुविरेचन, पाचन, पौष्टिक और हृद्य है। पुष्पों का अधिक उपयोग होता है। इनसे चीनी मिला कर गुलकन्द बनता है। यह पोषक है और शौच खुल कर आता है। गर्मी शान्त होती है। गुलाब का अर्क दाहशामक है। हृदय के लिये बल्य है तथा आँखों के लिये हितकर हैं। पुष्पों के चूर्ण को शरीर पर मलने से स्वेद की अधिकता दूर होती है और दुर्गन्ध नष्ट होती है। गुलाब के पत्तों का रस रक्तस्राव बन्द करता है।

१५८. शमी

संस्कृत नाम—शमी, सक्तुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवाफला, मङ्गल्या, लक्ष्मी।[१]

हिन्दी नाम—शमी, छिकुर, छोंकर

अंग्रेजी नाम—Spung Tree

लैटिन नाम—prosopis Spicigera Linn.

कुल—Mimosaceae.

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, अभिज्ञानशाकुन्तल

वनस्पति का परिचय—

शमी वृक्ष पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात और बुन्देलखण्ड में अधिक होते हैं। यह शुष्क प्रदेशों का वृक्ष है।

शमी वृक्ष मध्यम आकार का कांटोंदार होता है। यह कीकर के समान ही होता है। काण्ड मोटा मजबूत और छाल धूसर वर्ण की फटी होती है। पत्ते कीकर के समान १–२ इंच लम्बे, चौथाई से आधा इंच चौड़े, ८–१० के गुच्छों में वृन्त से जुड़े होते हैं। शीत काल में २–३ इंच लम्बी मञ्जरियों के रूप में छोटे पीले रंग के पुष्प आते हैं। तदनन्तर फली आती है। पकने पर यह ५–१० इंच लम्बी और १०–१५ चपटे बीजों से युक्त होती है।

---

१. शमी सक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला।
मङ्गल्या च तथा लक्ष्मीः·········॥ —भाव० वटादिवर्ग ७२।

काव्यात्मक वर्णन--

प्राचीन साहित्य में शमी अग्निगर्भा के रूप में प्रसिद्ध है।[1] इसकी काष्ठ को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी। शमी के अग्निगर्भा होने के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा प्रसिद्ध है। शिव के तेज को सहन न कर पाने के कारण अग्नि जल में छिप गया। यहाँ भी शरण न मिलने पर वह शमी के आश्रय में गया। यहाँ से देवता उसको खोजकर लाये। एक अन्य कथा के अनुसार भृगु ऋषि के शाप के डर से अग्नि शमी में जा छिपा था।

'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण वनों में शमी वृक्ष बहुतायत से थे।[2] इस वृक्ष की काष्ठ को बहुत कठोर माना गया था। इसको कठोरता के उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कालिदास कहते हैं कि शकुन्तला से वृक्षों का सेचन कराना आदि कठोर कार्य इस प्रकार के हैं, जैसे कि नील-कमल की पंखुड़ी के किनारे से शमी की शाखा को काटना।[3]

उपयोग—

प्राचीन समय में शमी का उपयोग अग्नि को उत्पन्न करने के लिये किया जाता था। काँटेदार होने के कारण ये वृक्ष छिपने-छिपाने के लिये भी उपयोगी हो सकते थे। पाण्डवों ने अज्ञातवास में अपने शस्त्रों को इसी वृक्ष पर छिपाया था। शमी का काष्ठ उत्तम ईंधन समझा जाता है। इसकी कच्ची फलियाँ शाक बनाने के लिये उपयोगी हैं।

शमी चिकित्सा में भी उपयोगी है। रोगों को शमन करने से इसको शमी (शमयति रोगान्) और कल्याणकारी होने से शिवा (शिवं कल्याणं करोति) कहा गया। शमी की छाल संग्राही और रक्तपित्तशामक है। गर्भ की रक्षा के लिये इसके पुष्पों के चूर्ण को मिश्री मिलाकर गर्भिणी को खिलाते हैं। शमी की फली केशों पर हानिकारक प्रभाव डालती है। अतः इसका नाम केशहन्त्री है। इसकी राख मलने से बाल झड़ जाते हैं।

१५६. शर

संस्कृत नाम—शर, बाण, तेजन।
हिन्दी नाम—सरकण्डा।

---

१. अग्निगर्भा शमीमिव। —**अभिज्ञान०** ४-३।
२. हनू० पृ० ६८-७०।
३. ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।
—**अभिज्ञान०** १-१८।

अंग्रेजी नाम—Sarkanda Grass.

लैटिन नाम—Saccharum arundinaceum Retz.

कुल—Poaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त, मालविकाग्निमित्र, आश्चर्यचूडामणि, विद्ध-सालभञ्जिका ।

वनस्पति का परिचय—

शर (सरकण्डा) भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में नदियों के रेतीले तटों पर उत्पन्न होने वाला बहुवर्षायु क्षुप है। प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों में मुञ्जा और शर को पर्यायवाची के रूप में दिया गया है। परन्तु ये दोनों कुछ समान होते हुये भी भिन्न वनस्पति हैं। मूंज को लैंटिन में सैकेरम मुन्जा रोक्सब (Saccharume munja Roxb) और शर को सैकेरम अरुन्डिनेसिअम रीट्ज (Saccharum arundinaceum Retz) कहते हैं।

सरकण्डे का काण्ड १०–१२ फीट तक ऊँचा चला जाता है। काण्ड के ऊपर की छाल मजबूत तथा अन्दर कोमल गूदा होता है। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर गाँठें होती हैं। पत्ते लम्बे, पतले, धारदार होते हैं। शरद् में कास के समान ही पुष्प आते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

शर का प्राचीन साहित्य में प्रचुर वर्णन है। इसके अनेक उपयोग थे। कवियों ने इसमें काव्यात्मक सौन्दर्य के दर्शन किये थे। यह पाण्डु वर्ण का होता है। परिपक्व होने पर और भी शुभ्र हो जाता है।[१] इस कारण काव्यों में इसको युवतियों की त्वचा के सौन्दर्य का उपमान बनाया गया है।[२] शर के प्राकृतिक सौन्दर्य ने भी कवियों को मुग्ध किया था। वसन्त में शर पुष्पित होता है। इस समय सारा दृश्य इसके पुष्पों से अति रमणीय प्रतीत होता है।[३]

शर का पौराणिक महत्व है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार कार्तिकेय का पालन शरों के वन में हुआ था। कवियों ने इस कथा का संकेत दिया है।[४] कालिदास ने वर्णन किया है कि छः कृतिकायें भागीरथी में स्नान करने आई तो अग्नि द्वारा

---

१. विद्ध० पृ० २१।

२. शरपाण्डुगात्रलेखा। आश्चर्य ५-३०, शरकाण्डपाण्डु। मालविका० ३-८।

३. वसन्ते शरस्तम्बस्येव अङ्कुराकुरा ……। —**चारुदत्त** पृ० ७ ।

४. शरवणादिव कार्तिकेयः। —**प्रतिज्ञा**० २-२।

भागीरथी में छोड़ा गया शिव का वीर्य उदर में पहुँचकर गर्भ बन गया। लज्जा के कारण उन्होंने उस गर्भ को शरों के बन में छोड़ दिया।[1]

उपयोग—

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में शर का बहुत महत्व रहा। इसके द्वारा बाणों की डण्डी बनाई जाती थी। इस प्रकार हिंसा करने के कारण इसका नाम शर (शॄहिंसायाम्) और निशाना लगाने के कारण तेजन (तिज् निशाने) हुआ।

शर की डण्डियों और पत्तियों द्वारा झोपड़ियों की दीवारें बनाई जा सकती हैं। इससे छतें भी छाई जाती है। शर का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह पंचतृण-मूल में परिगणित है। तृष्णाशामक और मूत्रल है। प्रसूता को देने से दूध बढ़ाता है।

१६०. शाक

संस्कृत नाम—शाक, भूमिरुह, पृष्ठपत्रोदर, सुकर्कश,[2] भूमिसह, द्वारदारु, वरदारू, खरच्छद।[3]

हिन्दी नाम—सागौन।

अग्रेजी नाम—Indian Teak.

लैटिन नाम—Tectona grandis Linn

कुल—Verbenaceae.

वर्ग—वटादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, उत्तररामचरित।

वनस्पति का परिचय—

सागौन के वृक्ष मध्य तथा दक्षिणी भारत में अधिक होते हैं। उत्तर भारत, उड़ीसा और बंगाल में भी इनको लगाया गया है। बर्मा में ये वृक्ष प्रचुर हैं।

सागौन वृक्ष ऊँचे, सीधे लगभग १००–१५० फीट तक हो जाते हैं। शाखायें भी बहुत ऊँचाई पर जाकर फूटती हैं। पत्ते १–२ फीट लम्बे, आधे से एक फीट तक चौड़े, ऊपर से खुरदरे और निचले पृष्ठ पर रोमश होते हैं। पत्तों को हाथ से

---

१. ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः।
तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान् गृहानभिनिर्ययुः॥
—कुमारसम्भव १०-५६।

२. शाको भूमिरुहः पृष्ठपत्रोदरसुकर्कशः। —शिवदत्तनिघण्टु।

३. भूमीसहो द्वारदारुर्वरदारुः खरच्छदः॥ —भाव० वटादिवर्ग ७७।

मलने पर हाथ लाल हो जाते हैं। यह वर्षा में पुष्पित होता है। १–२ फीट लम्बी मंजरियों में छोटे-छोटे श्वेत सुगन्धित पुष्प लगते हैं। शरद् में १/२–२/३ इंच व्यास के गोल रोमश फल आते हैं। इसमें एक से चार बीज श्वेत रंग के होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

शाक वृक्षों का अधिक वर्णन संस्कृत रूपकों में नहीं है। 'हनूमन्नाटक' में उल्लेख है कि दक्षिण वनों में शाक वृक्ष बहुतायत से है।[1]

भवभूति ने वर्णन किया है कि वाल्मीकि के आश्रम में विशिष्ट अतिथियों के आने पर शाक को बदरीफल (कर्कन्धू) के साथ पकाया जा रहा था।[2] परन्तु कवि का यहाँ शाक वृक्ष से अभिप्राय नहीं है। यहाँ वह शाक से सब्जी अर्थ को ग्रहण करता है। अमरकोषकार का कथन है कि जिनके पत्र, पुष्प, फल, कन्द आदि का भोजन द्रव्यों के रूप में प्रयोग किया जाता है, वे वनस्पतियाँ शाक हैं।[3]

उपयोग—

सागौन की लकड़ी फर्नीचर के लिये उपयोगी है। इससे लम्बे-चौड़े तखते होते हैं तथा इन पर अच्छी फिनिश आती है। लकड़ी हलकी, मजबूत और जल को सहन करने वाली है। इसमें विशेष तेल होने के कारण दीमक नहीं लगती।

सागौन चिकित्सा में भी उपयोगी है। छाल पित्तशामक और कृमिनाशक है। शोथ और शिरःशूल में इसका लेप किया जाता है। पुष्प और बीज मूत्रल होते हैं। पत्तों का रस त्वचा के रोगों में लाभ करता है। प्रमेह में पुष्पों का क्वाथ देते हैं। बीजों में विशेष तेल होता है। यह वीसर्प के लिये उपयोगी है।

६१. शाल (साल)

संस्कृत नाम—शाल, सर्ज, कार्श्य, अश्वकर्ण, शस्यशम्बर।[4]
हिन्दी नाम—साल, साखू।
अंग्रेजी नाम—Sal Tree.
लेटिन नाम—Shorea robusta Gaertn.
कुल—Dipterocarpaceae.
वर्ग—वटादि वर्ग।

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।
२. कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते। —उत्तर० ४-१।
३. शाकारूपं पत्रपुष्पादि। —अमरकोष २-४-१३६।
४. सालस्तु सर्जकार्श्याश्वकर्णकः शस्यशम्बरः। —भाव० वटादिवर्ग १९।

नाटकों के उल्लेख--

अभिषेक नाटक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, वेणीसंहार वीणावासवदत्तम्, हनूमन्नाटक, बालरामायण, कुन्दमाला।

वनस्पति का परिचय--

शाल वृक्ष हिमालय की तराई में और पर्वतीय क्षेत्र में ३००० फीट ऊँचाई तक मिलते हैं। विन्ध्य वनों में सन्याल परगना, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के वनों में भी यह होता है।

साल वृक्ष ऊँचा सीधा, ६०–९० फीट तक चला जाता है। काफी ऊँचाई पर जाकर तने से शाखायें फूटती हैं। पत्तियाँ ४–१२ इंच लम्बी, २–७ इंच चौड़ी, आयताकार, अण्डाकार और आगे से नोकीली होती हैं। वसन्त में पीले-श्वेत पुष्प मंजरियों में आते हैं। ग्रीष्म में फल आ जाते हैं। आधा इंच लम्बे फल पहले श्वेत तथा पकने पर धूसर होते हैं। अन्दर बीज होते हैं। इनसे विशेष तेल प्राप्त होता है। तने पर चीरा लगाने से एक निर्यास बहता है। यह सूखकर राल के नाम से बिकता है। जलाने से यह धूप की तरह जलता है।

काव्यात्मक वर्णन –

संस्कृत नाटकों में साल वृक्षों का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है। विभिन्न स्थानों पर इनकी उपस्थिति प्रदर्शित की गई है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण वनों में शाल वृक्ष प्रचुर थे।[1] राम-रावण युद्ध में वानरों ने शाल वृक्षों को उखाड़कर उनसे राक्षसों पर प्रहार किये थे।[2] हिमालय की तराई क्षेत्रों में तथा उत्तर भारत के मैदानों में भी शाल वृक्ष खूब होते थे। दिङ्नाग ने वर्णन किया है कि वाल्मीकि के आश्रम में सीता साल वृक्ष के नीचे बैठी थी।[3] भास के वर्णनों के अनुसार राम ने बालि का वध करने से पूर्व एक बाण से साल के सात वृक्षों को बींधकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था।[4] मध्य भारत में नर्मदा के समीपस्थ प्रदेशों में भी शाल वृक्षों का वर्णन हुआ है। उदयन को पकड़ने के लिये उज्जयिनी के सैनिकों ने कृत्रिम हाथी को साल वृक्षों के मध्य छिपाया था।[5] शक्तिभद्र ने यमुना के कच्छ प्रदेशों में साल वृक्षों का वर्णन किया है।[6]

कवियों ने वर्णन किया है कि साल वृक्ष खूब ऊँचा और मजबूत होता है।[7] इसकी छाया घनी और सुखद होती है। सूर्य के सन्ताप से बचने के लिये राम ने

---

१. हनू० पृ० ६८-७०।   २. बालरा० पृ० ५२८।
३. कुन्द० पृ० ६१
४. बालिहृदयं छेत्तुं न मे संशयः सालान् सप्त। —**अभिषेक० १-५।**
५. मल्लिकासालप्रच्छादितशरीरः। —**प्रतिज्ञा० पृ० १७।**
६. वीणा० पृ० १५।   ७. वेणी० ४-३।

साल की छाया में विश्राम किया था।[१] भवभूति के वर्णनों के अनुसार साल पर वर्षा के प्रारम्भ में पुष्प विकसित होते हैं।[२] परन्तु उसका यह वर्णन भ्रमात्मक है। साल वसन्त में पुष्पित होता है।

उपयोग—

साल वृक्ष का मुख्य उपयोग इसकी काष्ठ के कारण है। काष्ठ के दृढ़ होने से से इसको साल (शाल) कहा गया। (सार: दार्ढ्यमतिशयमस्य)। इसके लम्बे तथा चौड़े शहतीर निकलते हैं। अत: इसका मकानों के बनाने तथा फर्नीचर में उपयोग होता है। पतले लम्बे साल वृक्षों के काण्डों का बल्लियों के रूप में भी प्रयोग है। साल के बीजों से तेल प्राप्त होता है। यह जलाने के काम आता है। निर्धन लोग बीजों को पीसकर रोटी भी बनाते है। साल के तने को चीरा लगाने से प्राप्त राल, जिसको सर्जरस भी कहते हैं, अनेक उपयोगों में आती है।

साल का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह कटु-तिक्त-कषाय होता है। सर्जरस से मरहम बनती है। यह घावों के भरने के लिये उपयोगी है। इसको मोम में मिलाकर बिवाइयों में भरते हैं।

१६२. शालि

संस्कृत नाम—शालि।

हिन्दी नाम—बासमती चावल।

अंग्रेजी नाम—Rice, Paddy.

लैटिन नाम—Oryza Sativa Linn.

कुल—Gramineae.

वर्ग—धान्य वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

चावल विश्व का प्रमुख भोज्य पदार्थ है। भारतवर्ष में अति प्राचीन समय से इसकी खेती की जा रही है। प्राचीन साहित्य में अनेक प्रकार के चावलों का वर्णन आया है। इनमें शालि, रक्तशालि, कलम, पाण्डुक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कर्दमक, महाशालि, दूषक, पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महिषमस्तक, दीर्घशूक, काञ्चनक,

१. उत्तर० पृ० ४१९।

२. मालती० ९-१७।

हायन और लोध्रपुष्पक ये शालि के भेद हैं।[१] व्रीहि और षष्ठी अन्य प्रकार के चावल होते हैं। शालि को उत्तम कोटि का चावल माना गया है। अमरसिंह ने शालि, कलम और षष्ठी तीन भेद चावलों के कहे हैं।[२]

शील धान्य की वर्षा के प्रारम्भ होते ही बोया जाता है और ये हेमन्त में पककर तैयार होते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने शालि को उत्तम माना था। इसकी खेती जलबहुत प्रदेशों में होती है। शालि धान्य पर तोतों का प्रायः आक्रमण होता है और वे इसके पकने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। परन्तु किसान इनकी रक्षा करते हैं।[३]

उपयोग--

शालि का मुख्य उपयोग भोजन के लिये है। धान से भूसी को अलग करके श्वेत चावल प्राप्त करते हैं। अच्छा शालि वह है, जो ऊपरी परत उतारे बिना भी श्वेत रहता है। यह हेमन्त में पकता है।[४]

१६३. शालमलि

संस्कृत नाम—शालमलि, मोच, पिच्छिला, पूरणी, रक्तपुष्पा, स्थिरायु, कण्टकाढ्या, तूलिनी।[५]

हिन्दी नाम—सेमर, सेमल।

अंग्रेजी नाम—Silk Cotton Tree.

लैटिन नाम—Saimalia malabaricum DC.

पुराना नाम—Bombax malabaricum DC.

कुल—Bombacaceae.

वर्ग—वटादि वर्ग।

---

१. भाव० धान्यवर्ग ४-५।

२. शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च। —अमरकोष २-९-२४।

३ बालरा० ६-३७।

४. कण्डनेन विना शुक्ला हेमन्ताः शालयः स्मृताः।
—भाव० धान्यवर्ग ३।

५. शालमलिस्तु भवेन्मोचः पिच्छिला पूरणीति च।
रक्तपुष्पा स्थिरायुश्च कण्टकाढ्या च तूलिनी॥
—भाव० वटादिवर्ग ५८।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, पादताडितक।

वनस्पति का परिचय—

भारतवर्ष के उष्णप्रदेशों में शालमलि प्रभूत होते हैं। निम्न पर्वतीय क्षेत्रों में भी होते हैं।

शालमलि वृक्ष ऊँचे, लम्बे चले जाते हैं। काण्ड मोटा होता है। छाल श्वेतिमा लिये भूरी होती है। शाखाओं पर काँटे होते हैं। पत्ते हाथ की अंगुलियों के समान फैले होते हैं। डण्डी के अन्त में एक साथ ५–७ पत्ते लगते हैं। शीतकाल के अन्त में इस पर पतझड़ होती है। तदनन्तर लाल रंग के पुष्पों से यह भर जाता है। पुष्पों का बाह्य कोष काफी मोटा कटोरी के समान होता है। इसका शाक बन सकता है। अब इस पर फल आते हैं। ये ५–७ इंच लम्बे अन्डाकार पंचकोणीय होते हैं। ये पकने पर फट जाते हैं और रुई निकलकर चारों फैल जाती है। रुई के अन्दर के बीज रहते हैं। इनमें तेल होता है।

पुराने सेमल वृक्ष की छाल में कीड़ा लगकर खोखला बन जाता है। इसमें से स्राव बहता है। यह सूखकर मोचरस के नाम से बिकता है। ताजा मोचरस भूरे रंग का होता है। कुछ समय बाद यह लाल हो जाता है तथा पुराना होकर काला हो जाता है।

प्राचीन साहित्य में शालमलि का प्रचुर वर्णन है। लम्बी आयु होने से इसका नाम स्थिरायु, चिपचिपे रस (मोचरस) के कारण पिच्छिला, लाल पुष्पों के कारण रक्त-पुष्पा काँटों से युक्त होने के कारण कण्टकाढ्या और रुई रहने के कारण तूलिनी हुआ।

काव्यात्मक वर्णन—

शालमलि भारत में सर्वत्र होता है। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में शालमलि की स्थिति कही गई है।[१] 'पादताडिलक' में एक विशाल, किन्तु झुलसे हुये शालमलि वृक्ष का वर्णन किया गया है।[२]

उपयोग—

भारतीय अर्थव्यवस्था में शालमलि का बहुत महत्व है। सेमल की काष्ठ हलकी कोमल और कमजोर होती है। अतः फर्नीचर के लिये उपयुक्त नहीं है। इसका उपयोग पैकिंग के डब्बे, दियासलाई के डब्बे और तीलियाँ बनाने में होता है। इससे प्जाईवुड बनती है। कलियों की सब्जी बनती है। फलों, पत्तों और बीजों को

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८-७०।
२. दग्धः शालमलिवृक्षकः। —पाद० श्लोक ८८।

पशु खाते है। सेमल की रुई तकियों में भरी जाती है। बहुत चिकनी होने से इसका धागा नहीं बन सकता। छाल के अन्दर के भाग में रेशे होते हैं। इससे रस्सियाँ बन सकती है।

सेमल के पुष्प, फल, कन्द और गोंद का चिकित्सा में उपयोग होता है। पुष्पों को अर्श में दिया जाता है। कोमल फल मूत्रल होते हैं और मूत्रेन्द्रिय के लिये शामक हैं। सेमल का कन्द सेमलमूसली कहलाता है। यह बल्य, वृष्य और स्तम्भक है। सेमल का गोंद मोचरस है। यह संग्राही और बल्य है। अतिसार, पुरानी संग्रहणी और अत्यार्तव में यह उपयोगी है।

१६४. शिशंपा

संस्कृत नाम—शिंशपा, पिच्छिला, श्यामा, कृष्णसारा।[१]
हिन्दी नाम—शीशम।
अंग्रेजी नाम—Sissoo,
लैटिन नाम—Dalbergia Sissoo Roxb.
कुल—Popilionaceae.
वर्ग—वटादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, आश्चर्यचूडामणि।

वनस्पति का परिचय—

भारतवर्ष में शीशम प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। हिमालय पर यह ४००० फीट ऊँचाई तक मिलता है। मार्गों पर लगाने के लिये अति लोकप्रिय हैं। नेपाल की तराई, सिक्कम, और आसाम के तराई प्रदेशों में यह प्रचुर हैं और अधिक अच्छा माना जाता है।

शीशम वृक्ष, ऊँचे, बड़े और विशाल हो जाते हैं। काफी ऊँचाई पर जाकर शाखायें फूटती है ' पत्रक ३-५ पत्तियों वाले होते हैं। पत्तियाँ १-३ इंच लम्बी, $\frac{1}{2}$–१ इंच चौड़ी, अण्डाकार, चिकनी और नोकीली होती है। वसन्त में श्वेत-पील चौथाई इंच के सुगन्धित पुष्प प्रचुर परिमाण में खिलते हैं। तदनन्तर १-४ इंच लम्बी चपटी फलियाँ आती हैं, जो दिसम्बर मे पकती है। इनमें छोटे चपटे बीज होते हैं। शीशम की काष्ठ श्यामिका और तालिमा से युक्त भूरे रंग की होती है।

---

१. शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरुः।
—भाव० वटादिवर्ग २४।

काव्यात्मक वर्णन—

'हनूमन्नाटक' में शीशम वृक्षों की दक्षिण वनों में उपस्थिति का संकेत किया गया है।[१] दण्डकारण्य में ये प्रचुर रहे होंगे। शक्तिभद्र ने वर्णन किया है हरण के लिये रावण के आने पर सीता शीशम के वृक्ष के नीचे बैठी थी।[२] शक्तिभद्र दक्षिण भारतीय थे।

उपयोग—

शीशम का मुख्य उपयोग इसकी काष्ठ के लिये है। यह मजबूत और टिकाऊ होती है। इसके फर्नीचर पर अच्छी रौनक आती है। अतः भवनों और फर्नीचर के के निर्माण में यह अति उपयोगी है। यद्यपि बाहर की कच्ची काष्ठ कुछ श्वेत होती है, तथापि भीतर की पक्की काष्ठ बहुत टिकाऊ है। शीशम को मार्गों के किनारे बहुत लगाया जाता है। यह शीघ्र बढता है और इसके पत्ते सघन होते हैं। इसकी काष्ठ से गाड़ियों के पहिये, नाव और अन्य भी बहुत से सामान बनाये जाते हैं।

शीशम का चिकित्सा में भी उपयोग है। इसके पत्ते मूत्रल और रक्तस्तम्भक हैं। सूजाक में पत्तों का क्वाथ देना चाहिये। शीशम की काष्ठ का ऊर्ध्वपातन करके तेल निकलता है। यह अनेक चर्म रोगों में लाभदायक है। शीशम के बीज बल्य और वृष्य होते हैं।

१६५. शिरीष

संस्कृत नाम—शिरीष, मण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प, शुकप्रिय।[३]

हिन्दी नाम—सिरस, सिरिस।

अंग्रेजी नाम—East Indian Walnut

लैटिन नाम—Albizzia lebbeck Benth.

Albizzia odoratissimus Benth.

Aldizzia Procera Benth.

कुल—Mimosaceae.

वर्ग—वटादिवर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, कौमुदीमहोत्सव, प्रियदर्शिका, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, विद्धमालभञ्जिका, बालरामायण,

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. आश्चर्य० पृ० १६८।

३. शिरीषो मण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः।
शुकपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः। —भाव वटादिवर्ग १.३।

वनस्पति का परिचय—

शिरीष प्रायः सारे भारत में उपलब्ध है। पर्वतों पर यह ४००० फीट की ऊँचाई तक मिलता है। सड़कों के किनारे लगाने के लिये यह बहुत लोकप्रिय है।

शिरीष के मध्यम आकार के वृक्ष होते हैं। पुराने वृक्ष अधिक बड़े भी होते हैं। पत्तियाँ छोटी इलमी के समान होती है। शीतकाल में पतझड़ होता है। ग्रीष्म और वर्षा में श्वेतम्पीले पुष्प गुच्छों में आते है। ये कोमल और सुगन्धित होते हैं। शीत काल में लम्बी ४-६ इंच पतली और चपटी फलियाँ लगती हैं। इनमें ६-१२ बीज होते हैं।

शिरीष की मुख्य रूप से तीन जातियाँ मिलती है—एलबिजिया लेबेक, एलबिजिया ओडोरोटिस्सिमस, और एलबिजिया प्रोसेरा। इनमें दूसरी को काला शिरीष और तीसरी को श्वेत शिरीष कहते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

शिरीष के पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि ने कवियों को आकृष्ट किया था। प्राचीन समय में यह वनों में प्रचुर होता था। 'हनूमन्नाटक' में इनकी उपस्थिति दक्षिण वनों में कही गई।[1] ग्रामों के समीप शिरीष वृक्ष होते थे। ग्राम्य बालायें इनके पुष्पों को आभूषण बना लेती थीं। उद्यानों में भी शिरीष का वर्णन कवियों ने किया है।[2]

ग्रीष्म में पुष्पित होने वाले शिरीष कवियों को अति प्रिय लगे।[3] युवतियाँ इनको आभूषण के लिये तोड़ती थीं। ग्राम्य बालाओं के ये अति प्रिय कर्णाभूषण थे।[4] कालिदास ने वर्णन किया है कि ग्रीष्म में प्रमदायें शिरीष कुसमों कान का आभूषण बनातीहै।[5] यह पुष्प लम्बा होता है और कानों में पहनने पर नीचे गालों तक लटकता हैं।[6] ग्रीष्म में शिरीष कुसुम को शीतलतादायक समझा जाता था।[7]

कवियों ने शिरीष की कलियों और पुष्पों में अति कोमलता की अभिव्यञ्जना की है।[8] इनमें सुरभि और रस होता है। अतः भ्रमर इन पर मंडराते रहते है।

---

१. हनू० पृ० ६८-७०। २. कोमुदी० १-२३।

३. कर्पूर० ४-७, बालरा० ३-२६।

४. विद्ध० ४-३, कर्पूर० ४-७।

५. अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।
—अभिज्ञान० १-४।

६. कर्णशिरीषरोधिवदने। —अभिज्ञान० १-२८।
कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीष मागण्डविलम्बिशेखरम्।
—अभिज्ञान० ६-१८।

७. विद्ध० ४-५। ८. विद्ध० १-२२।

शिरीष कुसुमों की कोमलता तथा वर्ण की नई कोमल घास के समान कहा गया है।[1]

शिरीष पुष्प की कोमलता के सम्बन्ध में कवियों की मनोरम कल्पनायें हैं। सुन्दर रमणियों के शरीर शिरीष कुसुमों के समान होते हैं।[2] अति कोमलांगी रमणियों के शरीर इतने कोमल होते हैं कि वे शिरीष कुसुमों के प्रहार को भी सहन नहीं कर सकते। वे इसीप्रकार से ही मुरझा जाते हैं।[3]

उपयोग—

शिरीष का उपयोग इसके पुष्पों के सौन्दर्य में निहित है। छाया और लकड़ी प्राप्त करने के लिये इसको सड़कों के दोनों ओर लगाया जाता है। यह शीघ्रता से बढ़ता है, किन्तु इसकी आयु भी कम होती है। शिरीष की लकड़ी यद्यपि बहुत अच्छी नहीं है, तथापि इसका फर्नीचर में काफी उपयोग किया जा रहा है। बाहर की कच्ची श्वेत लकड़ी पर बहुत शीघ्र कीड़ा लग जाता है। किन्तु अन्दर की काली पक्की लकड़ी चिरस्थायी होती हैं। इससे कोल्हू और गाड़ियों के पहिये भी बनते हैं।

शिरीष चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण और कटु-कषाय है। शुक्र-स्तम्भन के लिये इसके पुष्प दिये जाते हैं। वीर्य को गाढा करने के लिये बीज उपयोगी है। छाल दान्तों को दृढ करती है। गडंमाला में बीजों को खिलाते हैं और लेप भी करते हैं। रतोंधी में पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं और स्वरस को आँखों में डालते हैं।

१६६. शिलीन्ध्र

संस्कृत नाम—संस्वेदज शाक, भूमिच्छत्र, शिलीन्ध्र।[4]

हिन्दी नाम—छतोना, सांप का छता, मशरूम।

अंग्रेजी नाम—Mush-room.

लैटिन नाम—Agaricus Campestris Linn.

कुल—Agaricaceae.

वर्ग—शाक वर्ग।

---

१. बिभ्राणा मृदुतां शिरीष कुसुमश्रीहारिभिः शाद्वलैः। प्रिय० २-३।

२. शिरीषमृतुवी। हनू० ३-१२, शरीरमुद्यानशिरीषपेलवम्।

—कौमदी० १-२३।

शिरीष कुसुमाधिकसौकुमार्यौ बाहू। —कुमारसम्भव १-४।

३. मालती० ५-३१।

४. उक्तं संस्वेदजं भूमिच्छत्रं शिलीन्ध्रकम्। —भाव० शाकवर्ग ११९।

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, वीणावासवदत्तम् ।

वनस्पति का परिचय—

शिलीन्ध्र (मशरूम) भारत के सभी प्रान्तों में मिलता है । वर्तमान समय में इसकी खेती को बहुत महत्व और प्रोत्साहन दिया जा रहा है ।

सामान्यत: शिलीन्ध्र वर्षा ऋतु में भूमि को भेद कर स्वयं उत्पन्न होता है । यह खाद की ढेरी और गीली लगड़ियों में उग आता है । क्षुप लगभग ५-६ इंच ऊँचा होता है । इसमें शाखायें नहीं होती । केवल एक डण्डी भूमि फोड़ कर निकलती है और उसके ऊपर गोल छत्र रहता है । छत्र के नीचे पतला सा पर्दा (गिल) लटकता है । इसमें जीवाणु भरे होते है ।

शिलीन्ध्र (मशरूम) विषैले भी हो सकते हैं : यद्यपि इसको पौष्टिक आहार माना गया है, तथापि प्रयोग के समय यह परीक्षा करना आवश्य है कि कहीं यह विषैला न हो । विषैले छत्रों का स्वाद और गन्ध कुछ विकृत होते हैं । इनमें डन्ठल के निचले भाग में एक कटोरी सी होती है ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने शिलीन्ध्रों के विकसित होने का प्रचुर वर्णन किया है । इसके पनपने के लिये प्रचुर जल की आवश्यकता होती है । नदियों के कच्छ प्रदेशों में यह खूब होता है तथा वर्षा में अधिक बढ़ता है ।[१] शक्तिभद्र ने वर्णन किया है कि हस्तिबहुल यमुना के कच्छ प्रदेश शिलीन्ध्रों के समूह से भरे हुये है ।[२] कालिदास के अनुसार वर्षा ऋतु आने पर शिलीन्ध्र प्रचुर मात्रा में निकल आते है ।[३]

उपयोग—

संस्कृत कवियों ने शिलीन्ध्र का वर्णन करके भी इसके उपयोग में कुछ नही कहा हैं । वे इसके प्राकृति सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट हो गये थे । प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों में इसका शाक वर्ग में पाठ है । इससे प्रतीत होता है कि भारत में यह शौक से खाया जाता रहा है । वर्तमान खोजों के अनुसार यह पौष्टिक आहार है । इसमें प्रोटीन, विटामिन और खनिज प्रचुर होते हैं ।

---

१. आविर्गन्धशिलीन्ध्रलोध्रकुसुमस्मेरा वनानां ततिः ।
—मालती० ९-१६ ।

२. शिलीन्ध्रषण्डं नागवनम् । —आश्चार्य० पृ० १६८ ।

३, कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्याम् ।
—पूर्वमेघ १९ ।

१६७. शुण्ठी

संस्कृत नाम—शुण्ठी, विश्वा, विश्व, नागर, विश्वभेषज, ऊषण, कटुभद्र, शृङ्गवेर, महौषध ।[१]

हिन्दी नाम—सौंठ, अदरक ।

अंग्रेजी नाम—Dry Zimgiber, Zinger.

लैटिन नाम—*Zingiber Officinale* Roxb.

कुल—*Zingiberaceae*,

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग ।

नाटकों के उल्लेख—

मृच्छकटिक

वनस्पति का परिचय—

अदरक को सुखाकर सौंठ बनाई जाती हैं । अदरक की खेती प्राय: सारे भारत में होती है। केरल, बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और हिमालय के क्षेत्रों में यह अधिक होता है ।

अदरक को कन्द के रूप में बोते हैं । इससे २-४ फीट ऊँचा पौधा निकलता हैं । इससे शाखायें फूटती हैं । पत्तियां १-२ फीट लम्बी, आधा से एक इंच चौड़ी बांस की पत्तियों के समान होती हैं । इसमें ६-१२ इंच लम्बा पुष्पदण्ड निकल कर हरिनाभ-पीत पुष्प खिलते है । भूमि के अन्दर कन्द फैलता जाता हैं । यही अदरक हैं । इससे सोंठ बनती हैं ।

सोंठ बनाने के लिये अदरक को पानी या दूध में उबाल कर सुखाते हैं । सादा सुखाने से अदरक कुछ लाली लिये होता है । परन्तु इसको २४ घण्टों तक गाढे चूने के पानी में रख कर, धोकर सुखाने से इसमें सफेदी और चमक आ जाती हैं ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में शुण्ठी का वर्णन कम ही है । 'मृच्छकटिक' प्रकरण में इसको कण्ठस्वर के लिये उपयोगी कहा गया है । हींग, जीरक, मुस्ता, बचा और शुण्ठी में गुड मिलाकर खिलाने से स्वर मधुर होता है ।[२]

उपयोग—

भारतीय मसालों में सौंठ का प्रयोग अति प्राचीन काल से होता रहा हैं । चिकित्सा में यह बहुत उपयोगी माना गया हैं । यह उष्ण और कटु-तिक्त है । दीपन,

---

१. शुण्ठी विश्वा च विश्व च नागरं विश्वभेषजम् ।
ऊषणं कटुभद्रं चशृगवेरं महौषधम् ॥ —**भाव० हरीतक्यादिवर्ग ४४ ।**

२. मृच्छ० ८-१३ ।

पाचन, और रसायन है। शूल में लाभ करता है। शुण्डी का प्रयोग अर्श, अतिसार, अजीर्ण, गुल्म और प्रमेह में किया जाता है। शुण्ठी को बल्य ओषधियों के साथ रसायन के रूप में दिया जाता है। सोंठ में समान मात्रा में काली मिर्च और पिप्पली को मिलाने से त्रिकटु चूर्ण बनता है। यह कास, श्वास, अजीर्ण आदि अनेक रोगों में हितकर है।

१६८. शेफालिका

संस्कृत नाम—शेफालिका।
हिन्दी नाम—हरसिंगार।
अंग्रेजी नाम—Weeping Nyctanthas, Tree of Sorrow,
लैटिन नाम—Nyctanthes arbor-tristis Linn.
कुल—Oleaceae.
वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

स्वप्नवासवदत्तम्, मृच्छकटिक, वेणीसंहार, तापसवत्सराज, प्रियदर्शिका, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण, विद्धसालभञ्जिका।

वनस्पति का परिचय—

शेफालिका की पहचान कुछ कठिन है। पारिजात और निर्गुण्डी के पर्यायवाची शब्दों में शेफालिका या शेफाली का पाठ है। परन्तु संस्कृत कवियों ने शेफालिका का जिस रूप में वर्णन किया है, उससे यह कुछ भिन्न ही प्रतीत होता है। शेफालका को कवियों ने लता कहा है[1], जिसको कोमल झाड़ीनुमा पौधा भी कह सकते हैं। पारिजात एक मध्यम आकार का वृक्ष है। इसको निर्गुण्डी भी नही कह सकते। निर्गुण्डी के नीले पुष्प होते हैं। शेफालिका के पुष्प लाल होते हैं। शेफालिका चमेली जाति का पौधा होना चाहिये। इस पर लाल रंग के सुगन्धित पुष्प इतनी मात्रा में खिलते ओर भूमि पर बिखर जाते हैं कि यह वनस्पति रोती सी प्रतीत हैं। अत। अंग्रेजी में इसको वीपिंग निक्टैंयस कहा गया है।

शेफालिका भारतीय उद्यानों का लोकप्रिय पौधा रहा है। यह छोटा झाड़ीनुमा क्षुप है। छाल श्वेत-हरित या हल्की लाल होती हैं। पत्ते चार इंच लम्बे, ढाई इंच चौड़े, खरस्पर्श, रोमशपृष्ठ होते हैं। पुष्प श्वेत रक्त वर्ण के अति सुगन्धित होते हैं। इनका निचला भाग लाल रंग का तथा ऊपर की पंखुड़ी श्वेत होती है। ये रात को अधिक खिलते हैं और प्रात: झड़ जाते हैं। अत: इसको रात की चमेली (Night Jasmine) कहा जाता है।

---

१. स्वप्न० पृ० १०५।

काव्यात्मक वर्णन—

शेफालिका का संस्कृत नाटकों में प्रचुर वर्णन है। भास को यह अति प्रिय रही। शेफालिका पुष्प शरद् में खिलते हैं।[१] कहा जाता है कि चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से ये विकसित होते हैं, अतः प्रातःकाल इनकी शोभा दर्शनीय होती है।[२] राजशेखर ने शेफालिका का सम्बन्ध सीधा चन्द्रिका से जोड़ा है। चन्द्र के दर्शन के बिना यह पुष्पित नहीं होती।[३]

संस्कृत कवियों के वर्णनों से विदित होता है कि शेफालिका भारतीय उद्यानों का अति प्रिय पौधा था। इसको शोक से लगाया जाता था।[४] प्रातः समय में युवतियां इन पुष्पों को चुना करती थीं।[५]

शेफालिका पुष्पों का रंग लाल कहा गया है। यद्यपि 'अमरकोष' में शेफालिका का एक पर्याय नीलिका कहा गया है[६], जिससे इसके पुष्पों के नीला होने की भी सम्भावना की जा सकती है, तथापि रूपकों में इन पुष्पों को लाल ही कहा गया है। शेफालिका पुष्पों के वृन्त (निचला भाग) लाल होते हैं। वाटिकाओं में प्रातः वेला में ये वृन्त पौधे के नीचे बिखरे हुये दृष्टिगोचर होते हैं। प्रातः समय वृन्तों से भरा हुआ शेफालिका लताओं का तल प्रदेश इस प्रकार प्रतीत होता है कि मानों छोटे आकार के मूंगे (प्रवाल) बिखरे हों।[७] भास ने वर्णन किया है कि शेफालिका लता पुष्पित होने पर ऐसी प्रतीत होती है, जैसी कि प्रवालों के मध्य मोती चमक रहे हों।[८] भास का यह वर्णन इससे मिलता है कि शेफालिका पुष्प का निचला भाग लाल तथा ऊपर का श्वेत होता है।

उपयोग—

शेफालिका का मुख्य उपयोग इसके पुष्पों के सौन्दर्य और सुरभि के लिये है। इस हेतु इसको वाटिकाओं में लगाया जाता है। शेफालिका पुष्पों से इतर बनाया जा सकता है।

शेफालिका चिकित्सा में भी उपयोगी है। इसके पत्तों का क्वाथ गृध्रसी, जीर्ण ज्वर और विषज्वर (मलेरिया) में उपयोगा है। पत्तों का स्वरस उदर के क्रिमियों

---

१. कर्पूर० पृ० २३०, बालरा० ५-३२, स्वप्न० पृ० १०४।
२. वेणी० पृ० ६२।
३. न विना चन्द्रं शेफालिकायाः विकसन्ति कुसुमानि। —विद्ध० २-१६।
४. मृच्छ० पृ० १८४।
५. शेफालिकाकुसुमान्यवचित्य। —तापस० पृ० १३३।
६. अमरकोष २-४-७०।
७. वृन्तैः क्षुद्रप्रवालस्थगितमिव भाति शेफालिकानाम्। —प्रिय० २-२।
८. प्रवालान्तरितेरिव मौक्तिकलम्बकैराचिता कुसुमैः। —स्वप्न० पृ० १०५।

को नष्ट करता है। बीजों को जल में पीसकर सिर पर लगाने से गंजापन नष्ट होकर नये बाल उगते हैं।

१६६. शैवल

संस्कृत नाम—शैवाल, जलनीली, शैवल, जलज।[1]

हिन्दी नाम—सिवार, शैवाल।

अंग्रेजी नाम—A kind of a quatic plant, Moss,

लैटिन नाम—Cratophyllum demursum Linn.

कुल—Ceratophyllaceae.

वर्ग—पुष्प वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, आश्चर्यचूडामणि।

वनस्पति का परिचय—

सिवार भारत में प्राय: सभी स्थानों में जलाशयों और नदियों के ठहरे जल में मिल जाता है।

सिवार के क्षुप जल में डूबे रहते हैं। ये ८ इंच से ३ फीट तक लम्बे होते हैं। पत्तियां लगभग एक इंच लम्बी जल में फैली रहती हैं। जल से बाहर निकलने पर शाखायें और पत्तियां परस्पर गुंथ कर एक जाल सा बना लेती हैं। यह जाल सारे जल के स्तर को ढक लेता है और बहुत तेजी से फैलता है। इससे जल की सतह नीलाभ-हरित दिखाई देती है। अत: इसको जलनीली नाम दिया गया है। इस पर नन्हें पुष्प भी आते हैं। पुंपुष्प और स्त्रीपुष्प भिन्न दण्डों पर लगते हैं। जल में उत्पन्न होने के कारण इस वनस्पति को शैवल, शैवाल (जले शेते तिष्ठति) और जलज कहा गया।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत रूपकों में शैवाल का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। कवियों को इसमें भी सौन्दर्य दिखाई दिया था। शैवल से लिपटा हुआ भी कमल सुन्दर प्रतीत होता है।[2] शैवल को चक्रवाकों का आहार बताया गया है।[3]

उपयोग—

शैवल के लिये प्रसिद्ध है कि यह जल की सारी गन्दगी को खेंच कर उसका शोधन कर देता है। वर्तमान समय में इसके पौषणिक मूल्य का आकलन किया जा रहा है। इसमें प्रचुर प्रोटीन होती है।

---

१. शैवालं जलनीली स्याच्छैवल जलजं च तत्। —भाव० पुष्पवर्ग १६।

२. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्। —अभिज्ञान० पृ० १-१६।

३. आश्चर्य० ६-१०।

शैवल चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह शीतवीर्य है और पित्तज दोषों को शान्त करता है। दाह, रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तपित में यह उपयोगी है। श्वेत प्रदर में भी इसको दिया जा सकता है।

१७०. शोभाञ्जन

संस्कृत नाम—शोभाञ्जन, शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, आक्षीब, मोचक।[१]

हिन्दी नाम—सहिजना, सहजना।

अंग्रेजी नाम—Horse Radish tree, Drum stick tree.

लैटिन नाम—Moringa abifera Lamk. **कुल**—Moringaceae.

Moringa pterygosherma Gaertn.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

शोभाजन प्रायः सारे भारत में मिलता है। हिमालय की तराई के प्रदेशों में यह अधिक है। इसको वाटिकाओं में प्रायः लगाया जाता है।

शोभाञ्जन दो प्रकार का है—वन्य और ग्राम्य। वन्य वृक्षों के पुष्प और फल कड़वे, परन्तु ग्राम्य के पुष्प और फल मीठे होते हैं। शोभाञ्जन वृक्ष छोटे या मध्यम आकार के होते हैं। इनकी काष्ठ कोमल होती है। पुष्पों के अधिक भार से ही इसकी शाखायें टूट सकती हैं। शोभाञ्जन के पत्ते लम्बे पक्षक के रूप में होते हैं, जिनमें नन्हीं पत्तियां रहती हैं। वसन्त में लगभग एक इंच लम्बे सुगन्धित पुष्प गुच्छों में लगते हैं। यद्यपि कार्तिक से ही कुछ-कुछ पुष्प आने लगते हैं। ग्रीष्म के प्रारम्भ में इस पर फलियां आ जाती हैं। ये लम्बी पतली तथा चपटी होती हैं। कच्ची फलियों की सब्जी और अचार बन सकते हैं। पकने पर यह भूरी हो जाती है। इसमें रुई के समान मज्जा भरी रहती है, जिसमें १२–१८ काले बीज रहते हैं। बीजों में तेलीय अंश होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

शोभाञ्जन वृक्षों के पुष्पों के सौन्दर्य ने कवियों को आकृष्ट किया था। शोभा को व्यक्त करने के कारण ही यह वृक्ष शोभाञ्जन कहलाया (शोभाम् अनक्ति प्रकटयति)। पुष्पों में तीक्ष्ण गन्ध होने से यह तीक्ष्णगन्ध कहा गया और मदमल कर देने के कारण आक्षीब (आक्षीबयति मदयति) कहलाया।

---

१. शोभाञ्जनः शिग्रुः तीक्ष्णगन्धकाक्षीबमोचकाः।
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १०५।

शोभाञ्जन वृक्षों को वाटिकाओं में तो लगाया ही जाता था, ये वनों में भी प्रचुर होते थे। हनूमन्नाटक के अनुसार दक्षिण वनों में प्रचुर शोभाञ्जन वृक्ष थे।[1] शोभाञ्जन पर बसन्त में पुष्प खिलते हैं। इस समय पुष्पों से लदा यह वृक्ष अति मनोरम प्रतीत होता है।[2] फाल्गुन मास में क्योंकि यह वृक्ष पुष्पों से लदा रहता है, अतः इस समय इसको काटना उचित नहीं समझा गया था।[3]

उपयोग—

पुष्पों के सौन्दर्य ने भारतीयों को शोभाञ्जन के प्रति बहुत अधिक आकृष्ट किया था। अतः इसको वाटिकाओं में विशेष स्थान मिला था। शोभाञ्जन के पत्ते, पुष्प और कच्ची फलियों को शाक के रूप में काम में लाया जाता हैं। फलियों का आचार भी बनता है। जड़ की नई शाखाओं को चिकित्सा में व्यवहार में लाते हैं। बीजों से एक सुगन्धित तेल निकलता है। इसका उपयोग घड़ी वाले और सुगन्धित तेल के व्यापारी करते हैं। यह तेल दुर्गन्ध को दबा देता है। छाल को काटने से गोंद भी प्राप्त होती है।

चिकित्सा में शोभाञ्जन उष्ण और कटु है। इसकी जड़ की छाल, फली, बीज, पत्ते और तेल सभी चिकित्सा में उपयोगी हैं। फलियों का आमवात आदि वेदनाओं में उपयोग है। जड़ की छाल मूत्रल और आर्त्तवजनक है। बीजों का चूर्ण उत्तम नस्य है। मूर्छा में इसको नाक में डालते हैं। सन्धिवात, आमवत और वातरक्त में इसकी मालिश करते हैं। गोंद ग्राही है। पुष्प को दूध में उबाल कर लेने से वाजीकरण होता है। कोमल पत्तों का शाक खाने से शौच साफ आता है।

१७१. श्यामा

संस्कृत नाम—त्रिवृत्, श्यामा, अर्धचन्द्रा, पालिन्दी, सुषेणिका, मसूरविदला, काली, कैषिका, कालमेषिका।[4]

हिन्दी नाम—काली निशोथ।

अंग्रेजी नाम—Indian Jalap

लैटिन नाम—Operaculina turpentherm Linn.

कुल—Comdbualaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग।

---

१. हनू० पृ० ६८–७०। २. बालरा० पृ० २६४।
३. कर्पूर० पृ० ४१।
४. त्रिवृच्छ्यामाऽर्द्धचन्द्रा च पालिन्दी च सुषेणिका।
मसूरविदला काली कैषिका कालमेषिका॥
—भाव० गुडूच्यादिवर्ग १९५।

नाटकों के उल्लेख—

मालविकाग्निमित्र, मालतीमाधव ।

वनस्पति का परिचय—

श्यामा का साहित्य में एक लता के रूप में वर्णन है । परन्तु कवियों ने किस लता को श्यामा कहा है, यह निर्णय करना कठिन है । निघण्टु और कोष ग्रन्थों में कई लताओं के पर्याय श्यामा हैं । इसके अतिरिक्त यह शब्द अन्य कई अर्थों का वाचक है । 'अमरकोष' में तीन प्रकार की लतायें श्यामा कही गई हैं—प्रियंगु[1], काली निशोथ[2] और सारिवा ।[3] 'वनोषधिचन्द्रोदय' में काली मिरच को श्यामा कहा गया है ।[4] 'भावप्रकाशनिघण्टु' में प्रियंगु[5], काली निशोथ,[6] सारिवा[7] और शिंशपा[8] (शीशम) को श्यामा नाम दिये गये हैं । साहित्य में षोडश वर्षीया तरुणी को श्यामा कहते हैं । अप्रसूता अंगना भी श्यामा कही गई है ।[9] काली निशोथ (त्रिवृत् श्यामा) लता अधिक सुन्दर और मनोहारी है, जो वृक्षों के आश्रय से ऊपर को बढ़ती है । अतः तरुणियों के उपमान के रूप में कही गई यही श्यामा लता होनी चाहिये ।

श्यामा लतायें वर्ष भर हरी रहती हैं, परन्तु वर्षा ऋतु में अधिक विस्तार से फैलती हैं । इसका काण्ड तीन धार वाला होता है जैसे कि तीन डोरियों को बट दिया गया हो । अतः इसको त्रिवृत् कहा गया है । छाल के श्यामल होने से यह श्यामा कहलाई । आरोही श्यामा लता के पत्ते ऊपर के २–४ इंच लम्बे, ½–३ इंच चौड़े, नीचे के कुछ छोटे, आगे से नोकीले होते हैं । वसन्त में घण्टिकाकार, २–३ इंच लम्बे, श्वेत, श्यामल पुष्प खिलते हैं । तदनन्तर ⅓—½ इंच व्यास के गोल फल आते है । इनमें काले रंग के १–४ बीज होते हैं । पत्र, पुष्प, और कोमल शाखा को तोड़ने पर श्वेत दूध जैसा स्राव निकलता है ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवि श्यामा लता की कोमलता, मनोहारिता और सौन्दर्य से बहुत प्रभावित हुये थे । उन्होंने इन लताओं को सुन्दर तरुणियों की देहयष्टि के सौन्दर्य का

१.…श्यामा तु महिलाह्वया । लता गोविन्दनी गुन्द्रा प्रियंगु फलिनी फली ।
—अमरकोष २-४-५५ ।

२.…श्यामा पालिन्द्यौ तु सुषेणिका ।
काला मसूरविदलाऽर्द्धचन्द्रा कालमेषिका । —अमरकोष २-४-१०८ ।

३. गोपी श्यामा सारिवा स्यादनन्तोत्पलशारिवा । —अमरकोष २-४-१०८ ।

४. वनोषधिचन्द्रोदय । —द्वितीय खण्ड पृ० ४५४ ।

५. भाव० कर्पूरादिवर्ग १०२ । ६. भाव० गुडूच्यादिवर्ग १९५ ।

७. भाव० गुडूच्यादिवर्ग २३६-२३७ । ८ भाव० वटादिवर्ग २४ ।

९. मेदिनीकोष ११०, ३१-३४ ।

उपमान बनाया है।[1] अप्रसूता अंगना श्यामा है, यह उनकी दृष्टि में रहा होगा। भवभूति कहते हैं कि सुन्दर युवती के कोमल हाथ श्यामा लता की शाखाओं के समान कोमल और सुन्दर होते हैं।[2] विरहपीड़ित युवक की शरीरयष्टि में भी कवियों ने श्यामा लता की कमनीयता की कल्पना की है।[3]

उपयोग—

काव्य साहित्य में श्यामा का उपयोग सुन्दर शरीरयष्टि के उपमान की कल्पना करने के लिये किया गया है। इसका चिकित्सा में भी उपयोग है। यह तीव्र रेचक है। यह दो प्रकार की होती है—श्वेत और काली। काली निशोथ ही श्यामा है तथा श्वेत की अपेक्षा तीव्र विरेचक है। इसके काण्ड के कटे टुकड़े बाजार में त्रिवृत या विधारा नाम से मिलते हैं। इसकी छाल में अधिक सक्रिय तत्त्व होता है। अधिक मात्रा में लेने से मूर्च्छा, दाह, मद और भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

१७२. श्यामाक

संस्कृत नाम—श्यामाक, श्यामक, श्याम, त्रिबीज, अविप्रिय, सुकुमार, राजधान्य, तृणबीजोत्तम।[4]

हिन्दी नाम—सावां, झिंगोरा।

अंग्रेजी नाम—Japanese Barnyard Millet.

लैटिन नाम—Echinocloa frumentacea Link.

कुल—Gramineae.

वर्ग—धान्य वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अभिज्ञानशाकुन्तल, तापसवत्सराज, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

श्यामाक धान्य प्रायः सभी स्थानों में होता है। हिमालय के कम ऊंचे स्थानों पर यह अधिक होता है। वर्षा के प्रारम्भ में अन्य धान्यों के साथ इसको भी बो दिया जाता है। यह बहुत शीघ्र लगभग ६ सप्ताह में तैयार हो जाता है।

---

१. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बधरोष्ठी। —उत्तरमेघ २०।
श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्। —उत्तरमेघ ४६।
२. श्यामविटपसदृशं हस्तम्। —मालविका० २-६।
३. मालती० ३-९।
४. श्यामाकः श्यामकः श्यामस्त्रिबीजः स्यादविप्रियः।
सुकुमारो राजधान्यं तृणबीजोत्तमश्च सः। —भाव० धान्यवर्ग ७९।

श्यामक के क्षुप एकवर्षायु होते हैं। पत्ते चौड़े और शूक बड़े होते हैं। दाने नन्हें-नन्हें गोल होते हैं। ऊपर जिलका तथा अन्दर श्वेत वर्ण का गोल, किन्तु किनारे पर नोकीला सा बीज रहता है। यही खाद्य है। 'अमरकोष' में श्यामाक की गणना तृण धान्यों में की गई है।[१]

काव्यात्मक वर्णन—

श्यामाक धान्य को प्राचीन साहित्य में तपोवनों के साथ प्रदर्शित किया गया है। तपस्वी जन इसको आश्रम के चारों ओर विद्यमान खेतों में बोते थे।[२] यह वनों में स्वयं भी उग आता था।[३] कालिदास ने वर्णन किया है कि आश्रमों की कन्यायें अपने पालतू मृगों को श्यामाक धान्य खिला कर पालती थीं।[४]

उपयोग—

प्राचीन समय में श्यामाक धान्य तपोवनों में महत्वपूर्ण खाद्य माना जाता था। यह निर्धन मनुष्यों का भी अच्छा भोजन रहा। परन्तु वर्तमान समय में इसका उत्पादन कम ही है। पोषण की दृष्टि से यह अच्छा खाद्य है। इसमें ९ प्रतिशत प्रोटीन, ६६ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, २ प्रतिशत वसा और ४ प्रतिशत खनिज हैं। विटामिन बी पर्याप्त मात्रा में होता है।

प्राचीन समय में श्यामाक धान्य पर वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया गया था। तीन प्रकार के श्यामाक बताये गये हैं—राजश्यामाक, अम्भश्यामाक और हस्ति-श्यामाक।[५]

१७३. सप्तपर्ण

संस्कृत नाम – सप्तपर्ण, विशालत्वक्, शारद, विषमच्छद।[६]
हिन्दी नाम—सतवन, सतिवन, सतौना।
अंग्रेजी नाम—Satvan Tree.
लैटिन नाम—Alstonia scholaris R. Br. **कुल**—Apocyanaceae.
वर्ग—वटादि वर्ग।

---

१. अमरकोष २-४-१६५। २. तापस० २-२२।
३. बालरा० २-१३।
४. श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितको जहाति···मृगस्ते। —अभिज्ञान० ४-१४।
५ फूड एण्ड ड्रिंक्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० २६१।
६. सप्तपर्णो विशालत्वक शारदो विषमच्छदः। —भाव० वटादिवर्ग ७४।

नाटकों के उल्लेख—

स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिमानाटक, अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रियदर्शिका, वेणीसंहार, वीणावासवदत्तम्, कर्णभार।

वनस्पति का परिचय—

सप्तपर्ण वृक्ष भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं। इसको अधिक आर्द्रता की आवश्यकता होती है। वनों में ये स्वतः होते हैं। वाटिकाओं में भी इनको लगाते हैं।

सप्तपर्ण मध्यम आकार का वृक्ष है। २५–३० फीट तक यह सीधा ऊंचा चला जाता है। शाखायें और पत्तियां विशेष क्रम में निकलते हैं। पत्तियां चक्र में होती हैं। प्रत्येक चक्र में प्रायः सात पत्तियां होती हैं। अतः यह सप्तपर्ण कहलाता है। पत्तियों की संख्या कम या अधिक भी हो सकती है। परन्तु ये होती विषम संख्या में ही हैं। अतः इसको विषमच्छद कहा गया है। प्रत्येक पत्ती ४–८ इंच लम्बी, १½—२ इंच चौड़ी तथा आगे से नोकीली होती है। शरद् में सघन हरे-श्वेत पुष्प गुच्छों में खिलते हैं। इस कारण इस वृक्ष को शारद कहा गया। इन पुष्पों में हाथी के मद जैसी विशिष्ट गन्ध होती है। तदनन्तर फलियों के गुच्छे लटक जाते हैं। सप्तपर्ण की कोमल शाखाओं, पत्तों और पुष्पों को तोड़ने पर श्वेत दूध जैसा द्रव स्रवित होता है।

काव्यात्मक वर्णन—

पुष्पों के सौन्दर्य और घनी सुखद छाया के कारण सप्तपर्ण वृक्ष भारतीयों को अति प्रिय रहे। वनों में तो ये होते ही थे, वाटिकाओं में भी इनको लगाया जाता था। बैठने के लिये इनके चारों ओर पक्की वेदी बना दी जाती थी। छाया के शीतल होने से ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप से बचने के लिये इस वेदी पर विश्राम किया जा सकता था। भास[1] और शक्तिभद्र ने[2] इस प्रकार के वर्णन नाटकों में किये हैं। कण्व के आश्रम में दुष्यन्त के पहुँचने पर प्रियंवदा आदि तापस कन्याओं ने उसको सप्तपर्ण की छाया से शीतल वेदी पर विश्राम करने के लिये आमन्त्रित किया था।[3]

कवियों ने सप्तपर्ण के पुष्पित होने का मनोरम वर्णन किया है। इस पर

---

१. सप्तपर्णस्याधस्तात्। —प्रतिमा० पृ० १७३।

२. वीणा० पृ० २०।

३. प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायामुपविश्य परिश्रमविनोदं करोतु। —अभिज्ञान० पृ० १६२।

शरद में श्वेत पुष्प खिलते हैं।[१] इनकी गन्ध अति तीव्र, मधुर और मादक होती है।[२] यह गन्ध हाथी की मद के गन्ध के समान होती है।[३]

उपयोग—

साहित्य में सप्तपर्ण का उपयोग इसकी शीतल छाया और मधुर गन्ध के लिये दिखाया गया है। इसका चिकित्सा में उपयोग है। यह उष्ण और तिक्त है। स्तम्भक, कृमिनाशक, स्तन्यजनक और कुष्ठनाशक है। विषमज्वर (मलेरिया) में इसका प्रभाव कुनैन जैसा है। इस प्रयोजन के लिये सप्तपर्ण की छाल का काढा या घनसत्व दिया जाता है। यह अतिसार और प्रवाहिका में भी उपयोगी है। स्तन्य की वृद्धि के लिये प्रसूता को इसे देते हैं। इससे ज्वर भी नहीं होता तथा पाचन ठीक रहता है। पुराने व्रणों पर इसको लगाते हैं। चर्म रोगों पर सप्तपर्ण का दूध लगाना चाहिये।

१७४. सरल

संस्कृत नाम—सरल, पतीवृक्ष, सुरभिदारुक।[४]

हिन्दी नाम—चीड़, धूप सरल।

अंग्रेजी नाम—Long-leaved Pine, Chir Pine.

लैटिन नाम—Pinus roxburghie Sargent. **कुल—**Pinaceae.

Pinus longibolia Roxb. (पुराना नाम)

वर्ग—कर्पूरादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक, मालतीमाधव, हनूमन्नाटक, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

हिमालय के ढलानों पर सरल वृक्ष १५०० से ६००० फीट की ऊंचाई तक अफगानिस्तान से आसाम और वर्मा तक मिलते हैं।

सरल (चीड़) वृक्ष ऊंचे सीधे चले जाते हैं और बहुत ऊपर जाकर इनकी शाखायें फूटती हैं। ये १००–१५० फीट तक हो जाते हैं। तना सीधा और गोल होता है। घेरा ६–१२ फीट तक हो जाता है। छाल बहुत खुरदरी, गढेदार, १–२

---

१. वेणी० पृ० १२।

२. अधिकटुगन्धसप्तच्छदवनम्। —स्वप्न० पृ० १८८।

३. गन्धः सप्तच्छदानां सपदि गजमदामोदमोहं करोति। —प्रिय० २-२।
गजाश्च सप्तच्छददानगन्धिनः। —कर्णभार० १-११।

४. सरलः पतिवृक्षः स्यात् तथा सुरभिदारुकः।
—भाव० कर्पूरादि

इंच मोटी, बाहर से पीली-श्वेत और अन्दर से रक्ताभ होती है। काटने पर लकड़ी अन्दर से पीली और तीक्ष्ण गन्ध वाली होती है। अतः इसको पीतवृक्ष कहा गया है। अमरसिंह इसको पीतद्रु कहते हैं।[१] शाखाओं के अन्त में लम्बी ६–१२ इंच की सुई के सदृश पत्तियां झुण्डों में लगती हैं। वर्षा के प्रारम्भ में पत्तियां झड़ कर वृक्षों के नीचे फैल जाती हैं। वसन्त में पुष्प आते हैं और प्रति दूसरे वर्ष फल लगते हैं। कुछ फलों में चिलगोजे जैसे बीज होते हैं। इनकी गिरी स्वादिष्ट होती है। काण्ड पर चीरा लगाने से द्रव बहता है। यह सूख कर गाढ़ा हो जाता है। इसमें विशेष गन्ध होती है। इसको बिरोजा या गन्धबिरोजा कहते हैं। सुगन्धित होने के कारण इसका नाम सुरभिदारूक हुआ।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने सरल वृक्षों का विस्तृत वर्णन किया है। कालिदास का यह प्रिय वृक्ष है। हिमालय के वर्णन के प्रसंग में वे पुनः-पुनः इसका उल्लेख करते हैं।[२] सरल की छाल काटने पर सुगन्धित रस स्रवित होता है। अतः वे वर्णन करते हैं कि जब खुजली मिटाने के लिये हाथी सरल वृक्षों पर अपने गाल रगड़ते हैं तो छाल छिल जाती है। इससे स्रवित रस पर्वत शिखरों को सुगन्धित कर देता है।[३]

कुछ कवियों ने दक्षिण वनों में भी सरल वृक्ष की विद्यमानता का वर्णन किया है।[४] राजशेखर के अनुसार राम-रावण युद्ध में राक्षसों पर प्रहार करने के लिये वानरों ने सरल वृक्षों को भी उखाड़ा था।[५] परन्तु ये वर्णन कवियों की असावधानता के परिचायक है। सरल वृक्ष दक्षिण में नहीं होते। सम्भव है कि इन प्रसगों में कवियों का अभिप्राय अन्य किसी वृक्ष से रहा हो, जिसका निर्णय करना कठिन है।

भास ने वर्णन किया है कि सरल वृक्षों पर वर्षा में पुष्प आते है। ये अति सुगन्धित होते हैं।[६] कालिदास के वर्णनों के अनुसार पर्वतों पर जब वायु बहती है तो सरल वृक्षों के परस्पर टकराने से शीघ्र आग लग जाती है।[७] वर्तमान समय में इस प्रकार के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं।

---

१. पीतद्रुः सरलः। —अमरकोष २-४-६०

२. रघुवंश ४-७६, कुमारसम्भव १-९, पूर्वमेघ ५३।

३. कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति। —कुमारसम्भव १-९।

४. मालती० पृ० ३८०, हनू० पृ० ६८–७०।

५. बालरा० पृ० ५५८। ६. अविमारक० पृ० १८२।

७. सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा······वह्निः। —पूर्वमेघ ७५।

उपयोग—

सरल (चीड़) का उपयोग इसकी लकड़ी के कारण मुख्य है। यह कोमल और चीरने योग्य है। इसके लम्बे-चौड़े तख्ते बन जाते हैं तथा फिनिश अच्छी आती है। इसका उपयोग मकानों और फर्नीचर के बनाने में किया जाता है। इसकी पेटियाँ भी बनती हैं। परन्तु इसमें दीमक जल्दी लगती है। ऊँचे पर्वतों पर यह विकार नहीं होता।

चीड़ की छाल पर चीरा लगाने से बिरोजा स्रवित होता है। अनेक उद्योगों में यह प्रयोग में आता है। बिरोजे का ऊर्ध्वपातन करने से तारपीन का तेल प्राप्त होता है।

सरल का चिकित्सा में भी उपयोग है। सरल की लकड़ी स्वेदल, मूत्रल और कफहर है। इसका धुआँ कृमियों को नष्ट करता है। लकड़ी को वस्त्र में लपेट कर घृत में डुबा कर जलाने से टपका तेल कर्णशूल को दूर करता है। बिरोजे की मरहम व्रणरोपक है।

१७५. सर्ज

संस्कृत नाम—सर्जक, अजकर्ण, साल, शाल, मरिचपत्रक।[1]

हिन्दी नाम—बड़ा साल

अंग्रेजी नाम—Sal Tree.

लैटिन नाम—Vateria indica Linn.

कुल—Dipterocaceae.

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

अविमारक

वनस्पति का परिचय—

सर्ज वृक्ष साल का ही एक भेद है। निघण्टु ग्रन्थों में शाल (साल) और सर्ज को पर्यायवाची कहा गया है। परन्तु ये दोनों एक ही जाति के कुछ भिन्न वृक्ष हैं। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में सर्जक को साल का ही एक भेद कहा गया है। यह बड़ा साल भी कहलाता है।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान के अनुसार इन दोनों का कुल एक ही (Dipterocarpaceae) है, परन्तु वृक्ष भिन्न ही हैं। शाल को शोरिया रोबस्टा गारटन (Shorea robusta Gaertn) और सर्ज को वेटेरिया इन्डिका लिन (Vateria indica Linn) कहा जा सकता है।

---

१. सर्जकोऽन्योऽजकर्णः स्याच्छालो मरिचपत्रकः। —भाव० वटादिवर्ग २०।

सर्ज वृक्ष साल के समान ही, परन्तु उससे बड़े होते हैं। जहाँ साल होता है, वहाँ सर्ज भी होता है। परन्तु ये दक्षिण और पश्चिम भारत के वनों में अधिक हैं। सर्ज वृक्ष बहुत हरा-भरा और सुहावना दिखाई देता है। पत्ते ४–१० इंच लम्बे, ३–४ इंच चौड़े अण्डाकार नोकीले होते हैं। पुष्प आधे से तीन चौथाई इंच घेरे के गोलाकार तथा फल दो से ढाई इंच गोलाकार होते हैं।

सर्ज वृक्षों से चीरा लगाने से एक रस बहता है। यह साल से निकलने वाले रस के समान ही है। सर्ज से यह अधिक मात्रा में निकलता है तथा सर्जरस कहलाता है। सूखा हुआ सर्ज रस राल के नाम से बाजार में बिकता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत रूपकों में सर्ज का उल्लेख दक्षिण भारत के वनों में किया गया है।[१] भास ने वर्णन किया है कि यह वृक्ष वर्षा में पुष्पित होता है तथा इन पुष्पों में अतिशय सुगन्धि होती है। उसने साल और सर्ज का अलग-अलग वर्णन किया है।[२] परन्तु साल वृक्ष वसन्त में पुष्पित होता है, अतः भास का यह वर्णन विचारणीय है।

उपयोग—

सर्ज वृक्षों का उपयोग साल के समान ही है। यह गृहनिर्माण और फर्नीचर के लिये उपयोगी है। सर्जरस से बनाया तेल फोड़ा, फुंसी, घाव और खुजली और क्रमियों को दूर करने वाला है।

१७६. सर्षप

संस्कृत नाम—रक्त सर्षप–सर्षप, कटुक, स्नेह, तुन्तुभ, कदम्बक,।[३] श्वेत (पीत) सर्षप–गौर सर्षप, सिद्धार्थ।[४]

हिन्दी नाम—सरसों, पीली सरसों, लाल सरसों

अंग्रेजी नाम—Mustard.

लैटिन नाम—Brassica campestris linn.

कुल—Brassicaceae.

वर्ग—धान्य वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

मालतीमाधव, हनूमन्नाटक

---

१. मालती० पृ० ३८०, हनू० पृ० ६८–७०।

२. बकुलसरलसालसर्जार्जुनकदम्बनीपनिचुलप्रभृतीनि मेघकालवल्लभानि परमसुरभीणि······। —अविमारक पृ० १२२।

३. सर्षपः कटुकः स्नेहस्तुन्तुभश्च कदम्बकः। भाव० धान्यवर्ग ६६।

४. गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते। —भाव० धान्यवर्ग ६६।

वनस्पति का परिचय—

सरसों की खेती प्रायः सारे भारत में की जाती है। यह इस देश का एक प्रसिद्ध तिलहन है। सरसों को गेहूँ, चना आदि के साथ वर्षा की समाप्ति होने पर शरद् में (कार्तिक) बो दिया जाता है। क्षुप ३–४ फीट ऊँचा होता है। पत्ते बड़े आकार के काण्ड की जड़ से सटे निकलते हैं। फाल्गुन में इस पर पीत वर्ण के सुन्दर पुष्प खिल जाते हैं। चैत्र में फलियाँ लग कर वैशाख में पक जाती है। २–३ इंच लम्बी फलियों में लाल या पीले रंग के गोल नन्हें-नन्हें बीज होते हैं। इनका सरसों के नाम से व्यवहार किया जाता है। बीजों में ३५ से ४५ प्रतिशत तेल होता है। बीजों को पेल कर तेल अलग कर लिया जाता है।

सरसों दो प्रकार की होती है—पीली और लाल। यह बीजों के भेद से है। लाल सरसों के बीज काले-लाल रंग के और पीली सरसों के श्वेत-पीले रंग के होते हैं। इसको सिद्धार्थ कहते हैं।[१] यह अधिक अच्छी समझी जाती है। सरसों के तेल में विशिष्ट तीक्ष्ण गन्ध होती है।

काव्यात्मक वर्णन—

सरसों से प्राचीन आर्य बहुत समय से परिचित हैं। तेल निकाला जाने के कारण ही इसका सर्षप नाम (सरति स्नेहः अस्मात्) प्रसिद्ध हुआ। भूत बाधाओं से रक्षा करने तथा बालकों को कुदृष्टि से बचाने के लिये सर्षप के प्रयोग किये जाते थे। इसके लिये श्वेत सरसों (सिद्धार्थ) का उपयोग होता था। भवभूति का कथन है कि बालकों को भूत-बाधा से बचाने तथा कुदृष्टि से रक्षा करने के लिये उनके माथे पर श्वेत सरसों (सिद्धार्थ) रखनी चाहिये।[२] विवाह आदि मंगल अवसरों पर कन्या को श्वेत सरसों से अलंकृत करने का वर्णन कालिदास ने किया है।[३] 'हनूमन्नाटक' में वर्णन है कि अग्नि के समीप रखे सरसों के दाने भुनकर फूट जाते हैं।[४]

उपयोग—

सरसों का मुख्य उपयोग इसके तेल के कारण है। यह बाह्य प्रयोग में मालिश करने और अन्तः प्रयोग में खाने के काम आता है। भारतवर्ष में यह मुख्य खाद्य तेल है, जिससे वसा की बहुत कुछ आवश्यकता पूरी होती है। सरसों की खली की उत्तम खाद बनती है। तीक्ष्ण गन्ध के कारण पशु इसको खाना पसन्द नहीं करते। सरसों के कोमल पत्ते और पुष्पों को शाक के रूप में खाया जाता है।

---

१. सिद्धार्थस्त्वेष धवलः। अमरकोष २-९-९८।

२. अकारणस्मेरमनोहराननः शिखाललाटार्पितगौरसर्षपः।

—मालती० ०-६।

३. सा गौरसिद्धार्थनिवेशयद्भिः। —कुमारसम्भव ७-७।

४. हनू० १३-२०।

सरसों का उपयोग भूत-बाधाओं को दूर करने के लिये भी है। **श्वेत** सरसों के दाने मन्त्रपूत करके बालकों की शिखा में बाँधे जाते हैं तथा मंगल अवसरों पर बखेरे जाते हैं। कुदृष्टि और भूत-बाधाओं को दूर करने के लिये सरसों, राई, मिरच और नमक को अग्नि में डाल कर उसका धुआं देते हैं।

सरसों चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण और कटु है। इसके बीज दीपन, हृदयोत्तेजक और मूत्रल हैं। शारीरिक वेदनाओं को दूर करने के लिये तेल में कपूर मिला कर मालिश करनी चाहिये। खली की अच्छी पुलटिस बनती है।

१७७. सल्लकी (शल्लकी)

संस्कृत नाम—शल्लकी (सल्लकी), गजभक्ष्या, सुवहा, सुरभीरसा, महेरुणा, कुन्दुरुकी, वल्लकी, बहुस्रवा।[१]

हिन्दी नाम—सलई, सालई

अंग्रेजी नाम—Indian Olibanum Tree

लैटिन नाम—Boswellia Serrata Roxb. ex. Cole Br.

कुल—Burseraceae.

वर्ग—वटादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख—

विक्रमोर्वशीय, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, महावीरचरित, हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

सल्लकी वृक्ष हिमालय की तराइयों में, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दक्षिण भारत और बिहार-उड़ीसा के वनों में मिलते हैं।

सल्लकी मध्यम आकार (लगभग ३० फीट) के सुन्दर वृक्ष होते हैं। ये शुष्क स्थानों में ढालदार भूमि पर समूहों में उगते हैं। काण्ड पर काफी ऊँचाई पर शाखायें और पत्ते होते हैं। काण्ड ३–५ फीट घेरे का और १०–१५ फीट ऊँचा होता है। छाल चिकनी, लालिमा लिये पीली या हरी-श्वेत, परन्तु पतली होती है। पत्तियाँ नीम के समान छोटी लगभग २ इंच लम्बी, आधा इंच चौड़ी नोकीली होती हैं पत्तियों को मसलने से विशिष्ट सुगन्ध आती है। अतः इसको सुवहा और सुरभीरसा कहते हैं। वसन्त में पतझड़ होकर ग्रीष्म में श्वेत पुष्प खिलते हैं। नन्हें पुष्प मंजरियों में विकसित होते हैं। तदनन्दर छोटे अण्डाकार गुठली वाले फल आते हैं। पकने पर ये पीले पड़ जाते हैं और तीन भागों मे फट जाते हैं।

---

१. सल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभीरसा।
महेरूणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा॥ —भाव० वटादिवर्ग २२।

सलई के वृक्ष की शाखा लगाने पर दूसरा वृक्ष उग आता है। इसके काण्ड पर चीरा लगाने से विशेष सुगन्धित द्रव्य बहता है, जो जमकर गोंद बन जाता है। इसको कुन्दुरु कहते हैं। अतः यह वनस्पति कुन्दुरुकी (सलईगूगल) भी कहलाती है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों को सल्लकी वृक्ष अति प्रिय रहा है। वृक्षों के सौन्दर्य और सुरभि से वे बहुत प्रभावित हुये थे। अतः इस वनस्पति को उन्होंने सुरभि और सुवहा नाम दिया।[१] नाटककारों ने इस वृक्ष की उपस्थिति को दक्षिण भारत के वनों में वर्णित किया है।[२] दण्डकारण्य में प्रचुर थे।

हाथियों का प्रिय होने से सल्लकी को गजभक्ष्या नाम दिया गया था। कोमल शाखाओं में गांठें होती हैं, जिनको मसलने से तीखी मधुर गन्ध आती है इस कारण इसके पत्ते हाथियों को अति प्रिय हैं।[३] अमरसिंह ने इसके गजभक्ष्या, रसा और ह्लादिनी नाम दिये हैं।[४] भवभूति इनको हाथियों का प्रिय आहार कहते हैं। वनवास की अवधि में दण्डकारण्य में निवास करती हुई सीता ने एक हस्ति-शावक पाल रखा था। उसको वह सल्लकी के पत्ते खिलाया करती थी।[५]

सल्लकी के पत्तों को तोड़ने से रस टपकता है। कालिदास को इस रस की गन्ध बहुत पसन्द थी। इसमें आसव के समान तीक्ष्ण गन्ध आती है।[६]

उपयोग—

संस्कृत कवियों को सलई का सौन्दर्य और सुरभि बहुत पसन्द थी। इसके पत्ते हाथियों को अति प्रिय रहे। सलई की लकड़ी कोमल और हलकी होती है। इसका उपयोग पैकिंग के बक्से बनाने के लिये किया जा सकता है।

सलई का चिकित्सा में भी उपयोग है। यह शीतल, पुष्टिकर, ग्राही और त्वचा के लिये हितकर है। सलई के पुष्पों और फलों का उपयोग कफ-वात के विकारों और अरुचि में किया जाता है। सलई से प्राप्त गोंद (कुन्दुरु) का चिकित्सा में विशेष उपयोग है। यह शीतल, कषाय-मधुर, दीपन, पाचन, ग्राही, मूत्रल,

१. अमरकोष २-४-१२३।

२. मालती० पृ० ३८०, हनू० पृ० ६८–७०।

३. शिशिरकटुकषा यस्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः॥ —मालती० ९-६।
महावीर० ५-४१।

४. अमरकोष २-४-१२४।

५. सीतादेव्याः स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभकः यः पुरा वर्धितोऽभूत्। —उत्तर० ३-६।

६. आसवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम्। —विक्रमो० ४-४४।

मेधावर्धक और बलवर्धक है। बाह्य रूप से लगाने से यह शोथ और वेदना को दूर करती है। यह व्रणों का शोधन और रोपण करती है।

१७८. सिन्दुवार (सिन्धुवार)

संस्कृत नाम—सिन्दुवार, श्वेतपुष्प, सिन्दुक, सिन्दुवारक, नीलपुष्पी, निर्गुण्डी, शेफाली।[1]

हिन्दी नाम—सिनुआर, सम्भालू, निर्गुण्डी

अंग्रेजी नाम—Filea baved chaste, Indian Privet.

लैटिन नाम—Vitex rigundo Linn.

कुल—Verbenaceae.

वर्ग—गुडूच्यादि वर्ग

नाटकों के उल्लेख –

पद्मप्राभृतक, रत्नावली, हनूमन्नाटक, कर्पूरमञ्जरी, विद्धसालभञ्जिका

वनस्पति का परिचय—

सिन्दुवार (सिन्धुवार) के पौधे प्राय: सारे भारत में होते हैं। वनों में ये स्वत: उगते हैं। भारतीय वाटिकाओं में इनको शौक से लगाया जाता था।

सिन्धुवार के दो भेद निघण्टु तथा कोष ग्रन्थों में दिये गये हैं—नील पुष्प का और श्वेत पुष्प का। संस्कृत नाटकों में नीलपुष्प और श्वेत पुष्प दोनों ही प्रकार के सिन्धुवारों का संकेत मिलता है। 'धन्वन्तरि निघण्टु' ने भी दोनों प्रकार के सिन्धुवारों का वर्णन किया है। परन्तु यह नीले पुष्पों का अधिक मिलता है और यही निर्गुण्डी कहलाता है।

सिन्धुवार के गुल्म होते हैं। प्राय: ये ६–१० फीट के, किन्तु पुराने इससे भी अधिक ऊँचे हो जाते हैं। सारे पौधे पर रोयें रहते हैं। एक पत्रक में तीन से पाँच पत्तियाँ होती हैं। पत्ती २–५ इंच लम्बी, $१\frac{1}{2}$–$२\frac{1}{2}$ चौड़ी और आगे से भाले के समान नोकदार होती है। पत्तियों का ऊपर का पृष्ठ हरा और निचला पृष्ठ श्वेताभ होता है। २–८ इंच लम्बी मंजरियों में छोटे गुच्छों में पुष्प खिलते हैं। ये नीले या श्वेत होते हैं। तदनन्तर चौथाई इंच व्यास के गोलाकार फल आते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

प्राचीन आर्यों को सिन्दुवार के पौधों का सौन्दर्य बहुत पसन्द था। भारतीय

---

१. सिन्दुवार: श्वेतपुष्प: सिन्दुक: सिन्दुवारक:।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा॥
—भाव० गुडूच्यादि वर्ग ११३।

वाटिकायें प्राय: इनसे सुशोभित रहती थीं।[१] नाटककारों ने इनका बहुधा वर्णन किया है। वनों में भी ये देखे जा सकते थे।[२] अत्यधिक शीत को सहन कर सकने की शक्ति के कारण इस पौधे का नाम सिन्दुवार हुआ (सिन्दुं शीतं वृणोति वारयति वा)। कोषकारों ने सिन्दुवार का सम्बन्ध इन्द्र देवता से माना है, अत: इसको इन्द्रसुरस और इन्द्राणिका नाम भी दिये गये थे।[३]

सिन्दुवार पुष्प वसन्त में विकसित होते हैं।[४] यद्यपि इसके श्वेत पुष्पों का भी वर्णन है[५], तथापि नीले पुष्प अधिक प्रदर्शित किये गये हैं। नीले पुष्पों के कारण इसको निर्गुण्डी, नीलपुष्प और नीलसिन्धुक नाम दिये गये थे।

सिन्दुवार पुष्प युवतियों को अधिक प्रिय थे। वे इनके आभूषणों को शौक से पहनती थीं।[६] ग्रीष्म ऋतु में सिन्धुवार पुष्पों की मालायें वक्ष पर धारण करके युवतियाँ इतराती हुई घूमती देखी जा सकती थीं।[७]

उपयोग—

काव्य साहित्य में सिन्दुवार का उपयोग इसके पुष्पों के सौन्दर्य के कारण है। पुष्पों को आभूषण के रूप में धारण करने का भी उल्लेख हुआ है। यह चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण और कटु-तिक्त है। वातहर, कफहर, मूत्रल, आर्तवजनक, शोथनाशक, विषहर, बल्य और रसायन औषधि के रूप में इसका प्रयोग विहित है। यह सभी शोथयुक्त व्याधियों में प्रयुक्त होती है। पत्तों को पीस कर गरम करके शोथ के स्थानों में बाँधना चाहिये। आमवात और गृध्रसी में इसके पत्तों का सेक करते हैं। इसमें पत्तों का क्वाथ भी पिलाया जाता है। कीड़ों से रक्षा के लिये सिन्दुवार के पत्तों को चावल, वस्त्र और पुस्तकों में भी रखा जाता है।

१७९. हरिद्रा

संस्कृत नाम—हरिद्रा, काञ्चनी, पीता, निशा (रात्रि के सभी पर्याय), वरवर्णिनी, कृमिघ्नी, हलदी, योषित्प्रिया, हट्टविलासिनी[८]।

---

१. रत्ना० पृ० ३६। २. हनू० पृ० ६८–७०।
३. अमरकोष २-४-६८।
४. पद्म० श्लोक ५. कर्पूर० १-१९, विद्ध० पृ० १४।
५. रत्ना० पृ० ३, विद्ध० पृ० १७। ६. पद्म० श्लोक ३६।
७. स्तनपरिसरे सिन्दुवाराणां हार:। —कर्पूर० ४-७।
८. हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाऽऽख्या वरवर्णिनी।
कृमिघ्नी हलदी योषित्प्रिया हट्टविलासिनी॥
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १९६॥

हिन्दी नाम—हल्दी, हलदी।
अंग्रेजी नाम—Turmeric
लैटिन नाम—Curcuma longa Linn. **कुल**—Zingiberaceae.
Curcuma domestica Linn.
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

विद्धसालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण।

वनस्पति का परिचय—

हलदी की खेती प्रायः सारे भारत में की जाती है। यह बंगाल, बम्बई और तामिलनाडु में अधिक होती है।

हलदी के पौधे बहुवर्षायु होते हैं और अदरक के समान होते हैं। पौधे की ऊँचाई २–३ फीट होती है। शिखर भाग में पत्तियों का समूह होता है। पत्तियों के मध्य में ने ६ इंच तक लम्बा नाल निकलता है। इस पर पीत वर्ण के पुष्प मंजरियों में विकसित होते हैं। हलदी का मूल कन्द के रूप में होता है। गांठदार कन्द में एक मूल से अनेक मोटी जड़ें फूटती हैं। यह कन्द और जड़ें ही हलदी के रूप में व्यवहृत होती हैं। कन्द गोलाकार या अण्डाकार होता है और उससे अंगुली के समान मोटी, लम्बी, गोल जड़ें निकलती हैं। कन्द की अपेक्षा ये जड़ें अधिक अच्छी मानी जाती हैं। इनको सुखा कर प्रयोग में लाते हैं। हलदी की फसल लगभग १० महीनो में तैयार हो जाती है। पत्तियों के सूख जाने पर जड़ों को खोदकर निकाल लिया जाता है।

बाजार में आने वाली हलदी को विशेष विधि से तैयार किया जाता है। जड़ों को साफ करके जल में तब तक उबालते हैं, जब तक कि कोमल न हो जावें। कुछ पत्तों को भी साथ उबालते हैं तथा साथ में कुछ गोबर डालते हैं। इससे रंग अच्छा आ जाता है। फिर सुखा कर रगड़ कर साफ करके काम में लाते हैं।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत कवियों ने हरिद्रा का कतिपय स्थानों पर वर्णन किया है। ताजी हलदी का कन्द काटने पर अन्दर से पाण्डुर वर्ण का निकलता है[1]। परन्तु सूखने पर यह गहरे पीत वर्ण का हो जाता है। हलदी के अंकुर भी पीत वर्ण के कहे गये हैं। बुझते हुये दीपक की ज्वाला की उपमा हलदी के अंकुर से दी गई है[2]।

नाटककारों ने हरिद्रा का उपयोग प्रसाधन के निमित्त से भी दिखाया है। सौन्दर्य की वृद्धि तथा त्वचा को उज्ज्वल करने के लिये हलदी को लगाते है[3]। तेल में

---

१. विद्ध० २–१७। २. बादला० ७–१।
३. कर्पूर० ३–१।

मिला कर हलदी का उबटन बनाने का रिवाज बहुत पुराना है। त्वचा के सौन्दर्य के लिये उपयोगी होने के कारण हरिद्रा को काञ्चनी (काञ्चयते शरीरमनया) और वरवर्णिनी (वरः वर्णः अनया) कहा गया था[१]।

उपयोग—

हलदी का भोजन के मसालों के रूप में प्रयोग बहुत प्राचीन है। हलदी को डाले विना भारतीय भोजन का स्वाद ही प्रतीत नहीं होता। सौन्दर्य के प्रसाधन के रूप में हरिद्रा का भारतीय जनजीवन में महत्व है। यह रंगने के भी काम आता है।

हलदी चिकित्सा में भी उपयोगी है। यह उष्ण और कटु-तिक्त है। कफ और वात को शान्त करती है तथा कफ को बाहर निकालती है। विभिन्न वेदनाओं में तथा चोट लगने पर हलदी का चूर्ण खिलाया जाता है। इसको विष नाशक, कृमिनाशक और रक्तवर्धक माना गया है। बाह्य आघात लगने पर हलदी का लेप वेदना को कम करता है। यह व्रणों का शोधन और रोपण भी करती है। गम्भीर आघात में हलदी में चूना मिला कर लेप करना भारत में बहुत प्रचलित है।

१८०. हरीतकी

संस्कृत नाम—हरीतकी, अभया, पथ्या, कायस्था, पूतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्या, विजया, जीवन्ती, रोहिणी[२]।

हिन्दी नाम—हरड़, हरर, हर्रे।

अंग्रेजी नाम—Myrobalans, Chebulic Myrobalans.

लैटिन नाम—Terminalia Chebula Retz. **कुल**—Combretaceae.
Terminalia Citrina Roxb.

वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों का उल्लेख—

हनूमन्नाटक।

वनस्पति का परिचय—

हरीतकी वृक्ष भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं। पर्वतों पर ये लगभग ३००० फीट की ऊँचाई तक मिलते हैं। ये वृक्ष प्रायः वनों में ही उपलब्ध हैं।

निघण्टु ग्रन्थों में सात प्रकार की हरीतकी का वर्णन किया गया है—विजया,

---

१. अमरकोष २-६-४१।

२. हरीतक्यभया पथ्या कायस्था पूतनाऽमृता।
हैमवत्यव्यथा चापि चेतकी श्रेयसी शिवा॥
वयस्था विजया चापि जीवन्ती रोहिणीति च॥—भाव० हरीतक्यादिवर्ग ६-७

रोहिणी, पूतना, अमृता, अभया, जीवन्ती और चेतकी[1]। ये भेद प्रायः वे ही हैं, जो हरीतकी के पर्यायवाची शब्दों में आये हैं। स्थान तथा गुणों के भेद से ये भेद किये गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से हरीतकी तीन प्रकार की है—छोटी हरड़, पीली हरड़ और बड़ी हरड़। ये भेद एक ही वृक्ष की हरड़ के हो सकते हैं। कच्ची अवस्था में गुठली पड़ने से पूर्व जो फल वृक्ष से गिर पड़ते हैं, या तोड़ कर सुखा लिये जाते हैं, वे छोटी हरड़ हैं। जो फल बड़े होकर भी अपरिपक्व अवस्था में तोड़ कर सुखाये जाते हैं, वे पीली हरड़ हैं। जो परिपूर्ण परिपक्व अवस्था में संगृहीत किये जाते हैं, वे बड़ी हरड़ हैं। हरड़ की अनेक प्रजातियाँ मिलती हैं। इनमें दो मुख्य हैं टर्मिनेलिया चेबुला टर्मिनेलिया सिट्रीना। पहली प्रकार की हरड़ का वृक्ष मध्यम आकार का ३०-४० फीट ऊँचा होता है तथा अधिकतर यही मिलता है। दूसरी प्रजाति का वृक्ष पूर्वी बंगाल, आसाम और बर्मा में मिलता है तथा ८० फीट तक ऊँचा हो जाता है।

हरीतकी वृक्ष सामान्यतः मध्यम आकार के ३०–४० फीट ऊँचे होते हैं। मजबूत तना सीधा गोल चला जाता है और ऊपर जाकर कोमल गोल शाखायें फूटती हैं। पत्ते ४–८ इंच लम्बे, १½–२ इंच चौड़े, चिकने, हरे, आगे से नौकीले होते हैं। इस पर फाल्गुन में पतझड़ होता है। वसन्त में मंजरियों के रूप में श्वेत पुष्प आते हैं। तदनन्तर फल लगते हैं। ये एक इंच लम्बे अण्डाकार होते हैं। ग्रीष्म में लगने प्रारम्भ होकर शरद तक परिपक्व होते हैं। फलों में बाहर छिलका, उसके अन्दर गुठली होती है। हरीतकी के फल का छिलका और गुदा व्यवहार में आता है और गुठली फेंक दी जाती है। गुठली में विद्यमान मज्जा से तेल निकल सकता है।

काव्यात्मक वर्णन—

संस्कृत नाटकों में हरीतकी का उल्लेख कम ही है। केवल 'हनुमन्नाटक' में उल्लेख है कि दक्षिण वनों में हरीतकी के प्रचुर वृक्ष हैं[2]। 'पद्मप्राभृतक' में त्रिफला का उल्लेख हुआ है[3], जिसका हरीतकी एक अनिवार्य घटक है।

उपयोग—

लोक में हरीतकी बहुत अधिक उपयोगी है। मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये इसको बहुत अधिक लाभदायक माना गया है यहाँ तक प्रसिद्ध है कि जिसके घर में माता नहीं है, उसकी माता हरीतकी है (नास्ति यस्य गृहे माता तस्य माता हरीतकी)। हरीतकी के गुणों तथा उपयोगिता का बोध इसके नामों से ही हो जाता है।

---

१. विजया रोहिणी चैव पूतना चाऽमृताऽभया।
जीवन्ती चेतकी चेति पथ्यायाः सप्त जातयः। —भाव० हरीतक्यादिवर्ग

२. हनू० पृ० ६८–७०।   ३. पद्म० पृ० ७८।

सभी विकारों का हरण करने के कारण यह हरीतकी है (हरति सर्वानिव विकारान्)। यह सभी प्रकार के रोगों से भयरहित करने के कारण अभया (न भयम् अस्या:) है। पीड़ाओं को दूर करने के कारण अव्यथा है (न व्यथा यस्या:)। मार्ग में हितकारी होने से पथ्या है (पथि हिता)। शरीर को स्वस्थ रखने के कारण कायस्था है (कायस्तिष्ठत्यनया)। शरीर को पवित्र करने के कारण पूतना है (पूतं करोति)। अमृत तुल्य होने से अमृता है। हिमालय पर होने से हेमवती है। चेतना उत्पन्न करने से चेतकी है (चेतयति रोगिण:)। सबसे उत्तम होने से श्रेयसी (प्रशस्यतमा) है। कल्याण करने वाली होने से शिवा है।

हरीतकी उष्ण वीर्य और पंचरसा है। विपाक में मधुर है। तीनों दोषों को शान्त करती है। दीपन, पाचन और मृदुविरेचक है। इसको रसायन और बुद्धिवर्धक माना गया है। इसके सेवन से शरीर की सभी प्रक्रियायें सुधरती हैं। हरीतकी अच्छी व्रणरोपक भी है। पुराने व्रावों में इसका ड्रेसिंग लाभप्रद है। इसका बारीक चूर्ण दन्तमंजन के लिये उपयोगी है। रसायन के रूप में इसका ६ ऋतुओं में निम्न अनुपान से प्रयोग करना चाहिये—

१. वर्षा ऋतु में सैन्धव के साथ
२. शरद् ऋतु में शर्करा के साथ
३. हेमन्त ऋतु में शुण्ठी के साथ
४. शिशिर ऋतु में पिप्पली के साथ
५. वसन्त ऋतु में मधु के साथ
६. ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ

१८१. हिङ्गु

संस्कृत नाम—सहस्रवेधि, जतुक, बाह्लीक, हिङ्गु, रामठ[१]।
हिन्दी नाम—हींग।
अंग्रेजी नाम—Asafoetida.
लैटिन नाम—Ferula Narthex Boiss. **कुल**—Anethaceae.
Ferula foetida Bunge Regel.
वर्ग—हरीतक्यादि वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—
मृच्छकटिक।

---

१. सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिङ्गु रामठम्।
—भाव० हरीतक्यादिवर्ग १००।

वनस्पति का परिचय—

हींग इस नाम के पौधे का गोंद रूप निर्यास है। ये पौधे भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती देशों—फारस और अफगानिस्तान में अधिक होते हैं। भारतवर्ष में इन्हीं प्रदेशों से अधिकांश हींग आती है। प्राचीन समय में ये प्रदेश बाह्लीक, रामठ आदि नामों से प्रसिद्ध थे। अतः हींग को ये नाम दे दिये गये। भारतवर्ष में काश्मीर में कहीं-कहीं हींग के पौधे मिलते हैं।

हींग की अनेक प्रजातियाँ मिलती हैं। इनमें दो मुख्य हैं—फेरूला नार्थेक्स और फेरुला फेटीडा। हींग के पौधे ५–१० फीट तक ऊँचे बेर की झाड़ियों के तुल्य होते हैं। दोनों प्रजातियाँ एक जैसी हैं। किन्तु फेरुला फेटीडा की जड़ लम्बी कन्द के रूप में गाजर के समान होती है। इस पर दो से चार के समूहों में रोमों से युक्त लम्बे पत्ते एक से दो फीट तक होते हैं। शाखाओं के अन्त भाग में छोटे-छोटे पीत वर्ण के पुष्प छत्तों के रूप में खिलते हैं। तदनन्तर इस पर चौथाई इंच के लगभग अण्डाकार फल आते हैं। इन फलों को अंजुदान कहते हैं। यूनानी हकीम इनका प्रयोग करते हैं।

हींग को प्राप्त करने के लिये जड़ के ऊपर के भाग को नंगा करके तने पर चीरा देते हैं। इससे दूध जैसा द्रव्य बहकर जम जाता है। इसको खुरच कर एकत्रित कर लेते हैं। तदनन्तर दूसरे स्थान पर काटते हैं। इस प्रकार तब तक काटते रहते हैं, जब तक कि रस बहना बन्द न हो जावे। इस प्रकार यह संग्रह तीन महीने तक होता रहता है। वृक्ष के चार वर्ष की आयु का होने पर इससे हींग लेना प्रारम्भ करते हैं। एक वृक्ष से दो से छः छटांक तक हींग प्राप्त हो जाता है।

हींग का ताजा रस श्वेत या पीला होता है। यह बायु के स्पर्श से उत्तरोत्तर गुलाबी और लाल होता जाता हैं। अन्त में लाल-भूरा हो जाता है। इसको चमड़े के थैलों में भरकर बाहर भेजा जाता है। अन्दर की गर्मी और दबाव के कारण मध्य भाग का हींग चमकदार और शुद्ध हो जाता है। इसको पृथक् करके हीरा हींग के नाम से बेचा जाता है। बाजार में प्राप्त हींग में मिलावट बहुत की जाती है।

शुद्ध हींग तीव्र गन्ध वाला और स्वाद में कटु-तिक्त होता है। यह जल में सम्पूर्ण रूप से घुल जाता है तथा दूधिया घोल बनता है। जलाने पर यह पूरा जल जाता है और तीन से पाँच प्रतिशत राख बचती है। हींग को गन्धक को तेजाब के साथ गरम करने पर लाल-भूरे रंग का घोल बनता है।

काव्यात्मक वर्णन—

हींग (हिङ्गु) का संस्कृत नाटकों में बहुत कम उल्लेख आया है। केवल शूद्रक ने इसका उल्लेख किया है कि स्वर को मधुर करने के लिये हींग का प्रयोग किया जा सकता है। हींग, जीरा, मोथा, वचा और शुण्ठी को गुड़ में मिला कर खाने से

स्वर मधुर होता है।[१] अथवा हींग और काली मिरच के साथ कोयल के मांस को घृत-तेल में छोंक कर खाने से स्वर मधुर होता है।[२]

उपयोग—

भोजन के मसाले के रूप में हींग का प्रयोग भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है। इसको घी या तेल में भून कर दाल-सब्जी में छोंक देते हैं। इससे भोजन सुपच और स्वादिष्ट होता है।

हींग का चिकित्सा में भी काफी व्यवहार है। यह उष्ण तथा कटु है। कफ और वात को शान्त करता है। वेदनाओं का शमन करता है। दीपन और पाचन है। पाचक चूर्णों में हींग को प्रायः डाला जाता है। हिंग्वष्टक तथा हिंग्वादि चूर्ण इसके प्रसिद्ध योग हैं। यह कृमियों को नष्ट करता है और आतंवजनक है। प्रसव के पश्चात् इसको देने से गर्भाशय शुद्ध होता है। आध्मान होने पर इसको पेट पर मलना चाहिये। बिच्छू के काटने पर दर्श स्थान पर लगाना चाहिये। इससे सिद्ध तेल कानों की वेदना दूर करता है और व्रणों का शोधन-रोपण करता है।

१८२. हिन्ताल

संस्कृत नाम—हिन्ताल।

हिन्दी नाम—खजूरभेद, हिन्ताल।

अंग्रेजी नाम—Akind of date tree.

लैटिन नाम—Phoenix palundosa Roxb.

कुल—Palmae.

वर्ग—आम्रादिफल वर्ग।

नाटकों के उल्लेख—

पादताडितक, हनूमन्नाटक, बालरामायण

वनस्पतियों का परिचय—

हिन्ताल वृक्ष भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होते हैं। जिन स्थानों में ताल और खजूर वृक्ष होते हैं, वहाँ हिन्ताल भी होते हैं।

---

१. हिंगूंज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचायाः ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति।

— मृच्छ० ८-१३।

२. हिंगूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पराभृतीयमासं कथं नाहं मधुरस्वर इति॥

—मृच्छ० ८-१४।

हिन्ताल वृक्ष ताल के समान ही है, परन्तु उससे छोटे होते हैं। कोष ग्रन्थों में इसको ताल का ही एक प्रकार बताया गया है। किन्तु यह उससे छोटा है (हीनः अल्पः तालः हिन्तालः)। अमरसिंह ने हिन्ताल की गणना ताल, नारियल, सुपारी और खजूर के साथ तृण द्रुमों में की है।[1]

काव्यात्मक वर्णन—

हिन्ताल का उल्लेख कई कवियों ने किया है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार दक्षिण वनों में हिन्ताल वृक्ष प्रचुर होते हैं।[2] राजशेखर ने वर्णन किया है कि राम-रावण युद्ध में राक्षसों पर प्रहार करने के लिये वानरों ने हिन्ताल वृक्षों को भी उखाड़ा था।[3] सम्भवतः हिन्ताल वृक्ष समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में प्रचुर होते थे।[4]

उपयोग—

हिन्ताल वृक्षों का उपयोग ताल के समान ही है।

परिशिष्ट—१

नाटकों का संक्षिप्त परिचय

१. भास—

संस्कृत नाटकों की रचना का वास्तविक इतिहास भास से प्रारम्भ होता है। यद्यपि भास से पूर्व भी संस्कृत भाषा में रूपकों की रचना के प्रमाण प्राप्त होते हैं, तथापि उस युग का कोई नाटक वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। अतः संस्कृत नाटकों की रचना के इतिहास को भास से स्वीकार करने में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। भास कालिदास से पूर्ववर्ती थे, यह स्वयं कालिदास की कृति 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना से सिद्ध है, जबकि कालिदास उनको अपना पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं।[5] भास के नाटक भी बहुत समय तक अप्राप्य रहे, जबकि सन् १९१२ ई० में श्री टी गणपतिशाह उनको प्रकाश में लाये। भास का समय विवादास्पद है, तथापि वे कालिदास से पूर्ववर्ती थे कालिदास को यदि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में माना जावे तो उनका समय ईसवी पूर्व चतुर्थ-पंचम शताब्दी होना चाहिये।

भास की रचनायें—

भास की १३ रचनायें उपलब्ध होती हैं। ये सभी नाटक हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

---

१. अमरकोष २-४-१६६। २. हनू० पृ० ६८-७०।
३. बालरा० पृ० ५२८। ४. पाद० श्लोक ६१।
५. प्रथितयशसां भाससोमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य………।
— मालविका० प्रस्तावना

(i) **प्रतिज्ञायोगन्धरायण**—यह चार अंकों का एक नाटक है। यह नाटक वत्सराज उदयन की कथा से सम्बद्ध है। इसमें उदयन और वासवदत्ता की प्रेमकथा वर्णित है। अपने मन्त्री योगन्धरायण की सहायता से वत्सराज उदयन अपनी प्रेयसी वासवदत्ता को साथ लेकर उज्जयिनी से भाग कर अपने देश में आने में समर्थ होते हैं।

(ii) **स्वप्नवासवदत्तम्**—यह छः अंकों का नाटक है। इसमें भी वत्सराज उदयन की कथा है। वासवदत्ता को लावणक ग्राम की अग्नि में जला प्रसिद्ध करके योगन्धरायण उदयन का विवाह मगधराज की पुत्री पद्मावती से करा देता है। बाद में वासवदत्ता का भी मिलन हो जाता है।

(iii) **उरुभगं**—यह एकांकी नाटक है। इसका कथानक 'महाभारत' की कथा से सम्बद्ध है। द्रौपदी के अपमान से क्रोधित भीम युद्ध में दुर्योधन की जांघ को तोड़ कर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करता है।

(iv) **दूतवाक्य**—यह भी एकांकी नाटक है। इसका कथानक भी 'महाभारत' से सम्बद्ध है। कौरवों और पाण्डवों में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर कृष्ण दौत्य का कार्यभार लेकर दोनों पक्षों में सन्धि कराने का प्रयत्न करते है। परन्तु सफल नहीं होते।

(v) **पंचरात्र**—यह तीन अंकों का नाटक है। इसका कथानक 'महाभारत' से सम्बद्ध होने पर भी कुछ भिन्न हो गया है। एक यज्ञ का आयोजन करके दुर्योधन ने द्रोण से दक्षिणा मागने को कहा। पाण्डवों को उनका आधा राज्य दे दिया जावे, यह मांगने पर दुर्योधन ने कहा कि यदि वे पांच रात्रि के अन्दर मिल जावेंगे, तो वह ऐसा कर देगा। द्रोण के प्रयत्नों से पाण्डव पांच रात्रियों में मिल जाते है तथा दुर्योधन उनका राज्य वापिस कर देता है।

(vi) **बालचरित**—'बालचरित' नाटक में पांच अंक हैं। इसका कथानक भी 'महाभारत' से सम्बद्ध है। इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर कंसवध तक की कथा है।

(vii) **दूतघटोत्कच**—यह एकांकी नाटक है। इसका कथानक भी 'महाभारत' में सम्बद्ध है। अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण सन्धि के लिये पुनः प्रयत्न करते हैं तथा भीम के पुत्र घटोत्कच को दूत बनाकर भेजते हैं। परन्तु वहाँ दुर्योधन उसका अपमान करता है।

(viii) **कर्णभार**—यह भी एकांकी नाटक है तथा इसका कथानक भी 'महाभारत' से सम्बद्ध हैं। कृष्ण और अर्जुन ब्राह्मण का वेश धारण करके युद्धक्षेत्र में घायल पड़े कर्ण से स्वर्ण का दान मांगते हैं। कर्ण अपना दान्त तोड़ कर उनको दान देता है।

(ix) **मध्यम व्यायोग**—यह व्यायोग नामक एकांकी नाटक है। अपनी माता

हिडिम्ब के व्रत की पारणा के लिये घटोत्कच एक ब्राह्मण पुत्र को पकड़ लेता है। परन्तु मध्यम पाण्डव भीम उस ब्राह्मण पुत्र के जीवन की रक्षा करते हैं।

(x) **प्रतिमानाटक**—यह सात अंकों का नाटक है। इसका कथानक 'रामायण' से सम्बद्ध है। राम को राज्याभिषेक के स्थान पर १४ वर्ष का वनवास मिलता है। राम के जाने पर दशरथ की मृत्यु होकर उसकी प्रतिमा मन्दिर में रख दी जाती है। प्रतिमा को देख कर भरत को सारी घटना का ज्ञान होता है और वे बिना अयोध्या में प्रवेश किये राम को वापिस लाने के लिये वनों में जाते हैं। परन्तु राम की पादुका लेकर ही वापिस आते हैं। तदनन्तर सीताहरण, रावणवध और राम-राज्याभिषेक तक की घटनायें इस नाटक में हैं।

(xi) **अभिषेकनाटक**—इस नाटक में ६ अंक है। इसका कथानक भी 'रामायण' से सम्बद्ध है। इस नाटक में किष्किन्धा काण्ड से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनायें संक्षेप से दी गई है।

(xii) **अविमारक**—यह ६ अंकों का नाटक है। इसका कथानक काल्पनिक है। इसमें राजकुमार अविमारक और राजकुमारी कुरंगी की प्रणयकथा का निबन्धन किया गया है।

(xiii) **चारुदत्त**—इस नाटक में चार अंक है। इसका कथानक भी काल्पनिक है। यह अपूर्ण प्रतीत होता है। इस नाटक में उज्जयिनी की एक गणिका वसन्तसेना और एक निर्धन सार्थवाह ब्राह्मण चारुदत्त के प्रणय का वृत्तान्त है। वसन्तसेना जब चारुदत्त के लिये अभिसार की तैयारी करती है, तभी यह समाप्त हो जाता है। इसी नाटक को आधार बना कर शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण की रचना की थी।

२. शूद्रक—

शूद्रक की कृति 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना से विदित होता है कि वह एक राजा था, जिसने अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन करके अपने पुत्र को राज्य दे दिया और १०० वर्ष १० दिन की आयु को प्राप्त करके अपने आपको अग्नि के अर्पित कर दिया :

शूद्रक का समय भी विवादास्पद है। परन्तु यह निर्विवाद मान लिया गया है कि यह भास और कालिदास के मध्यवर्ती काल में हुआ था। यदि कालिदास को गुप्तयुगी माना जावे तो इनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० का होता है। परन्तु कालिदास का समय ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी का मानने पर शूद्रक का समय तीसरी-दूसरी शताब्दी ई० पू० का होना चाहिये।

शूद्रक की रचनायें—

शूद्रक की केवल एक ही रचना उपलब्ध है—'मृच्छकटिक'। शास्त्रीय दृष्टिकोण से यह प्रकरण नाम का रूपक है और इसमें दस अंक हैं। कवि ने कथानक

को भास के 'चारुदत्त' से लेकर उसका विकास तथा विस्तार इस रूपक में किया है। इसमें वसन्तसेना नाम की एक गणिका चारुदत्त नाम के एक निर्धन सार्थवाह ब्राह्मण से प्रणय करती है। राजा का साला नगर-कोतवाल शकार भी वसन्तसेना को पाना चाहता है। परन्तु वसन्तसेना शकार को ठुकरा कर चारुदत्त को ही चाहती है। अवसर पाकर शकार वसन्तसेना को मार डालता है तथा उसका आरोप चारुदत्त पर मढ देता है। चारुदत्त को न्यायालय से मत्यु दण्ड मिलता है। परन्तु वसन्तसेना मरी नहीं है, केवल मूर्छित हुई हैं। समय पर भेद खुल जाता है तथा राज्य में विप्लव होकर शकार का बहनोई राजा मार दिया जाता है। चारुदत्त मुक्त हो जाता है। नये राजा के आदेश से वसन्तसेना को कुलवधू पद प्राप्त होता है। चारुदत्त के अनुरोध से शकार को क्षमा कर दिया जाता है। रूपक में एक स्थान पर वसन्त सेना चारुदत्त के पुत्र रोहसेन के खिलौने (मिट्टी की गाड़ी) को अपने स्वर्णालंकारों से भरती है। इसी आधार पर नाटक का नामकरण 'मृच्छकटिक' हुआ है।

३. कालिदास—

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि के रूप में कालिदास को सबसे अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। कालिदास के जीवन वृत्तान्त और समय के सम्बन्ध में अनेक जन श्रुतियाँ और किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध में अनिश्चितता और सन्दिग्धता उत्पन्न हो गई है। तथापि भारतीय परम्पराओं के अनुसार वे सम्राट विक्रमादित्य की राजसभा के राजकवि थे। अत: विक्रमादित्य का जो समय निर्धारित हो, वही इनका समय मानना चाहिये।

भारतीय परम्परा में विक्रमादित्य को ईसवों पूर्व प्रथम शताब्दी का माना गया है। इन्होंने शकों को पराजित करके विक्रम सम्वत् का प्रचलन किया था, जो ई० पू० ५७ से आरम्भ होता है। अत: विक्रमादित्य का यही समय है और उनके राजकवि कालिदास का भी यही समय मानना उचित है। परन्तु वर्तमान समय में कालिदास के इस समय को अनेक विद्वान् समालोचक नहीं स्वीकार करते। परन्तु यह स्थान उनके समय को सिद्ध करने के लिये युक्ति-प्रत्युक्ति का नहीं है। भारतीय परम्पराओं का अनुसरण करके उनका समय मान लेते हैं।

कालिदास की रचनायें—

कालिदास की सात रचनायें प्रसिद्ध हैं—'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'मेघदूत', 'ऋतुसंहार', 'अभिज्ञानशाकुन्यल', 'विक्रमोवंशीय' और 'मालविकाग्निमित्र'। इनमें अन्तिम तीन नाटक हैं। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ उचित है।

(i) अभिज्ञानशाकुन्तल—'अभिज्ञानशाकुन्तल' सात अंकों का नाटक का है। इसको संस्कृत का ही नहीं, विश्व का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। इसका कथानक 'महाभारत' के आदि पर्व तथा 'पद्मपुराण' के स्वर्ग खण्ड से लिया गया है। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रय में पहुँच कर उनकी पालिता पुत्री

शकुन्तला से गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। शकुन्तला गर्भवती हो जाती है। राजधानी पहुँच कर दुर्वासा के शाप के कारण वे इस विवाह को भूल जाते है। राजा द्वारा दिया गया कोई अभिज्ञान शाप की निवृत्ति का हेतु है। कण्व इस विवाह को स्वीकार करके गर्भवती शकुन्तला को हस्तिनापुर भेजते है। परन्तु दुष्यन्त उसको पहचानते नहीं। उनके द्वारा दी गई अंगूठी को शकुन्तला खो चुकी है। दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत शकुन्तला को उसकी माता उठा कर ले जाती है। संयोग से दुष्यन्त को वह अंगूठी एक मछियारे के माध्यम से प्राप्त होती है तथा उनको सारी घटना स्मरण आ जाती है। तदनन्तर इन्द्र उनको अपनी सहायता के लिये बुलाता है। लौटते हुये हेमकूट पर्वत पर भगवान् मारीच के आश्रम में उनका पत्नी और पुत्र से मिलन हो जाता है।

(ii) **विक्रमोर्वशीय**—'विक्रमोर्वशीय' पांच अंकों का नाटक है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से यह त्रोटक नाम का रूपक हैं। इसमें स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी ओर प्रतिष्ठानपुर के राजा पुरुरवा की प्रणय-गाथा कहीं गई है। कथा का मूल 'ऋग्वेद' के पुरुरवा-उर्वशी संवाद सूक्त में है। उत्तरवर्ती साहित्य में 'यजुर्वेद', 'शतपथ ब्राह्मण', 'विष्णुपुराण', 'मत्स्यपुराण' और 'महाभारत' में इस कथा का विस्तार हुआ है। कालिदास ने इस कथानक को मनोरम नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया हे।

(iii) **मालविकाग्निमित्र**—यह पांच अंकों का नाटक है। इसको कालिदास की प्रथम नाट्य कृत्ति माना गया है। इस नाटक में पुष्यमित्र के पुत्र और विदिशा के शासक और विदर्भ देश की राजकुमारी मालविका की प्रणय कथा है। मालविका के सौन्दर्य को देखकर राजा उस पर मोहित हो जाता है। अनेक घटनाओं के अनन्तर उसको मालविका प्राप्त हो जाती है। अग्निमित्र इतिहासप्रसिद्ध राजा हुआ है। उसका ई० पू० दूसरी शताब्दी माना गया है।

४. विशाखदत्त—

कालिदास और विशाखदत्त के समयों के मध्य में एक लम्बा अन्तराल है। इस मध्य के किसी विशेष कवि की नाट्य कृति की उपलब्धि नहीं होती। यदि कोई लिखी भी गई हो, तो वह प्राप्त नहीं है। केवल अश्वघोष की तीन नाट्य रचनाओं—'शारिपुत्रप्रकरण' आदि की जानकारी अवश्य मिली है। परन्तु वे अपूर्ण हैं तथा सामान्यत: उपलब्ध नहीं है।

विशाखदत्त के समय के विषय में मतभेद है। तथापि 'मुद्राराक्षस' नाटक के भरत वाक्य में "पार्थिवश्चन्द्रगुप्त:" पाठ को अधिक प्रामाणिक मान कर उनको गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त का समकालीन मान लिना गया है। यह समय ३८०-४१३ ई० का सिद्ध होता है। 'मुद्राराक्षस' की प्रस्तावना के अनुसार विशाखदत्त के पितामह सामन्त वटेश्वरदत्त और पिता भास्करदत्त थे।

विशाखदत्त की रचनायें—

विशाखदत्त की दो रचनायें कही जाती है—'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त'।

(i) **मुद्राराक्षस**—यह सात अंकों का राजनीतिप्रधान नाटक है। चन्द्रगुप्त के सहयोग से नन्दवंशी राजा महापद्मनन्द का चाणक्य वध करा देता है। चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट् बनता है। परन्तु नन्द का स्वामिभक्त मन्त्री राक्षस चन्द्रगुप्त का वध करने का प्रयत्न करता है। दोनों पक्षों की राजनीतिक चालों में चाणक्य विजयी होता है। उसका नीति के जाल में फंसकर राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

(ii) **देवीचन्द्रगुप्त**—यह नाटक पूरा उपलब्ध नहीं हैं। इसके कुछ अंश भोज के 'शृंगारप्रकाश' और रामचन्द्र-गुणचन्द्र' के 'नाट्यदर्पण' में मिलते हैं। इन अंशों से विदित होता हैं कि इस नाटक का कथानक गुप्तवंशी राजाओं से सम्बद्ध है। शकों के आक्रमण से पीड़ित रामगुप्त अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज के लिये अर्पित करना स्वीकार करता है। परन्तु ध्रुवदेवी के वेश में चन्द्रगुप्त जाता है और शकराज का वध करता है। तदनन्तर वह अपने बड़े भाई रामगुप्त का वध करके ध्रुवदेवी से विवाह कर लेता है।

५. बिज्जिका—

संस्कृत कवियित्रियों में बिज्जिका का नाम प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार यह मगध की राजकन्या और कर्णाट देश की रानी थी। इसकी कृत 'कौमुदीमहोत्सव' की राजनीतिक घटनाओं और दण्डी के उद्धरणों के आधार पर इसको सातवीं शताब्दी के मध्य भाग का माना जा सकता है।

बिज्जिका की रचनायें—

बिज्जिका की केवल एक कृति उपलब्ध है—'कौमुदीमहोत्सव'। सुभाषित ग्रन्थों में विज्जिका के नाम से उद्धत कुछ पद्यों के आधार पर अनुमान होता है कि उसकी कुछ अन्य रचनायें भी रही होंगी। परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

'कौमुदीमहोत्सव' पांच अंकों का नाटक है। इसमें मगध राज्य के राजनीतिक षड्यन्त्रों को कथानक को आधार बनाया गया है। मगध के राजा सुन्दर वर्मा को उसका दत्तक पुत्र चण्डसेन मार कर राज्य पर अधिकार कर लेता है। सुन्दरवर्मा के पुत्र कल्याणवर्मा को मन्त्री किसी प्रकार बचा ले जाते हैं तथा वह महर्षि जाबीलि के आश्रम में शिक्षा पाता है। यहाँ उसका शूरसेन देश की राजकुमारी कीर्तिमती से साक्षात् होता है। दोनों प्रणय पाश में आबद्ध हो जाते है। कल्याण वर्मा अपने पिता के राज्य को पुनः अधिकार में ले लेता है। तदनन्तर सका कीर्तिमती के साथ विवाह हो जाता है।

६. चतुर्भाणी के लेखक (शूद्रक, ईश्वरदत्त, वररुचि और श्यामिलक)--

'चतुर्भाणी' में चार रूपक सम्मिलित हैं, जो शास्त्रीय दृष्टिकोण से भाण हैं। चारों भाणों में केवल एक-एक अंक है। ये हैं—'पद्मप्राभृतक', 'धूर्तविटसंवाद', 'उभयाभिसारिका' और 'पादताडितक'। इनके लेखक शूद्रक, ईश्वरदत्त, वररुचि और श्यामिलक क्रमशः हैं।

१९२२ ई० में, जबकि 'चतुर्भाणी' का प्रथम प्रकाशन हुआ था, तो श्री एम० रामकृष्ण कवि और एस० के० रामनाथ शास्त्री ने भूमिका में 'पद्मप्राभृतक' के लेखक शूद्रक और 'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक को एक ही व्यक्ति माना था। 'उभयाभिसारिका' के लेखक वररुचि को पाणिनि का समकालीन माना गया था। 'धूर्तविटसंवाद' के लेखक को मगध का निवासी माना था, जिसका समय निर्धारित करना कठिन था। 'पादताडितक' का लेखक श्यामिलक काश्मीरी माना गया था, जिसका समय ८००-९०० ई० के मध्य निर्धारित किया गया। परन्तु बाद में इस कथन को अप्रामाणिक सिद्ध किया गया गया। अनेक समालोचकों ने इन चारों भाणों को लगभग एक समय की रचना स्वीकार किया तथा इनका समय गुप्त वंश का अन्तिम युग पाँचवीं-छठी शताब्दी स्वीकार किया गया है।

(i) **पद्मप्राभृतक**—उज्जयिनी का कर्णीसुल मूलदेव नगर की एक वारांगना देवदत्ता का प्रणयी है। वह उसकी बहन देवसेना से प्रेम करने लगता है। देवसेना भी मूलदेव को चाहती है। मूलदेव के मित्र शश नामक विट की सहायता से प्रणयी-युगल का मिलन होता है।

(ii) **धूर्तविटसंवाद**—इस भाण में कुसुमपुर के देविलक नामक विट के नगर भ्रमण का वृत्तान्त वर्णित है। इसमें नगर की वेशवीथियों का मनोरंजक चित्रण किया गया है। देविलक को मार्ग में विश्वलक नाम का धूर्त विट मिलता है। दोनों अपने वार्तालाप में वेश्याओं के प्रेम को उचित तथा सुखद मानते हैं।

(iii) **उभयाभिसारिका**—कुसुमपुर के नगर श्रेष्ठी कुवेरदत्त प्रेमिका नारायण-दत्ता नाम की गणिका है। यह गणिका अपने प्रेमी से रूठ जाती है। कुबेरदत्त की प्रार्थना पर वेशकाचल नाम का विट उसको मनाने के लिये घर से निकलकर वेशवीथी की ओर जाता है। परन्तु वसन्त-ऋतु ही रूठी प्रेमिका के मान को भंग कर देता है। वीणाचार्य विश्वावसु के घर पर प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है।

(iv) **पादताडितक**—सार्वभौमनगर (उज्जयिनी) में विष्णुनाग ब्राह्मण की रखैल मदनसेनिका नृत्य करते हुये अपने प्रेमी के सिर पर पैर रख देती है। गणिका के इस आचरण पर ब्राह्मणपीठिका में विचार होता है। वहाँ कोई निर्णय न होने पर इसका विचार विटों की परिषद् में होता है। विटों के चौधरी विष्णुनाग की अरसिकता की भर्त्सना करते हैं। वे निर्णय देते हैं कि विष्णुनाग के केशों का कोई

सुन्दरी श्रृंगार न करे। मदनसेनिका अपने आलता लगे पैर को उनके सिर पर रखे तथा विष्णुनाग इस दृश्य को टुकुर-टुकुर देखे।

७. हर्ष—

संस्कृत नाट्यकारों में सम्राट् हर्ष ने बहुत अधिक आदर पाया है। इनके पिता प्रभाकरवर्धन स्थाण्वीश्वर के राजा थे। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्य का अधिकार बड़े भाई राज्यवर्धन को मिला। परन्तु उसकी हत्या हो जाने पर हर्षवर्धन ने राज्य सम्भाला। इनका राज्यकाल ६०६–६४८ ई० है।

हर्ष की रचनायें—

हर्ष के नाम तीन नाटक प्रसिद्ध हैं—'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द'। यद्यपि कुछ समालोचकों ने इनके कृतित्व पर शंका प्रकट की है, तथापि अधिकांश समालोचकों ने इनको हर्ष की कृतियाँ स्वीकार किया है।

(i) **प्रियदर्शिका**—'प्रियदर्शिका' चार अंकों की नाटिका है। अंग देश के राजा दृढवर्मा अपनी कन्या प्रियदर्शिका को वत्सराज को देना चाहते हैं। परन्तु कलिंगराज अंग देश पर आक्रमण करके दृढवर्मा को कैद कर लेता है। प्रियदर्शिका किसी प्रकार निकल जाती है। वह घटनाओं के चक्र में उदयन के सेनापति विजयसेन के हाथ लगती है तथा उदयन के अन्तःपुर में आरण्यका के नाम से दासी के रूप में रहने लगती है। राजोद्यान में आरण्यका को देखकर उदयन उस पर आसक्त हो जाते हैं। कुछ समय के अनन्तर आरण्यका का भेद खुलता है कि वह राजा दृढवर्मा की पुत्री उदयन की रानी वासवदत्ता का मौसेरी बहन है। वासवदत्ता अपनी बहन को उदयन के लिये अर्पित कर देती है।

(ii) **रत्नावली**—'रत्नावली' चार अंकों की नाटिका है। सिंहल देश की राजकुमारी रत्नावली का विवाह वत्सराज उदयन से होना निश्चित हो जाता है। उसको एक पोत में बिठाकर कौशाम्बी को भेजा जाता है। मार्ग में पोत के टूट जाने पर बहती हुई रत्नावली को कौशाम्बी के व्यापारी बचाकर यौगन्धरायण को सौंप देते हैं। अब यह राजप्रासाद में जाकर उदयन के अन्तःपुर में सागरिका के नाम से दासी का कार्य करने लगती है। उसको देखकर उदयन मोहित हो जाता है। अनेक घटनाओं के अनन्तर विदित होता है कि सागरिका सिंहल की राजकुमारी और वासवदत्ता की ममेरी बहन है। वासवदत्ता अपनी बहन को उदयन के लिये प्रदान कर देती है।

(iii) **नागानन्द**—'नागानन्द' पाँच अंकों का नाटक है। विद्याधरराज जीमूतकेतु वृद्धावस्था में वानप्रस्थ ग्रहण करके तपोवन में रहने लगते हैं। उनका पुत्र जीमूतवाहन भी राज्य को छोड़कर पिता की सेवा के लिये तपोवन में ही रहता है। जीमूतवाहन का परिचय सिद्धराज विश्वावसु की बहन मलयवती से होता है और दोनों का विवाह हो जाता है। शंखचूड नाग के प्राणों की रक्षा के लिये जीमूतवाहन

अपना शरीर अर्पित कर देते हैं। आहार को नाग न जानकर गरुड़ चकित होता है और उसको जीवित करने के लिये अमृत लेने जाता है। इसी समय भगवती गौरी प्रकट होती हैं। जीमूतवाहन के माता-पिता और पत्नी भी वहाँ पहुँच जाते हैं। भगवती की कृपा से जीमूतवाहन जीवित हो जाता है और विद्याधरों के चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया जाता है। गरुड भी अमृत की वर्षा करके सब नागों को जीवित कर देता है।

८. भट्टनारायण—

'वेणीसंहार' के रचयिता भट्टनारायण मृगराज उपाधि से विभूषित थे। इतिहास से विदित होता है कि बंगाल के राजा आदित्यसूर (आदिसूर) के द्वारा कान्यकुब्ज से पाँच ब्राह्मण बुलाये गये थे। इनमें भट्टनारायण भी एक थे। आदिसूर को हर्ष के एक सामन्त माधवगुप्त का पुत्र माना गया है। उसने ६७५ ई० में बंगाल में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। अत: भट्टनारायण का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

भट्टनारायण की रचनायें—

भट्टनारायण की केवल एक ही रचना 'वेणीसंहार' उपलब्ध होती है। इनकी कुछ अन्य रचनाओं के संकेत भी इतर साहित्य से प्राप्त होते हैं, परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। 'वेणीसंहार' ६ अंकों का नाटक है। कथानक महाभारत से लिया गया है। सन्धि के प्रस्ताव के फलीभूत न होने से कौरवों और पाण्डवों में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। एक-एक करके दुर्योधन के पक्ष के सभी प्रमुख वीर युद्ध में मारे जाते हैं। दुर्योधन भागकर एक जलाशय में छिप जाता है। पाण्डव उसको खोज लेते हैं। गदा के प्रहार से दुर्योधन की जांघ को भीम तोड़ देता है। रक्तरंजित भीम दुर्योधन के रक्त से द्रौपदी की वेणी को सँवारता है। वेणी सँवारने की घटना के आधार पर ही इस नाटक का नाम 'वेणीसंहार' हुआ।

९. महेन्द्रविक्रम वर्मा—

महेन्द्रविक्रमवर्मा पल्लववंशी राजा थे। इनकी राजधानी कांची थी। इनका राज्यकाल ६००–६२५ ई० रहा। पुलकेशिन् द्वितीय के कांची पर किये गये आक्रमण को इन्होंने विफल कर दिया था। अत: इनको शत्रुमल्ल नामक विरुद प्राप्त हुआ था।

महेन्द्रविक्रम वर्मा की रचनायें—

महेन्द्रविक्रमवर्मा की एक ही रचना मिलती है—'मतविलास'। यह छोटा सा एकांकी प्रहसन है। कांची में सत्यसोम नाम का कापालिक अपनी प्रेयसी देवसेना के साथ मदिरालयों में घूमता है। उसका पात्र कपाल कहीं रह जाता है। उसको

खोजते हुये उसका झगड़ा एक शाक्य भिक्षु से होता है। अन्त एक उन्मत्तक से वह कपाल उसको मिल जाता है।

१०. भवभूति--

संस्कृत नाटककारों में भवभूति को महनीय स्थान प्राप्त है। पद्मपुर के निवासी कश्यप गोत्र के ब्राह्मण थे। इनका कुल 'कृष्ण यजुर्वेद' की 'तैत्तिरीय सहिता' का अनुयायी था और यह उदुम्बर नाम से प्रसिद्ध था। इनके पितामह भट्टगोपाल, पिता नीलकण्ठ, माता जातूकर्णी और गुरु ज्ञाननिधि थे। भवभूति का समय ६५०–७५० के मध्य का माना गया है। ये कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा की राजसभा में थे।

भवभूति की रचनायें--

भवभूति की तीन रचनायें प्रसिद्ध हैं—'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव'।

(i) **महावीरचरित**—'महावीरचरित' सात अंकों का नाटक है। इसकी कथा 'रामायण' से ली गई है। इसमें राम के विवाह से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा है। शिव का धनुष तोड़कर राम-सीता से विवाह के अधिकारी बनते हैं और परशुराम को पराजित करते हैं। परन्तु इसी समय माल्यवान् के षड्यन्त्र से उनको सीता और लक्ष्मण सहित वनों को जाना पड़ता है। शूर्पणखा का नासिका-छेदन, खर-दूषण के साथ युद्ध, सीताहरण आदि घटनाओं के अनन्तर रावण का वध करके वे अयोध्या लौटते हैं। यहाँ उनका राज्याभिषेक होता है।

(ii) **उत्तररामचरित**—यह भी सात अंकों का नाटक है। इसकी कथा भी 'रामायण' से सम्बद्ध है। गुप्तचरों से सीता के चरित्र के विषय में लोकप्रवाद को सुनकर राम उसको निर्वासित कर देते हैं। शम्बूक के वध के सम्बन्ध में दण्यकारण्य में पहुँचकर सीता के स्पर्श से उनको नवजीवन मिलता है। राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ के लिये छोड़े गये अश्व को वाल्मीकि के आश्रम में पढ़ने वाले लव-कुश पकड़ लेते हैं। युद्ध में ये बालक, जो राम के ही पुत्र हैं, राम की सेना को और लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु को जीत लेते हैं। राम के प्रभाव से युद्ध बन्द होता है। तदनन्तर वाल्मीकि के आश्रम में 'रामायण' नाटक का अभिनय होता है। इसके प्रभाव से राम पुनः सीता और लव-कुश को स्वीकार कर लेते हैं।

(iii) **मालतीमाधव**—'मालतीमाधव' दस अंकों का रूपक है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह प्रकरण है। कथानक काल्पनिक है। पद्मावती के अमात्य भूरिवसु, विदर्भ के अमात्य देवरात और भिक्षुणी कामन्दकी बचपन के सहपाठी हैं। देवरात का पुत्र माधव उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिये पद्मावती जाता है। कामन्दकी के प्रयत्नों से माधव और मालती एक-दूसरे को देखते और प्रेम करने लगते हैं।

पद्मावती के राजा के कहने से भूरिवसु अपनी कन्या का विवाह नन्दन से करना स्वीकार कर लेता है। परन्तु मालती गुप्त रूप से माधव के साथ निकल जाती है और माधव का मित्र मकरन्द कन्या का वेश धारण करके नन्दन के साथ विवाह कर लेता है। नन्दन की बहन मकरन्द अपनी प्रेमिका मदयन्तिका के साथ घर से निकल जाता है। इधर मालती को एक कापालिक महिला कपालकुण्डला उठाकर ले जाती है। परन्तु कामन्दकी की पूर्व शिष्या उसकी रक्षा करती है। अन्त में माधव-मालती का मिलन होता है।

११. शक्तिभद्र—

दक्षिण भारतीय कवि शक्तिभद्र ने नाट्यरचना के क्षेत्र में प्रभूत यश अर्जित किया था। ये शक्यार नामक दक्षिण भारतीय अभिनेताओं में बहुत लोकप्रिय थे। कहा जाता है कि वे शंकराचार्य के शिष्य थे और अपना नाटक उनको सुनाया था। एक बार नाटक की पाण्डुलिपि के अग्नि में जल जाने पर शंकराचार्य ने अपनी स्मरण शक्ति से इसको पुन: लिखवा दिया था। केरल के प्रसिद्ध कवि तथा राजा कुलशेखरवर्मन् से उनका परिचय था। कुलशेखरवर्मन् का समय नवम शताब्दी ई० माना गया है। अत: शक्तिभद्र का भी यही समय होना चाहिये।

शक्तिभद्र की रचनायें—

शक्तिभद्र की एक रचना 'आश्चर्यचूडामणि' नाटक पूरा उपलब्ध है। इस नाटक की प्रस्तावना के अनुसार इन्होंने 'उन्मदवासवदत्तम्' आदि कुछ और भी नाटक लिखे थे। एक पाण्डुलिपि 'वीणावासवदत्तम्' मिली है, जिसको 'उन्मदवासवदत्तम्' ही माना गया है।

(i) **आश्चर्यचूडामणि**—यह छ: अंकों का नाटक है। इसका कथानक 'रामायण' से लिया गया है। इसमें राम के वनवास से लेकर राम द्वारा रावण को मार अयोध्या की ओर लौटने तक की घटनाओं का वर्णन है। दण्डक वन में निवास करते हुये शूर्पणखा का नाक-कान काटना, खर-दूषण वध, सीताहरण, सुग्रीव से मित्रता, रावणवध, सीता की अग्निपरीक्षा आदि घटनाओं के बाद राम पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर अयोध्या लौटते हैं।

(ii) **वीणावासवदत्तम्**—इस नाटक के तीन अंक ही प्राप्त हैं। यह चौथे अंक के प्रारम्भ में ही त्रुटित हो जाता है। इस नाटक में वत्सराज उदयन और अवन्तिकन्या वासवदत्ता के प्रणय की गाथा है। शिव के आदेश से अवन्तिनरेश प्रद्योत वासवदत्ता का विवाह उदयन से करना चाहता है। वह छल करके उदयन को पकड़ कर उज्जयिनी मँगवा लेता है। उदयन को मुक्त कराने के लिये यौगन्धरायण एक उन्मत्तक के वेश में उज्जयिनी की ओर प्रस्थान करता है।

१२. यशोवर्मा—

कवि के तथा कवियों के आश्रयदाता के रूप में यशोवर्मा की संस्कृत साहित्य के इतिहास में बहुत प्रसिद्धि है। यशोवर्मा का कन्नौज में राज्य ७००–७५० ई० में रहा था। कहा जाता है कि ७२७ ई० में काश्मीर के राजा ललितादित्य ने कन्नौज पर आक्रमण करके यशोवर्मा को पराजित किया था। भवभूति, वाक्यतिराज आदि कवि इस राजा के आश्रय में रहते थे।

यशोवर्मा की रचनायें—

यशोवर्मा की एक कृति 'रामाभ्युदय' संस्कृत साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है। परन्तु यह कृति, जो एक नाटक है, वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। शारदातनय के 'भावप्रकाश' के अनुसार 'रामाभ्युदय' नाटक में ६ अंक थे। उपलब्ध उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इस नाटक का कथानक 'रामायण' के अरण्यकाण्ड की कथा से प्रारम्भ होकर राम के राज्याभिषेक तक रहा होगा।

१३. मुरारि—

मुरारि को कुछ समालोचक काश्मीर और अन्य समालोचक नर्मदा के तट पर स्थित माहिष्मती का निवासी कहते हैं। वे मौद्गल्य के ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम वर्धमानक और माता का नाम तन्तुमती था। उन्होंने किसी गुरुकुल में शिक्षा पाई थी। वे अपने को बाल वाल्मीकि कहते थे। प्राचीन उद्धरणों के आधार पर इनको आठवीं शताब्दी के आरम्भ का कहा जा सकता है।

मुरारि की रचनायें—

मुरारि की केवल एक ही रचना 'अनर्घराघव' उपलब्ध होती है। परन्तु मुरारि के नाम से एक अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ की पाण्डुलिपि 'पाखण्डविखण्डन' प्राप्त हुई है। यह १७४८ शक संवत् की प्रतिलिपि की हुई है। दो अंकों के इस प्रहसन के २२ पृष्ठ उपलब्ध हुये हैं। इनमें भी १६–२० पेज लुप्त हैं। परन्तु समालोचक इसको अन्य किसी मुरारि की रचना मानते हैं।

'अनर्घराघव' सात अंकों का विशाल नाटक है। इसका कथानक 'रामायण' से लिया गया है। विश्वामित्र द्वारा यज्ञरक्षा के निमित्त राम को माँगने की घटना से यह नाटक प्रारम्भ होता है। ताड़कावध, अहिल्या-उद्धार, राम-वनवास, सीता-हरण, बालिवध, सुग्रीव-मित्रता, लंका-अभियान आदि घटनाओं के अनन्तर रावण का वध करके एवं सीता की अग्नि-परीक्षा करके राम पुष्पक विमान पर आरूढ होकर अयोध्या वापिस जाते हैं। यहाँ चारों भाइयों का मिलन होकर राम का राज्याभिषेक होता है।

१४. अनङ्गहर्ष—

अनङ्गहर्ष राजा और कवि दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। वे राजपुत्र थे। पिता

का नाम नरेन्द्रवर्धन था। कवि का मूल नाम मात्रराज (मातृराज या मायुराज) था। अनंगहर्ष इनका विरुद था। ये चेदिमण्डल के राजा थे और इनकी राजधानी माहिष्मती थी। अनंगहर्ष का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवीं का पूर्वार्ध माना गया है।

अनङ्गहर्ष की रचनायें—

अनंगहर्ष की केवल एक ही रचना प्राप्त है—'तापसवत्सराज'। इनकी एक और भी रचना का उल्लेख मिलता है—'उदात्तराघव'। इसका कथानक रामायण' से लिया गया था। परन्तु यह कृति उपलब्ध नहीं है।

'तापसवत्सराज' ६ अंकों का नाटक है। इसमें वत्सराज उदयन की कथा है। उदयन को विषयासक्त देखकर पांचालराज आरुणि उसके राज्य के अनेक भागों पर अधिकार कर लेता है। वासवदत्ता लावणक ग्राम की अग्नि में जल गई है, यह अफवाह उड़ाकर यौगन्धरायण मगध की राजकुमारी पद्मावती का विवाह उदयन से करा देता है। तदनन्तर मगध और अवन्ती की सेनाओं की सहायता से वत्सराज उदयन पांचालराज पर आक्रमण करते हैं तथा उसको पराजित करके कैद कर लेते हैं। वासवदत्ता का भी उदयन से पुनः मिलन होता है।

१५. कुलशेखरवर्मन्—

कुलशेखरवर्मन् दाक्षिणात्य थे। वे राजा और कवि दोनों रूपों में प्रसिद्ध थे। कवि होने के साथ वे कवियों के आश्रयदाता भी थे। वे केरल के राजा थे। केरल में इस नाम के अनेक कवि हुये। परन्तु नाटककार कुलशेखरवर्मन् का समय नवीं शताब्दी ई० का रहा।

कुलशेखरवर्मन् की रचनायें—

कुलशेखरवर्मन् के दो नाटक मिले हैं—'सुभद्राधनञ्जय' और 'तपतीसंवरण'। 'तपतीसंवरण' के आमुख से इनकी एक अन्य कृति 'आश्चर्यमञ्जरी' की भी सूचना मिलती है। परन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

(i) **सुभद्राधनञ्जय**—यह पांच अंकों का नाटक है और कथा 'महाभारत' से ली गई है। अर्जुन के रूप-गुणों की प्रशंसा सुनकर सुभद्रा मुग्ध है। अर्जुन भी उसको चाहते हैं। १२ वर्ष की वनवास की अवधि में अर्जुन द्वारका पहुँचते हैं और रैवतक पर्वत पर यति का रूप रखकर तपस्या करने लगते है। कृष्ण और बलराम उनको आदरसहित अपने घर ले आते हैं। यहाँ कृष्ण की सहमति से गुप्त रूप से सुभद्रा का विवाह अर्जुन से हो जाता है। एक दिन अवसर पाकर वे दोनों रथ पर बैठकर द्वारका से भागकर इन्द्रप्रस्थ चले जाते हैं। यादवों द्वारा इस विवाह को स्वीकृति मिल जाती है।

(ii) **तपतीसंवरण**—यह भी पाँच अंकों का नाटक है और कथा 'महाभारत' से ली गई है। इसमें हस्तिनापुर के राजा संवरण और सूर्य की पुत्री तपती की प्रणयगाथा है। अलक्षित रूप से हस्तिनापुर आई हुई तपती के पदचिह्नों और कर्णाभूषण को देखकर संवरण का हृदय उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह वन में जाकर सूर्य की आराधना करके तपती को प्राप्त करता है। तपती के साथ विलासों में डूबकर राजा अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। इससे देवता रुष्ट होकर तपती को उठाकर ले जाते हैं। विरहपीड़ित राजा तपती को खोजने के लिये निकल जाता है। इससे राज्य में आन्तरिक और बाह्य उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं। राजा राजधानी पहुँचकर उपद्रवों को शान्त करते हैं। देवताओं की कृपा से संवरण को तपती पुनः प्राप्त होती है। वसिष्ठ की कृपा से उनका पुत्र से भी मिलन हो जाता है।

१६. दामोदर मिश्र—

दामोदर मिश्र 'हनूमन्नाटक' की रचना के लिये प्रसिद्ध हैं। किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि इस नाटक की रचना स्वयं हनूमान् ने की थी। इस नाटक के लोकप्रसिद्ध होने पर 'रामायण' का आदर नहीं होगा, इस भय से आशंकित वाल्मीकि के अनुरोध पर हनूमान् ने इसको समुद्र में फेंक दिया। रामेश्वर यात्रा पर गये राजा भोज ने इसको शिलाफलकों पर उत्कीर्ण पाया। इसके सम्पादन का भार दामोदर मिश्र को दिया गया।

'हनूमन्नाटक' के दो संस्करण मिलते हैं। एक तो दामोदर मिश्र का है, जो पूरा संस्कृत में १४ अंकों में है। दूसरा मधुसूदनदास का ९ अंकों का है। यह बहुत बाद का है। दामोदर मिश्र के 'हनूमन्नाटक' का आनन्दवर्धन ने उल्लेख किया है। अतः इसको ८५० ई० से पहले का होना चाहिये।

'हनूमन्नाटक' का कथानक 'रामायण' से लिया गया है। विश्वामित्र द्वारा यज्ञ की रक्षा के लिये दशरथ से राम को माँग लेने की घटना से यह नाटक प्रारम्भ होता है। ताड़का-वध, सीता-विवाह, परशुराम-पराजय, राम-वनवास, सीता-हरण, बालि-वध, सुग्रीव-मित्रता, रावण-वध, सीता-अग्निपरीक्षा आदि घटनाओं के अनन्तर राम पुष्पक पर बैठकर अयोध्या वापिस आते हैं। कुछ समय पश्चात् लोकापवाद के कारण राम सीता को निर्वासित करते हैं।

१७. क्षेमीश्वर—

क्षेमीश्वर कान्यकुब्ज के राजा महीपालदेव के आश्रय में रहते थे। सम्भवतः कर्णाट भी इनके राज्य के अन्तर्गत रहा था। महीपाल का शासन ९००-९४० ई० तक रहा था। अत. क्षेमीश्वर का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दसवीं का पूर्वार्द्ध समझना चाहिये।

क्षेमीश्वर की रचनायें—

क्षेमीश्वर की दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—'चण्डकौशिक' और 'नैषधानन्द'।

इनमें से केवल 'चण्डकौशिक' नाटक ही उपलब्ध है और प्रकाशित हुआ है। पीटर्सन ने बाम्बे सर्कल की संस्कृत पाण्डुलिपियों की रिपोर्ट में 'नैषधानन्द' का उल्लेख किया है।

'चण्डकौशिक' ६ अंकों का नाटक है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। विश्वामित्र को प्रसन्न करने के लिये हरिश्चन्द्र उनको अपना राज्य दान कर देते हैं। दान की दक्षिणा को पूरा करने के लिये वे एक मास का समय माँगते हैं, जो एक लाख सुवर्ण मुद्रा है। राज्य छोड़कर हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व को साथ लेकर वाराणसी जाते हैं। पत्नी और पुत्र को एक उपाध्याय के और स्वयं को एक चाण्डाल के हाथ बेचकर वे दक्षिणा पूरी करते हैं। श्मशान की रक्षा में नियुक्त हरिश्चन्द्र मृत पुत्र को लेकर आई शैव्या से कफन का कम्बल कर के रूप में माँगते हैं। हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा से प्रभावित धर्म स्वयं उपस्थित होकर रोहिताश्व को जीवित कर देते हैं। विश्वामित्र भी हरिश्चन्द्र को अपना राज्य वापिस कर देते हैं। हरिश्चन्द्र अपनी प्रजा के साथ ब्रह्मलोक के अधिकारी होते हैं।

१८. राजशेखर—

संस्कृत कवियों में राजशेखर कवि और काव्यशास्त्री दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं! वे मूल रूप में महाराष्ट्र के निवासी थे। इनके पितामह का नाम अकालजलद, पिता का नाम दौर्दुकि और माता का नाम शीलवती था। इनका कुल यायावर था। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न राजशेखर ने चाहमान कुल की क्षत्रिय कुमारी से विवाह किया था। राजशेखर राजा महेन्द्रपाल और महीपाल के गुरु थे, जो कन्नौज के राजा थे। इनका समय ९०० ई० के लगभग रहा होगा।

राजशेखर की रचनायें—

राजशेखर के नाम से ६ रचनायें प्रसिद्ध हैं। इनमें चार रूपक हैं—'बालरामायण', 'बालभारत', 'कर्पूरमञ्जरी' और 'विद्धसालभञ्जिका'। एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है—'काव्यमीमांसा'। छठे ग्रन्थ के विषय में निश्चय नहीं है। यह 'हरविलास', 'भुवनकोष' या 'रत्नमंजरी' में से कोई हो सकता है। सूक्तिसंग्रहों में राजशेखर के नाम से अनेक पद्य संगृहीत हैं।

(i) **बालरामायण**—यह १० अंकों का विशाल नाटक है। इसका प्रत्येक अंक लगभग एक नाटिका के बराबर है। इसका कथानक 'रामायण' से लिया गया है। इसमें रावण को सीता के आसक्त प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'बालरामायण' में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन है।

(ii) **बालभारत**—इस नाटक के केवल दो अंक उपलब्ध होते हैं। इसमें 'महाभारत' की कथा दी गई है। इस नाटक को 'प्रचण्डपाण्डव' भी कहते हैं। इसमें

द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूत और द्रौपदी के चीरहरण की घटनायें हैं। अन्त में भीम प्रतिज्ञा करता है कि वह दुःशासन के रक्त का पान करेगा, उसके रक्त से द्रौपदी की वेणी बांधेगा और दुर्योधन की जंघा गदा से तोड़ेगा।

(iii) **कर्पूरमञ्जरी**—यह चार अंकों का रूपक है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से सह सट्टक है और सम्पूर्ण प्राकृत में लिखा गया है। भैरवानन्द योगी के मन्त्र प्रभाव से रानी विभ्रमलेखा की मौसेरी बहन कर्पूरमञ्जरी राजा चन्द्रपाल के भवन में आ जाती हैं। कर्पूरमञ्जरी और चन्द्रपाल छिप-छिपकर मिलने लगते हैं। रानी कर्पूरमञ्जरी पर कड़ा पहरा लगवा देती है। अन्त में भैरवानन्द के उद्योग से कर्पूरमञ्जरी और चन्द्रपाल का विवाह हो जाता है।

(iv) **विद्धसालभञ्जिका**—वह चार अंकों की नाटिका है। लाट देश के राजा चन्द्रवर्मा ने अपनी पुत्री मृगांकावली को मृगांकवर्मन् नाम से प्रसिद्ध कर रखा है। उज्जयिनी के राजा विद्याधरमल्ल की पत्नी देवी का चन्द्रवर्मा मामा है। उसने मृगांकवर्मन् को अपने पास बुलाया है। यह कभी-कभी नारी वस्त्रों में भी सज्जित होता है। इस भेद को विद्याधरमल्ल का मन्त्री भागुरायण जानता है। वह मृगांकावली (मृगांकवर्मन्) और राजा की भेंट करा कर इनको प्रणय में आबद्ध करा देता है। एक बार परस्पर के परिहासों से रुष्ट देवी विद्याधरमल्ल से बदला लेने के लिये मृगांकवर्मन् को नारी रूप से सजाकर उसका विवाह राजा से कर देती है। बाद में भेद खुलने पर उसको यह विवाह स्वीकार करना पड़ता है। इसके साथ ही एक अन्य राजकुमारी कुवलयमाला का विवाह भी विद्याधरमल्ल से होता है।

१९. दिङ्नाग—

दिङ्नाग के सम्बन्ध में केवल इतना ही विदित होता है कि वे अरारालपुर के निवासी थे। 'कुन्दमाला' के कुछ संस्करणों में इनका नाम धीरनाग मिलता है। 'नाट्यदर्पण' में 'कुन्दमाला' के लेखक को वीरनाग कहा गया है। मल्लिनाथ दिङ्नाग को मेघदूत के एक श्लोक "दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्" के आधार पर कालिदास का समकालीन बौद्ध विद्वान् बताते हैं। परन्तु 'कुन्दमाला' का लेखक वैदिक आस्थाओं को मानने के कारण बौद्ध नहीं हो सकता। 'कुन्दमाला' की रचना पर निश्चित रूप से 'उत्तररामचरित' का प्रभाव है। अतः दिङ्नाग को भवभूति से उत्तरवर्ती मानना चाहिये। 'कुन्दमाला' का सर्वप्रथम उल्लेख 'नाट्यदर्पण' (११०० ई०) में हुआ है। अतः इनका समय १००० ई० के लगभग का समझा जा सकता है।

दिङ्नाग की रचनायें—

दिङ्नाग' की एक ही कृति उपलब्ध है—'कुन्दमाला'। ६ अंकों के इस नाटक का कथानक 'रामायण' के उत्तरकाण्ड से गृहीत है। राम के आदेश से वन में

परित्यक्त सीता को वाल्मीकि–आश्रय देते हैं। सीता भागीरथी से निवेदन करती है कि सकुशल प्रसव होने पर वह प्रतिदिन कुन्द-पुष्पों की माला अर्पित करेगी। वह सकुशल दो पुत्रों लव-कुश को उत्पन्न करती है। नैमिषारण्य में आयोजित राम के अश्वमेध यज्ञ में वाल्मीकि सीता और लव-कुश के साथ आये हैं। गोमती के तट पर राम सीतारचित कुन्दमाला को देखते हैं। तदनन्तर बावड़ी में वे सीता की परछाई देखते हैं। राजसभा में 'रामायण' का गान करते लव-कुश को राम गोदी में बिठाते हैं। तदनन्तर विदित होता है कि वे सीता से उत्पन्न राम के ही पुत्र हैं। वाल्मीकि और पृथिवी देवी के अनुरोध पर राम, सीता को ग्रहण करते हैं। लक्ष्मण के अनुरोध पर कुश का युवराजपद पर अभिषेक होता है।

—:o:—

परिशिष्ट–२

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

(अ) अधीत संस्कृत नाटक—

१. दूतवाक्यम्—भास—बलदेव आचार्य द्वारा सम्पादित भासनाटकचक्रम् प्रथम भाग से, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी— प्रथम संस्करण

२. कर्णभारम्— वही

३. दूतघटोत्कचम्— वही

४. मध्यमव्यायोग— वही

५. पञ्चरात्रम्— वही

६. उरुभङ्गम्— वही

७ अभिषेकनाटकम्— वही

८. बालचरितम्— वही

९. अविमारकम्—भास—बलदेव आचार्य द्वारा सम्पादित भासनाटकचक्रम् द्वितीय भाग से, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी— प्रथम संस्करण

१०. प्रतिमानाटकम्— वही

११. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्— वही

१२. स्वप्नवासवदत्तम्— वही

१३. चारुदत्तम्— वही

१४. मृच्छकटिकम्—शूद्रक—डा० श्रीनिवास द्वारा सम्पादित साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ (१९७६)।

१५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदास—डा० कृष्णकुमार द्वारा सम्पादित प्रकाश बुक डिपो बरेली (१९७५)।

१६. विक्रमोर्वशीयम्—कालिदास—सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित कालिदास ग्रन्थावली से। अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी द्वारा प्रकाशित (२०१९ वि०) तृतीय संस्करण

१७. मालविकाग्निमित्रम्—कालिदास—पी० डी० शास्त्री द्वारा अनूदित आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली (१९६३)।

१८. मुद्राराक्षस—आर० एस० वलिम्बे द्वारा सम्पादित
१९. देवीचन्द्रगुप्तम्—राघवन् द्वारा सम्पादित शृङ्गारप्रकाश में उद्धृत (१९६३)।
२०. कौमुदीमहोत्सव—रामकृष्ण द्वारा सम्पादित—त्रिवेन्द्रम् (१९१२ ई०)।
२१. पद्मप्राभृतक—डा० मोतीचन्द और डा० वासुदेवशरण द्वारा सम्पादित शृङ्गारहाट से, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय प्राईवेट लिमिटेड बम्बई (१९५९)।
२२. उभयाभिसारिका— वही
२३. धूर्तविटसंवाद— वही
२४. पादताडितक— वही
२५. प्रियदर्शिका—हर्ष—टीकाकार पं० रामचन्द्र मिश्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (१९५५)।
२६. रत्नावली—हर्ष—टीकाकार डा० शिवराज शास्त्री—साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ (१९६८)।
२७. नागानन्द—हर्ष—टीकाकार पं० बलदेव—चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (१९६८)।
२८. वेणीसंहार—भट्टनारायण—टीकाकार डा० शिवराज शास्त्री—साहित्य भण्डार मेरठ (१९७२)।
२९. मत्तविलास—महेन्द्रविक्रम वर्मन्—टीकाकार श्री कपिलदेव गिरि—चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी (१९६६)।
३०. महावीरचरित—भवभूति—टीकाकार वीरराघव—निर्णसागर प्रेस बम्बई (१९२६)।
३१. उत्तररामचरितम्—भवभूति—टीकाकार ब्रह्मानन्द शुक्ल साहित्य भण्डार मेरठ (१९७५)।
३२. मालतीमाधवम्—भवभूति—चन्द्रकला हिन्दी-संस्कृत टीका सहित चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (१९५४)।
३३. आश्चर्यचूडामणि—शक्तिभद्र—टीकाकार पं० रमाकान्त झा—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (१९६६)।
३४. वीणावासवदत्तम्—शक्तिभद्र—जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास (१९३१)।
३५. रामाभ्युदय—यशोवर्मन्—वी० राघवन्कृत सम ओल्ड लॉस्ट राम प्ले़ज में उद्धृत अंश, अन्नामलाई विश्वविद्यालय प्रकाशन (१९६१)।

३६. अनर्घराघव—मुरारि—काव्यमाला सीरीज संख्या ५ (१९३७)।

३७. तापसवत्सराज—अनङ्गहर्ष—टीकाकार डा० देवीदत्त शर्मा—साहित्य भण्डार मेरठ (१९६९)।

३८. सुभद्राधनञ्जय—कुलशेखरवर्मन्—सम्पादक गणपति शास्त्री—त्रिवेन्द्रम् (१९१२)।

३९. तपतीसंवरण—कुलशेखरवर्मन्—सम्पादक गणपति शास्त्री—त्रिवेन्द्रम् (१९११)।

४०. हनूमन्नाटक—दामोदर मिश्र—टीकाकार श्री मोहनदास—क्षेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई (१९६६)।

४१. चण्डकौशिक—क्षेमीश्वर—टीकाकार श्री जगदीश मिश्र—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (१९६५)।

४२. बालरामायण—राजशेखर—जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित (१९१०)।

४३. बालभारत—राजशेखर—टीकाकार श्री हरिदत्त शर्मा—चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (१९६९)।

४४. कर्पूरमञ्जरी—राजशेखर—टीकाकार श्री चुन्नीलाल शुक्ल—साहित्य भण्डार मेरठ (१९७२)।

४५. विद्धसालभञ्जिका—राजशेखर—टीकाकार श्री रमाकान्त त्रिपाठी—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (१९६५)।

४६. कुन्दमाला—दिङ्नाग—टीकाकार श्री चुन्नीलाल शुक्ल—साहित्य भण्डार मेरठ (१९७२)।

(ब) अन्य सन्दर्भ ग्रन्थ—

अग्निपुराण

अत्रिस्मृति

अथर्ववेद

अभिधानचिन्तामणि

अभिनवबूटीदर्पण भाग १–२, श्री रूपलाल वैश्य

अमरकोष—रामाश्रमी टीका सहित

अष्टाङ्गहृदय संहिता

अष्टांगसंग्रहसंहिता

ऋतुसंहार

कलाभवन-संग्रह वाराणसी
कादम्बरी
कामसूत्र–वात्सायन–जयमंगला टीका सहित
काश्यपसंहिता—टीका श्री सत्यपाल
किरातार्जुनीयम्
कुमारसम्भव
कृत्यकल्पतरु
कृत्यरत्नाकर
कौटिल्य अर्थशास्त्र—गणपति शास्त्री टीका सहित
चक्रदत्त—टीका श्री जगदीश्वरप्रसाद त्रिपाठी
तैत्तिरीयसंहिता
द्रव्यगुणविज्ञान—श्री यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य
द्रव्यगुणविज्ञान—आचार्य प्रियव्रतशर्मा भाग १–२
धन्वन्तरिनिघण्टु—टीका श्री नारायण विट्ठल पुरंदरे
धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० पाण्डुरंग वामन आप्टे भाग १–५
नैषधीयचरितम्
पञ्चतन्त्रम्
पद्मपुराण
पतञ्जलिकालीन भारतवर्ष—श्री प्रभुदयाल अग्निहोत्री
पातञ्जल महाभाष्य
प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका—डा० रामजी उपाध्याय
बोधायन धर्मसूत्र
भगवद्गीता
भट्टिकाव्य
भरत–नाट्यशास्त्र
भविष्यपुराण
भविष्योत्तरपुराण
भारतीय वनौषधि भाग १–२, श्री कालीपद विश्वास
भावप्रकाशनिघण्टु—टीका श्री लाला शालिग्राम वैश्य
भावप्रकाशनिघण्टु—टीका श्री विश्वनाथ द्विवेदी
भावप्रकाशनिघण्टु—टीका श्री कृष्णचन्द्र चुनेकर
मत्स्यपुराण

ऐतरेय ब्राह्मण
कथासरित्सागर
मदनपारिजात
मनुस्मृति--कुलूकभट्ट की टीका सहित
महाभारत
मेदिनीकोष
मेघदूत
यशस्तिलकचम्पू
याज्ञवल्क्य स्मृति
यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान—ठाकुर दलजीतसिंह
रघुवंश
राजधर्मकौस्तुभ
राजनिघण्टु
वनौषविचन्द्रोदय भाग १–१०—श्री चन्द्रराज भण्डारी
वनौषधिदर्शिका—श्री ठाकुर बलवन्तसिंह
वनौषधिनिर्दशिका—रामसुशीलसिंह
वसिष्ठ-धर्मसूत्र
वराहपुराण
वर्षक्रियाकौमुदी
वाचस्पत्यम् शब्दकोष
विक्रमांकदेवचरितम्
विष्णु-धर्मसूत्र
विष्णुधर्मोत्तरपुराण
विष्णुपुराण
वृद्धहारीत स्मृति
वैजयन्तीकोष
शब्दकल्पद्रुम
शब्दस्तोममहानिधि
शांखायन गृह्यसूत्र
शालिग्रामनिघण्टु--लाला शालिग्राम वैश्य
शिवदत्तनिघण्टु
शिशुपालवध
संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ–चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा पण्डित तारिणीश झा

सचित्र वनस्पति गुणादर्श–भाग १–२ वैद्य हीरामण मोतीराम जंगले
सन्दिग्घ वनौषधिशास्त्र–भाग १–९ भगीरथ शास्त्री
सुश्रुतसंहिता–डल्हण टीका सहित
स्कन्दपुराण
स्मृतिकौमुदी
स्मृतिचन्द्रिका
हर्षचरितम्
हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
हलायुधकोष
हेमाद्रिकोष

Ahuja, B. S. : Medicinal Plants of Saharanpur.

Blatter, E , : Millard, W. S. and Stern W. : Some Beautiful Indian Plants.

Bare, N. L. : Grasses in India, Pakistan, Burma and Cylon.

Chopra, R N. : Chopra, I. S. : Handa, K. L. and Kapur. L. D. Chopra's Indigenous Drugs af India.

Chopra, R. N. : Chopra, I. S. and Nayar, S. L. : Glossary of Indian Medicinal Plants. Vol. i and ii.

Cowen, D. V. : Flowering Trees and Shrubs.

Dey, K. L. : Indigenous Drugs of India.

Dutt, U. C. : Materia Medica of the Hindus.

Jain, S. K. Medicinal Plants.

Kirtikar, K. R. and Basu, B. D. : Indian Medicinal Plants.

Kunjilal : Forest Flora of the Chakara, Deheradun and Saharanpur.

MC Cann, C : Hundred Beautiful Trees of India.

Maess, N. S. : Ayurvedic Flora Medica.

Nadkarni, A. K. : Indian Materia Medica, Vol. i and ii.

Pal, B. P. : Beautiful Climbers of India.

Parkar, R. N. : Forty Trees Commom in India.

Raghuvir, : Elementary English- Indian Dictionary of Scientific Terms.

Raizada, M. B. : Seth, S. K. : Maheed Khan, M. A. : Trees for Vana Mahetsava.

Randhava, M. S. : Beautiful Trees and Gardens.

Randhava, M. S. : Flowering Trees in India.

Sherif Maeden : Catalogue of Indian Synonyms of the Medicinal Plants.

Tarfrids : Flowering Trees of India.

Watt Gearge : A Dictionary of Economic Products of India.

Willis, J. C. : A Dictionary of the Flowering Plants and Ferns.

परिशिष्ट—३

वनस्पतियों का संस्कृत नाम—अनुक्रमणिका

———

परिशिष्ट--४

वनस्पतियों की हिन्दी-नाम-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट—५

वनस्पतियों की अंग्रेजी नाम अनुक्रमणिका

—:o:—

परिशिष्ट–६

वनस्पतियों की लैटिन नाम अनुक्रमणिका

कुल सहित

Latin Name	Family	Page no.
Abuliton indicum (Linn.) SW	Malvaceae	132
Acasia catechu Willd	Mimosaceae	192
Acorus calamus Linn.	Araceae	320
Adansonia digilata Baobab	Boombacaceae	265
Aegle marmalos Correa	Rutaceae	281
Agaricus campestris Linn.	Agaricaceae	346
Alaeocarpus ganitrus Roxb.	Alaeocarpaceae	310
Albizzia lebbeck Benth	Mimosaceae	344, 345
Albizzia procera Benth	Mimosaceae	344, 345
Allium cepa Linn.	Liliaceae	257
Allium sativum Linn.	Liliaceae	315
Alstonia scholaris R. Br.	Apocynaceae	356
Amomum subulatum Roxb.	Zingiberaceae	128
Androgen muricatus Retz.	Gramineae	127
Anthocephalus cadamba Miq.	Rubiaceae	136
Aquillaria agallocha Roxb.	Thymelaeaceae	96
Areca catechu Linn.	Arecaceae	189
Artemis a vulgaris Linn.	Asteraceae	230
Artocarpus heterophyllus Lamk.	Moraceae	256
Artocarpus integrifolius Linn.	Moraceae	256
Artocarpus lakoocha Roxb.	Moraceae	317
Averrhoa caramboia Linn.	Oxalidaceae	159
Azadirachta indica A. Juss.	Meliaceae	249
Balanites roxburghii Plarch.	Simarubaceae	123
Balsamodendron mukul Hook. ex. Stecks.	Burseraceae	195
Bambusa arundinaceae Willd.	Poaceae	325

Latin Name	Family	Page no.
Bambusa vulgaris	Poaceae	325
Barleria cristata Linn.	Acanthaceae	177
Barleria prionitis Linn.	Acanthaceae	181
Barleria strigosa Willd.	Acanthaceae	188
Barringtonia acutangulata Gaertn. (Linn.)	Lecythidaceae	248
Bassia latifolia Roxb.	Sapotaceae	288
Bassia longifolia Linn.	Sapotaceae	289
Bauhimia purpurea Linn.	Ceasalpiniaceae	164
Bauhinia tomentosa Linn.	Ceasalpiniaceae	164
Bauhinia variegata Linn.	Ceasalpiniaceae	164
Benincasa cerifera Savi	Cucurbitaceae	185
Berberis aristata DC.	Berberidaceae	309
Betula utilis D. Don.	Betulaceae	285
Blumea balsamifera DC,	Asteraceae	157
Bombax malabaricum DC.	Bombacaceae	341
Borassus flabelifer Linn.	Palmae	222
Boswellia serrata Roxb. ex. Cole Br.	Burseraceae	363
Brassica campestris Linn	Brassicaceae	361
Buchanania latifolia Roxb,	Anacardiaceae	271
Butea frondosa Roxb.	Fabaceae	258
Butea monosperma Taub.	Fabaceae	258
Calamus tenuis Roxb	Arecaceae	328
Callicarpa marcophylla Vahl	Verbanaceae	269
Calotropis gigantea R. Br.	Asclepiadaceae	102
Calatropis procera R. Br.	Asclepiadaceae	102
Carthamus tinctorius Linn.	Asteraceae	181
Carum carvi Linn.	Apiaceae	214
Cassia fistula Linn.	Ceasalpiniaceae	121
Cedrus deodara Loud.	Pinaceae	236
Ceratophyllum demursum Linn.	Ceratophyllaceae	351
Cicca acida Linn.	Euphorbiaceae	313

Latin Name	Family	Page no.
Echinochloa frumentacea Link.	Gramineae	355
Eichhornia crassipes Solms.	Pontaderiaceae	176
Elaeocarps gonitrus Roxb.	Elaeocarpaceae	355
Elettaria cardamomum Maton.	Zingiberaceae	129
Emblica officinalis Gaertn.	Euphorbiaceae	114
Eragrostis cynosuroides Beauv.	Gramineae	237
Erythrina indica Lamk.	Papilionaceae	263
Eugenia aromaticus Kuntze	Myrtaceae	311
Eugenia heyneana Wall.	Myrtaceae	209
Eugenia jambolana Lam.	Myrtaceae	209
Feronia elephantum Correa	Rutaceae	142
Ferula Foetida Bunge Regel.	Anethaceae	370
Ferula narthex Boiss.	Anethaceae	370
Fieus arnottiana Linn.	Moraeeae	191
Ficus benghalensis Linn.	Moraceae	191, 323
Ficus glomerata Roxb.	Moraceae	125, 191
Ficus infectoria Roxb.	Moraceae	191
Ficus religiosa Linn.	Moraceae	111, 191
Flacourtia ramontchi L. Herit.	Flacourtiaceae	331
Garcinia morela Desr.	Clansenaceae	217
Garcinia xanthochymus Linn.	Clansenaceae	218
Gentiana kurroo Royle.	Gentianaceae	155
Gloriosa superba Linn.	Liliaceae	316
Gmelina arborea Linn.	Verbanaceae	168
Gossypium herbaceum Linn.	Malvaceae	166
Hibiscus rosa-sinensis.	Malvaceae	207
Hiptage madablota Gaertn.	Malpighiaceae	295
Holarrhena antidysenerica Wall.	Apocynaceae	173
Hordeum vulgare Linn.	Gramineae	306
Hygroryza aristata Nees.	Gramineae	252
Imperata cylindrica Beauv.	Gramineac	126
Ionidium suffroticosum Ging.	Violaceae	157

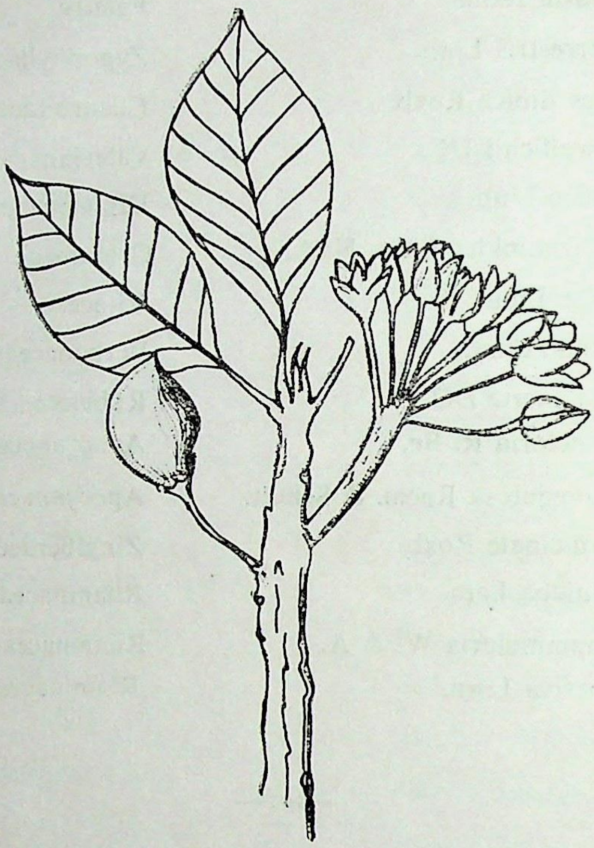
Latin Name	Family	Page no.
Jasminum engu Stifolium.	Oleaceae	242
Jasminum arborescens Roxb.	Oleaceae	242
Jasminum auriculatum Vahl.	Oleaceae	307
Jasminum flexile Vahl.	Oleaceae	297
Jasminum grandiflorum Linn.	Oleaceae	212, 298
Jasminum humile Linn.	Oleaceae	308
Jasminum multiflorum Andr.	Oleaceae	174
Jasminum pubescens Willd.	Oleaceae	174
Jasminum sambac Ait.	Oleaceae	292
Madhuca indica Gmel.	Sapotaceae	288
Majorana hortensis Moench.	Lamiaceae	291
Mallotus philipiensis Muell-Arg.	Euphorbiaceae	150
Mangifera indica Linn.	Anacardiaceae	115
Marsdenia tenacissima W. & A.	Asclepiadaceae	304
Mesua ferrea Linn.	Clansenaceae	243
Michelia champaka Linn.	Magnoliaceae	203
Mimusops elengi Linn.	Sapotaceae	272
Momordica charantia Linn.	Cucurbitaceae	165
Morigna oleifera Lamk.	Moringaceae	352
Morlnga pterygosperma Gaertn,	Moringaceae	352
Mucuna pruriens Beker.	Fabaceae	113
Musa sapientum Linn.	Musaceae	138
Nardostachys jatamansi DC.	Valerianaeeae	277
Nelumbo mucifera Gaertn.	Nymphacaceae	143
Nelumbium speciosum Willd.	Nymphacaceae	143
Nerium indicum Mill.	Apocyanaceae	153
Nerium odorum Soland.	Apocyanaceae	153
Nigella sativa Linn.	Ranunculaceae	214
Nyctanthes arbor-tristis Linn.	Oleaceae	349
Nymphaea alba Linn.	Nymphacaceae	143
Ocimum kilimandscharicum.	Labiatae	157
Operaculina turpenthum Linn.	Convolvulaceae	353
Origanum majorana Linn.	Lamiaceae	291

Latin Name	Family	Page no.
Oryza sativa Linn.	Gramineae	161, 216, 340
Ougeinia dalbergioides Benth.	Leguminosae	224
Pandanus odoratissimus Roxb.	Pandanaceae	186
Pandanus soland ex. Parkinson.	Pandanaceae	186
Paris polyphylla Smith.	Lilliaceae	320
Pedalium murex Linn.	Pedaliaceae	196
Pentapetus phoenicea Linn.	Sterculaceae	276
Phasesolus mungo Linn.	Leguminosae	299
Phoenix palundosa Roxb.	Palmae	372
Phoenix sylvestris Roxb.	Palmae	193
Phyllanthus emblica Linn.	Euphorbiaceae	114
Pinus longifolia Roxb.	Pinaceae	358
Pinus roxburghii Sargent.	Pinaceae.	358
Piper betle Linn.	Piperaceae	220
Piper chaba Hunter.	Piperaceae	134
Piper cubeba Linn,	Piperaceae	135
Piper nigrum Linn.	Piperaceae	290
Pisum sativum Linn.	Fabaceae	162
Polyalthia longifolia Benth. & Hook.	Annonaceae	104
Polygonum aviculare Linn.	Polygonaceae	198
Pongamia glabra Vent.	Hamiaceae	151
Pongamia Pinnata Linn.	Hamiaceae	151
Premna latifolia Roxb.	Verbenaceae	100
Prosopis spicigera Linn.	Mimosaceae	334
Pterocarpus marsupium Roxb.	Leguminosae	112
Pterocarpus santalinus Linn.	Leguminosae	199
Pterospermum acerifolium Willd.	Sterculiaceae	156
Pterospermum suberifolium Willd.	Sterculiaceae	300
Punica granatum Linn.	Punicaceae	233
Raphanus sativus Linn.	Cruciferae	305
Ricinus communis Linn.	Euphorbiaceae	131
Rosa moschata Herrm.	Rosaceae	329

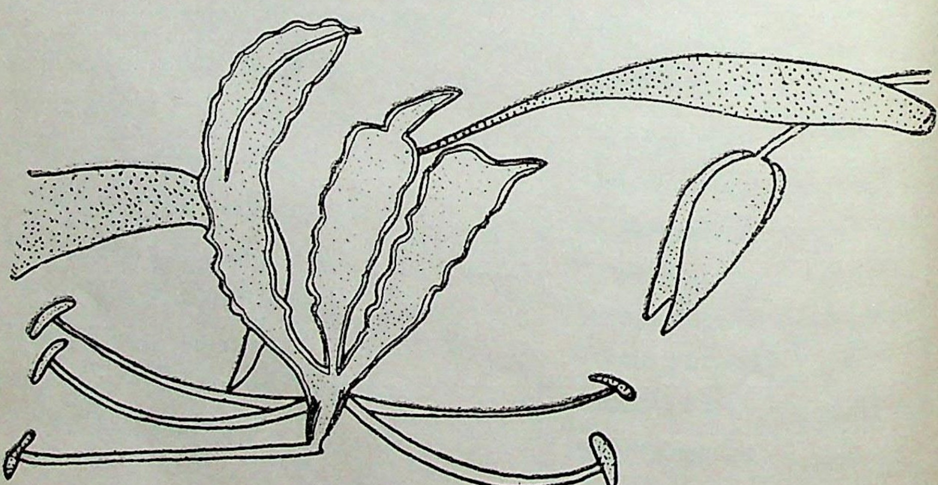
La:in Name	Family	Page no.
Rosa centifolia Linn.	Rosaceae	333
Rotula aquatica Lour.	Boraginaceae	109
Rubia cordifolia Linn.	Rubiaceae	187
Saccharum arundinaceum Retz.	Poaceae	336
Saccharum munja Roxb.	Gramineae	301, 336
Saccharum officinarium Linn.	Gramineae	122
Saccharum spontaneum Linn.	Gramineae	169
Salix caprea Linn.	Saliaceae	322
Salmalia malabarica DC.	Bombacaceae	341
Santalum album Linn.	Santalanaceae	199
Saraca indica Linn.	Ceasalpiniaceae	104
Saxifraga ligulata Wall.	Saxifragaceae	109
Scirpus kysoor Roxb.	Cyperaceae	163
Semecarpus anacardium Linn.	Anacardiaceae	284
Sesmamum indicum Linn.	Pedaliaceae	226
Sesbania aegyptica Poir.	Fabaceae	210
Shorea robusta Gaertn.	Dipterccarpaceae	338
Spondias mangifera Willd.	Anacardiaceae	120
Sterospermum suaveolens DC.	Bignoniaceae	261
Strychnos potatorum Linn.	Loganiaceae	253
Symplocos crataegoides Buch-Ham.	Symplocaceae	318
Symplccos recemosa Roxb.	Symplocaceae	318
Tamarindus indica Linn.	Leguminosae	225
Tectona grandis Linn.	Verbenaceae	337
Terminalia arjuna W. & A.	Combrataceae	103
Terminalia belerica Roxb.	Cambrataceae	278
Terminalia chebula Retz.	Cambrataceae	368
Termlnalia citrina Roxb.	Combrataceae	368
Terminalia Tametosa W. & A.	Combrataceae	112
Thevetia neriifolia Juss.	Apocyanaceae	153

Latin Name	Family	Page no.
Tribulus terrestris Linn.	Zygophyllaceae	196
Tricosanthes dioica Roxb.	Cucurbitaceae	254
Valeriana wallichii DC.	Valerianaceae	275
Valeria indica Linn.	Dipterecarpaceae	360
Vetiveria Zizanioides Linn. Nash.	Gramineae	127
Vitis vinifora Linn.	Vitaceae	238
Vitex negundo Linn.	Verbanaceae	365
Wendlandia exerta DC.	Rubiaceae	222
Wrightia tinctoria R. Br.	Apocyanaceae	173
Wrightia tomentosa Roem. & Schult.	Apocyanaceae	173
Zingiber officinale Roxb.	Zingiberaceae	348
Zizyphus jujuba Lam.	Rhamnaceae	274, 275
Zizyphus nummularia W. & A.	Rhamnaceae	275
Zizyphus sativa Linn.	Rhamnaceae	275

—:o:—



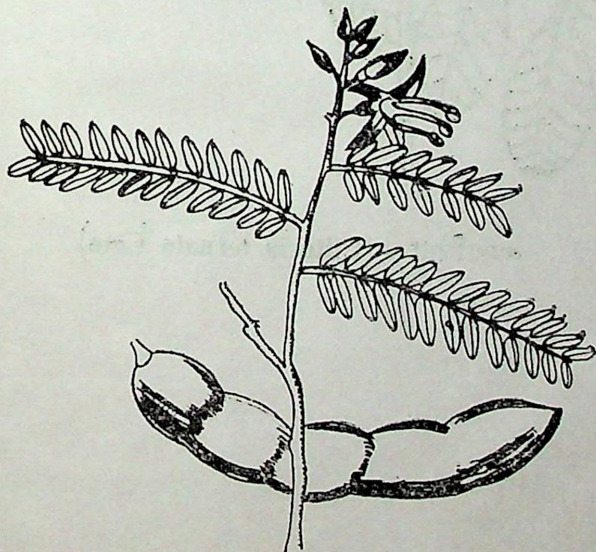
मधूक—(Madhuca latifolia Roxb)



लांगली (Gloriosa superba Linn)



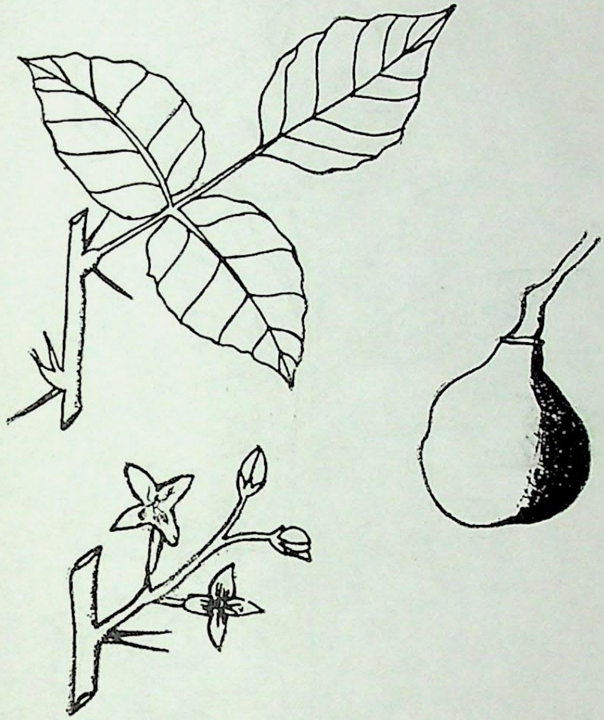
वट—(Ficus bengalensis Linn)



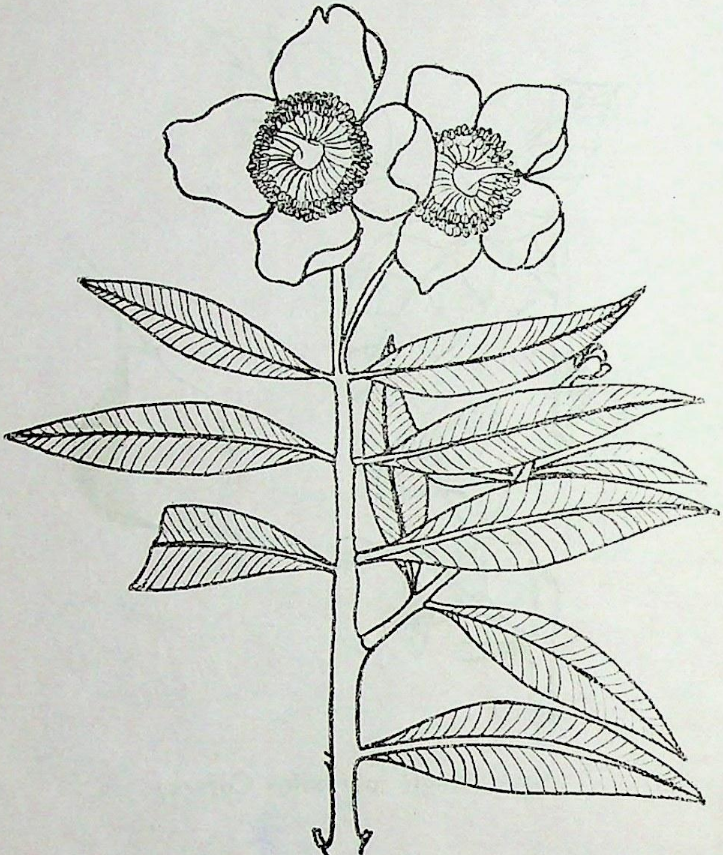
तिन्तिड (Tamarindus Indica Linn)



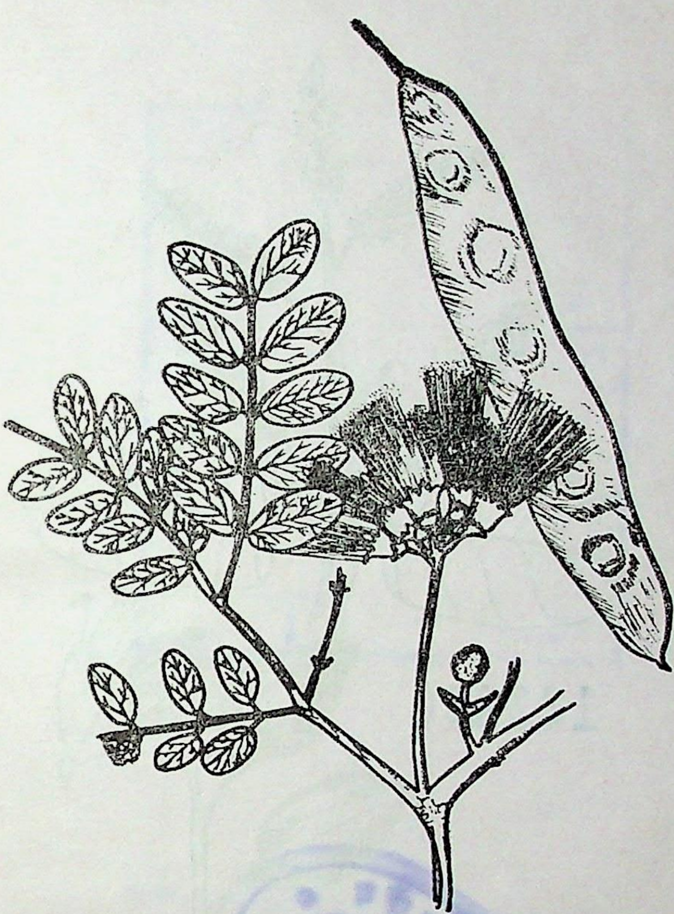
अपराजिता—(Clitoria ternata Linn)



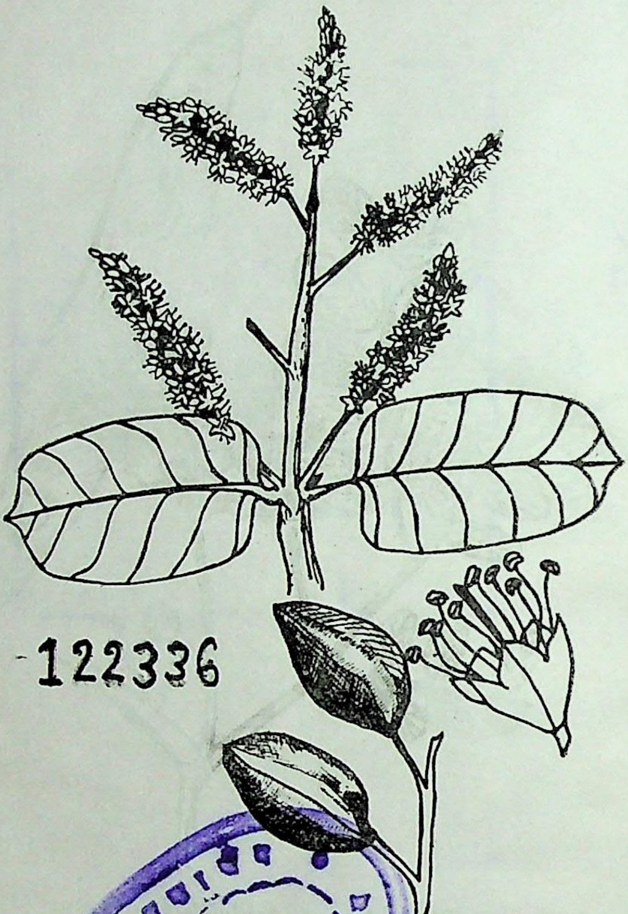
बिल्व (**Aegle marmalos Correa**)



नागकेसर (**Mesua ferrea Linn**)



शिरीष (Albezzia lebbeck Benth)



अर्जुन—(Terminalia Arjuna W&A)